

# श्रम संबंध और सामाजिक सुरक्षा एक संकलन

संपादक: लोकेश



**ROSA  
LUXEMBURG  
STIFTUNG**  
SOUTH ASIA

BUILDING A WIDER HORIZON  
**CEC**  
WITH LABOUR



# श्रम संबंध और सामाजिक सुरक्षा

एक संकलन

संपादक – लोकेश



सेंटर फॉर एजुकेशन एंड कम्युनिकेशन  
रोजा लक्समबर्ग स्टिफ्टिंग (आरएलएस)

**ISBN 81-88160-29-6**

**Publisher**

**Centre for Education and Communication (CEC)**

173-A, Khirki Village, Malviya Nagar, New Delhi- 110017

Phone- +91 11 29541858 +91 11 29541841

Email: [cec@cec-india.org](mailto:cec@cec-india.org)

Website: [www.cec-india.org](http://www.cec-india.org)

December 2019

This anthology is being published with the financial assistance of Rosa Luxemburg Stiftung- South Asia, with funds of the Federal Ministry for Economic Cooperation and Development of the Federal Republic of Germany

The content of the publication is the sole responsibility of the authors and does not necessarily reflect the position of either the Centre for Education and Communication (CEC) or Rosa Luxemburg Stiftung (RLS) – South Asia.

**Centre for Education and Communication (CEC)** is a labour resource centre. Since its inception in 1983, CEC has been promoting the rights, dignity and livelihoods of small producers, marginal farmers and communities dependent on labour. Its activities are strongly informed by the principles of gender rights, dalit rights and social inclusion. CEC organises action research, executes field intervention and provides support for the development and execution of key ideas, concepts and frameworks that improve the capacities and lives of labouring communities.

**Rosa Luxemburg Stiftung (RLS)** is a Germany-based foundation working in South Asia and other parts of the world on the subjects of critical social analysis and civic education. It promotes a sovereign, socialist, secular, and democratic social order, and aims to present members of society and decision-makers with alternative approaches to such an order. Research organisations, groups working for social emancipation, and social activists are supported in their initiatives to develop models that have the potential to deliver social and economic justice.

Cover Design – Geeta Bisht

**@ Centre for Education and Communication**

Materials from this publication can be used but with acknowledgement only



## About the Anthology

This anthology is the bi-product of a National Consultation organised by the Centre for Education and Communication (CEC) and Social Security Now (SSN), with the support of Rosa Luxemburg Stiftung (RLS) – South Asia, in November 2019, on the idea of Universal Social Security. More than 80 participants representing diverse social groups, workers' associations, central trade unions, organisations of fish workers, feminist activists, Dalit rights activists, academics and others participated in the program and delved on the various dimensions of the question.

It was decided to publish the present anthology, as the participants in the National Consultation felt that there is an urgent need for such literature in the Hindi language, to take forward the conversation on universal social security to a wider public.

Except two, all the articles were commissioned by CEC for the anthology. Statements by various organisations on numerous drafts of the Code on Social Security and Welfare Bill are also being published in the anthology.

### List of articles published in the anthology:

1. Social Security: Prospects and Challenges, **Ms. Lokesh**
2. Duality of Labour and Social Security in India, **J John**
3. A Beveridge Plan for India? Social Insurance and the Making of the "Formal Sector", **Ravi Ahuja**
4. The Historical Roots of Social Security Discourse: Prospects for Future, **Prabhu Mohapatra**
5. Employment and Social Security: A Few Thoughts in the Indian Context, **Babu P Remesh**
6. Financing Social Security, **Biswajit Dhar**
7. Recent Social Security Initiatives in India, **Jean Dreeze and Reetika Kheda**
8. Social Security Schemes: Contestation between the State and the Public, **Vineet Tiwari**
9. Aspiring for a Just Social Security Law for India, **Babu Mathew and Kavya Bharadkar**
10. Migration and Social Security, **R S Tiwari**
11. Interview with Amarjeet Kaur, General Secretary, All India Trade Union Congress

### List of organisational statements published in the anthology:

- a) Bhartiya Mazdoor Sangh (BMS)
- b) Centre of Indian Trade Unions (CITU)
- c) New Trade Union Initiative (NTUI)
- d) Delhi Asangathit Nirman Majdoor Union (DANMU)
- e) Mahila Kisan Adhikaar Manch (MAKAAM)

This page intentionally left blank

## लेखक परिचय

लोकेश सेंटर फॉर एजुकेशन एंड कम्युनिकेशन की एग्जीक्यूटिव डायरेक्टर हैं।

जे जॉन एक स्वतन्त्र शोधकर्ता, लेखक एवं कार्यकर्ता हैं और लेबर फाइल पत्रिका के संपादक एवं अशोका फेलो हैं।

प्रोफेसर रवि आहूजा श्रम इतिहासकार हैं और जर्मनी स्थित जॉर्ज-अगस्त-यूनिवर्सिटी गौटिंगेन में अध्यापन करते हैं और गौटिंगेन यूनिवर्सिटी के सेंटर फॉर मॉडर्न इंडियन स्टडीज के संस्थापक डायरेक्टर रहे हैं।

प्रोफेसर प्रभु महापात्रा श्रम इतिहासकार हैं और दिल्ली विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में अध्यापक हैं।

प्रोफेसर बाबु पी रमेश अर्थशास्त्री हैं और आंबेडकर विश्वविद्यालय में डेवलपमेंट स्टडीज विभाग के डीन हैं।

प्रोफेसर विश्वजीत धर अर्थशास्त्री हैं और जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में सेंटर फॉर इकनोमिक स्टडीज एंड प्लानिंग विभाग में अध्यापक हैं।

प्रोफेसर रीतिका खेड़ा अर्थशास्त्री हैं और आईआईएम, अहमदाबाद में अध्यापक हैं।

प्रोफेसर ज्यां ट्रेज जाने माने अर्थशास्त्री हैं और रांची विश्वविद्यालय में विजिटिंग फैकल्टी हैं।

विनीत तिवारी जोशी-अधिकारी इंस्टिट्यूट से जुड़े हुए हैं।

प्रोफेसर बाबू मैथ्यू कानूनी विशेषज्ञ हैं और बैंगलोर के नेशनल लॉ स्कूल ऑफ इंडिया यूनिवर्सिटी में विजिटिंग फैकल्टी हैं।

काव्या भारद्दकर सेंटर फॉर लेबर स्टडीज, नेशनल लॉ स्कूल ऑफ इंडिया यूनिवर्सिटी, बैंगलोर में नीति विश्लेषक और शोधकर्ता हैं।

डॉक्टर आर एस तिवारी सोशल सिक्यूरिटी नाउ के संस्थापक सदस्य हैं और रिटायर्ड श्रम आयुक्त हैं।

अमरजीत कौर आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस की जनरल सेक्रेटरी हैं।

## साभार

इन लेखों का अनुवाद कर पुनः प्रकाशन की अनुमति के लिए  
निम्न प्रकाशन एवं लेखकों का विशेष साभारः

ज्यां द्रेज और रीतिका खेड़ा, "रीसेंट सोशल सिक्योरिटी इनिशिएटिव्स इन  
इंडिया", *वर्ल्ड डेवलपमेंट*, वॉल्यूम 98, पृष्ठ 555–572, 2017

रवि आहुजा, "ऐ बेवेरिज प्लान फॉर इंडिया? सोशल इनश्योरेंस एंड  
द मेकिंग ऑफ द "फॉर्मल सेक्टर"", *इंटरनेशनल रिव्यू ऑफ सोशल हिस्ट्री*,  
वॉल्यूम 64, संख्या 2, 12 जुलाई 2019

## Acknowledgement

Grateful acknowledgement is made to the following authors and journals for  
permission to translate & publish in Hindi, previously published material in English:

Jean Dreeze and Reetika Kheda, "Recent Social Security Initiatives in India"  
in *World Development* Vol. 98, pp. 555–572, 2017

Ravi Ahuja, "A Beveridge Plan for India? Social Insurance and the Making of the  
"Formal Sector"", in *International Review of Social History*,  
Volume 64, Issue 2, 12 July, 2019

## विषयसूची

किताब के बारे में  
लेखक परिचय  
साभार

|  |     |
|--|-----|
| <b>प्रस्तावना:</b> सामाजिक सुरक्षा: संभावनायें और चुनौतियाँ                                      |     |
| — लोकेश .....  | 11  |
| अध्याय 1. भारत में सामाजिक सुरक्षा और श्रम की द्वैधता  |     |
| — जे जॉन .....   | 17  |
| अध्याय 2. भारत के लिए बेवरिज योजना? सामाजिक बीमा और औपचारिक क्षेत्र का निर्माण — रवि आहूजा ..... | 28  |
| अध्याय 3. सामाजिक सुरक्षा के विचार की ऐतिहासिक जड़ें: भविष्य की संभावनाएं                        |     |
| — प्रभु महापात्रा .....  | 68  |
| अध्याय 4. रोजगार एवं सामाजिक सुरक्षा: भारतीय संदर्भ में कुछ महत्वपूर्ण चिंताएं                   |     |
| — बाबू पी. रमेश .....  | 74  |
| अध्याय 5. सामाजिक सुरक्षा और वित्तीय संसाधन का सवाल  |     |
| — विश्वजीत धर .....  | 78  |
| अध्याय 6. भारत में सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में ताजा प्रयास                                    |     |
| — ज्यॉं ट्रेज, रीतिका खेड़ा .....  | 82  |
| अध्याय 7. सामाजिक सुरक्षा योजनायें और राज्य व जनता की रस्साकशी                                   |     |
| — विनीत तिवारी .....   | 124 |
| अध्याय 8. भारत में न्यायपूर्ण सामाजिक सुरक्षा कानून की आकांक्षा                                  |     |
| — बाबू मैथ्यू और काव्या भारदकर .....   | 128 |
| अध्याय 9. माइग्रेशन की अवधारणा और प्रवासियों के अधिकार   |     |
| — आर.एस. तिवारी .....  | 140 |
| अध्याय 10. श्रम और सामाजिक सुरक्षा (इंटरव्यू)  |     |
| — अमरजीत कौर .....   | 143 |

## परिशिष्ट

सोशल सिक्वोरिटी कोड पर संगठनों का वक्तव्य:

|  |     |
|--|-----|
| क. भारतीय मजदूर संघ (बीएमएस) .....                   | 154 |
| ख. सेंटर ऑफ इंडियन ट्रेड यूनियन्स (सीटू) .....       | 156 |
| ग. न्यू ट्रेड यूनियन इनिशिएटिव (एनटीयूआई) .....      | 164 |
| घ. दिल्ली असंगठित निर्माण मजदूर यूनियन (दानमु) ..... | 170 |
| ड. महिला किसान अधिकार मंच (मकाम).....                | 174 |

This page intentionally left blank

# सामाजिक सुरक्षा: संभावनायें और चुनौतियां

लोकेश

हाल ही में जाने-माने विद्वान यान ब्रेमन की एक पुस्तक आई है, जिसका नाम ही अपने आप में काफी दिलचस्प है — 'इक्कीसवीं सदी में सामाजिक सवाल'। पुस्तक की शुरुआत में ही ब्रेमन बताते हैं कि एक समय था — जब सोचा गया था कि सामाजिक सवाल का अब समाधान कर दिया गया है। लेकिन यह दावा अस्थायी ही साबित हुआ। इक्कीसवीं सदी की शुरुआत में आज फिर से सामाजिक सवाल प्रखर रूप से खड़ा है और उसके समाधान सूत्र पर ही मानव जाति का भविष्य निर्भर करता है।

ब्रेमन अकेले नहीं हैं। एकाएक धीमी होती गयी विश्व अर्थनीति की गति, विकराल असमानता और रोजगारहीनता आज समूची दुनिया की अर्थनीतियों को अपने आगोश में लिए हुए हैं। सप्लाई साइड इकोनॉमिक्स का सारा पैतरा एक के बाद एक नाकाम होते हुए दिख रहा है। यहाँ तक कि विश्व बैंक और आईएमएफ जैसी संस्थाओं द्वारा प्रकाशित शोध पत्रों में भी कहा जाने लगा है कि शायद लगातार बढ़ती हुई आर्थिक प्रगति का पुराना मॉडल अब छोड़ने का समय आ गया है, शायद आने वाले दिनों में भी विश्व अर्थनीति सभी बेरोजगारों को काम दिलाने के लिए पर्याप्त रोजगार नहीं निकाल पायेगी और इस स्थिति के चलते राज्य को अर्थनीति में हस्तक्षेप करने की जरूरत है।

अर्थनीति संबंधी इन चिंताओं के साथ-साथ कदम मिलाते हुए सामाजिक सुरक्षा के कई सारे मॉडल भी पेश किए जाने लगे हैं। आर्थिक विकास के वैकल्पिक तरीके के रूप में भी सामाजिक सुरक्षा को देखा जा रहा है। यूनिवर्सल बेसिक इनकम से लेकर कैश ट्रान्सफर तक — कई नए मॉडल पेश किये गए हैं<sup>2</sup>। भारत भी इस बहस से अछूता नहीं है। कुछ समय पहले भारत के नीति आयोग ने यूनिवर्सल बेसिक इनकम के मॉडल का संज्ञान लिया था और देश में इसके कार्यान्वयन के बारे में चर्चा भी हुई थी<sup>3</sup>। हाल के सालों में देश में सामाजिक सुरक्षा कानून संबंधी कई मसौदे भी आये हैं और देश भर में सामाजिक सुरक्षा को लेकर बातचीत चल पड़ी है।

इस संकलन में भारतीय सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था के कई आयामों को लेकर विस्तृत बातचीत की गयी है। एकाधिक लेखों में दर्शाया गया है कि किस तरह भारत की ज्यादातर मेहनतकश जनता के पास आज भी पर्याप्त सामाजिक सुरक्षा उपलब्ध नहीं है। सिर्फ संगठित क्षेत्र के कामगारों के लिए ही कुछ हद तक पर्याप्त सामाजिक सुरक्षा उपलब्ध है — जो कि देश की कुल श्रम-शक्ति का मात्र 6 फीसदी हिस्सा है! यानि 90 फीसदी से भी ज्यादा कामगारों के पास कोई भी कारगर सामाजिक सुरक्षा उपलब्ध नहीं है। असंगठित क्षेत्र में हमेशा से ही स्कीम या योजना के रूप में ही सामाजिक सुरक्षा के सवाल को सोचा जाता रहा है जो ज्यादातर मेहनतकशों की जरूरतों को पूर्ण करने के लिए नाकाफी रहा है।

अतः सामाजिक सुरक्षा की इस दोहरी व्यवस्था के बारे में विस्तृत बातचीत की जरूरत है। इस संकलन के कई लेखों में दर्शाया गया है कि भारतीय अर्थनीति शुरू से ही दोहरे चरित्र की रही है, जिसकी शुरुआत औपनिवेशिक काल में हुई थी। 1890

के दशक में हिंदुस्तान में पहली बार मजदूरों को राहत देने के लिए कुछ श्रमिक कानून लाये गए। मुंबई के कपड़ा उद्योग में उसकी शुरुआत हुई। दो विश्व युद्ध और खासतौर पर दूसरे विश्व युद्ध के अंत तक सामाजिक सुरक्षा के सवाल पर एक भूमंडलीय बहस चल पड़ी थी। खास तौर पर ब्रिटेन में लिबरल अर्थशास्त्री विलियम बेवेरिज की एक रिपोर्ट आने के बाद यह बहस और तेज हो गई। दिलचस्प है कि भारत और ब्रिटेन — दोनों ही देशों में इसी बेवेरिज रिपोर्ट के आधार पर सामाजिक सुरक्षा संबंधी बहस ने तूल पकड़ा, लेकिन अंत तक दोनों के परिणाम अलग अलग निकले। ब्रिटेन में सार्वभौमिक सामाजिक सुरक्षा लागू की गयी लेकिन भारत में सिर्फ सीमित एवं नियोग निर्भर सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था बनाई गई। स्वयं बेवेरिज की ही अगर बात की जाये तो वो ब्रिटेन के साथ-साथ हिंदुस्तान में भी सामाजिक सुरक्षा सार्वजनीन रूप से लागू करवाना चाहते थे। लेकिन उनका यह सपना पूरा नहीं हो पाया।

भारत और ब्रिटेन ने सामाजिक सुरक्षा को लेकर जो दो अलग-अलग रास्ते तय किये — उसका क्या कारण रहा — इस संबंध में आज भी विद्वानों के बीच में चर्चा जारी है। रवि आहूजा ने अपने लेख में दिखाया है कि किस तरह इंग्लैंड की सामाजिक सुरक्षा संबंधी बहसों ने भारतीय बहसों को भी प्रभावित किया, लेकिन अंत में आजाद भारत में सामाजिक सुरक्षा का जो स्वरूप सामने उभर कर आया, वह भारत की विशिष्ट परिस्थितियों से तय हुआ। जे जॉन ने अपने लेख में यह तर्क दिया है कि दोनों देशों में सामाजिक सुरक्षा का यह फासला औपनिवेशिक धोखाधड़ी के कारण हुआ। फिर भी एक सवाल आता है कि आखिर हिन्दुस्तानी शासकों ने क्यों इस सीमित सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था को स्वीकार किया? इस सन्दर्भ में यह बात माननी ही पड़ेगी कि भारतीय शासकों में 'विकासवादी' अवधारणा का वर्चस्व शुरू से ही बना हुआ है, जिसके तहत संपदाओं को बढ़ाने के सवाल को पहली प्राथमिकता दी जाती रही है, न कि उनके वितरण के सवाल को। यह तर्क आता है कि पूंजीवादी विकास के साथ धीरे-धीरे जैसे ही संपदाएँ सम्पदाएँ बढ़ने लगेगी, तभी उनका वितरण का सवाल भी प्रासंगिक बनता जाएगा, उससे पहले नहीं।

मजेदार बात यह है कि संपदाओं की कमी संबंधी इन तर्कों में दरअसल कोई सच्चाई नहीं है, क्योंकि 1940 के दशक का ब्रिटेन भी — जब वहां सार्वभौमिक सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था लाई गई — एक सम्पूर्ण रूप से युद्ध-विध्वस्त देश था; जर्मन हवाई हमलों के चलते पूरे देश का तंत्र लगभग चूर हो चुका था। लेकिन इसके बावजूद भी वहां सार्वभौमिक सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था लाई गई।

भारत और ब्रिटेन में भिन्न-भिन्न सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था की शुरुआत की कहानी जो भी हो, यह आज एक हकीकत है कि रोजगार आश्रित सामाजिक सुरक्षा की इस व्यवस्था ने देश के ट्रेड यूनियन आन्दोलन को भी गहरे रूप से प्रभावित किया है। मजदूरों के एक सीमित तबके के लिए सामाजिक सुरक्षा और बाकियों के लिए ज्यादा से ज्यादा कुछ स्कीम — इस दोहरी सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था से देश के ट्रेड यूनियन आन्दोलन को हमेशा से ही जूझना पड़ा है और रणनीतिक बातचीतों में इसका हमेशा से प्रभाव देखा जा सकता है। एक शिकायत यह भी आती रही है कि ज्यादातर ट्रेड यूनियन संगठित



क्षेत्र में ही केन्द्रित हैं और असंगठित क्षेत्र में सामाजिक सुरक्षा के सवाल को लेकर उनके अन्दर ज्यादा रुचि नहीं रही है, और सामाजिक सुरक्षा के सवाल पर उनकी रणनीति भी दोहरी दिखाई देती है। यह भी कहा जाता है कि सामाजिक सुरक्षा की दोहरी व्यवस्था मजदूर एकता कायम होने में खलल डालती रही हैं और इस दोहरी व्यवस्था का खात्मा होना ही चाहिए। दूसरी तरफ यह तर्क भी दिया जाता है कि भले ही उपयुक्त सामाजिक सुरक्षा संगठित क्षेत्र तक ही सीमित हो, लेकिन इससे कम से कम असंगठित क्षेत्र के मजदूरों के सामने भी उम्मीदों का एक मानक खड़ा होता है जिसे पाने के लिए संघर्ष का लक्ष्य तय होता है।

वरिष्ठ ट्रेड यूनियन कार्यकर्ता अमरजीत कौर के साथ हुई बातचीत पर आधारित लेख में यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि किस तरह भारतीय मजदूर आन्दोलन सामाजिक सुरक्षा के सवाल को लेकर लड़ाई लड़ता आया है और स्थानीय परिस्थितियों के हिसाब से सामाजिक सुरक्षा के अलग अलग मॉडल विकसित करने की कोशिश की गयी है। जिन क्षेत्रों में मजदूर-मालिक संबंधों का आंकलन आसान नहीं रहा, वहां वेलफेयर बोर्ड बनाने का मॉडल उभरा। वेलफेयर बोर्ड असंगठित मजदूरों की सामाजिक सुरक्षा संबंधी जरूरतों को कुछ हद तक तो पूरा करता है, लेकिन दोहरी सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था को ध्वस्त करने का रास्ता इसमें नहीं दिखता। सच्चाई यह भी है कि हाल के वर्षों में जिस तरह उपस्थित सामाजिक सुरक्षा संबंधी व्यवस्था को हटाकर एक नई व्यवस्था कायम करने की बात हुई है, उसमें भी अस्पष्टताएं बनी हुई हैं। उदाहरण के लिए – कुछ समय पहले प्रस्तावित सोशल सिक्योरिटी कोड बिल में बीड़ी मजदूर, सिनेमा वर्कर, निर्माण मजदूर इत्यादि के लिए बने वेलफेयर बोर्ड्स को खत्म करने की बात हो रही है। लेकिन विकल्प के रूप में नई व्यवस्था कैसी होगी – यह अभी तक स्पष्ट नहीं हो पाया है।

इस संकलन में हमने सोशल सिक्योरिटी कोड विधेयक के बारे में अलग-अलग ट्रेड यूनियनों के वक्तव्यों को भी शामिल किया है, ताकि इस तमाम बातचीत को आगे लेकर जाया जा सके। देखा जा सकता है कि प्रस्तावित कोड में उपस्थित सामाजिक सुरक्षा व्यवस्थाओं के खात्मे का लगभग सभी ट्रेड यूनियन विरोध करती हैं, खास तौर पर उस स्थिति में, जब स्पष्ट विकल्प प्रस्तुत नहीं किये गए हैं।

यह आमतौर पर कहा जा सकता है कि भारत में श्रम कानूनों की सुधार की प्रक्रिया हमेशा से ही जटिल और लम्बी रही है। इसका एक प्रमुख कारण अलग-अलग पक्षों के बीच विश्वास की कमी रहा है। सोशल सिक्योरिटी कोड के सम्बन्ध में भी यही समस्या दिखाई देती है। ट्रेड यूनियन, मालिक और सरकार – इन तीनों पक्षों को साथ लेकर त्रि-पक्षीय बातचीत के जरिये समस्या सुलझाने की जो पुरानी प्रक्रिया थी, वह आज संकट में है। अपितु जरूरत इस बात की है कि कानून निर्माण एवं अमल के सभी स्तरों में त्रिपक्षीय वार्तालाप को पुनः सक्रिय किया जाये। इसी से सामाजिक सुरक्षा संबंधी बेहतरीन कानून निर्माण भी सम्भव हो पायेगा।

इस संकलन में हमारी कोशिश यह रही है कि सामाजिक सुरक्षा संबंधी अलग-अलग आवाजों, चिंताओं और बहसों को जगह दी जाये। सामाजिक सुरक्षा के सवाल को लेकर कुछ प्रखर नारीवादी आलोचना भी उभरी है। यह देखा जा सकता है कि पारंपरिक श्रम कानूनों में लेबर कॉन्ट्रैक्ट का एक प्रमुख स्थान है। यानी कौन मालिक है और कौन मजदूर – यह तय करना श्रम कानून के लिए जरूरी हो जाता है। लेकिन नारीवादी आलोचकों ने दर्शाया है कि महिलाएं अनेक ऐसे काम करती हैं जहाँ मालिक-मजदूर संबंध को स्पष्ट करना आसान नहीं होता। यह सिर्फ घर के काम के लिए ही लागू नहीं है, बल्कि अन्य बहुत सारे काम भी शामिल हैं – जैसे सामुदायिक जंगलों से लकड़ी बीनकर लाना, छोटे उत्पादकों के रूप में अलग-अलग वस्तुएं निर्माण करना इत्यादि। क्योंकि इन मेहनतकशों के कामों में मालिक-मजदूर संबंधों को आँकना अक्सर संभव नहीं होता, इसलिए श्रमिक के रूप में जिन सुविधाओं की वे हकदार हैं, उनसे भी वे वंचित ही रह जाती हैं। मकाम के लेख में स्पष्ट होता है कि क्यों सभी मेहनतकशों की मजदूर के रूप में कानूनी पहचान होनी चाहिए और उन्हें मजदूर के रूप में सामाजिक सुरक्षा भी मिलनी चाहिए। यहाँ परंपरागत ट्रेड यूनियनवाद की भी एक आलोचना दिखती है, जो मालिक-मजदूर संबंधों की पहचान के आधार पर ही सामाजिक सुरक्षा की हिमायत करता है। वर्तमान फ्रेमवर्क में ऐसे ज्यादातर मेहनतकश बाहर ही रह जाते हैं जो किसी स्पष्ट मालिक-मजदूर संबंध के अधीन काम नहीं करते। यह बात सिर्फ महिला मेहनतकशों के संबंध में ही सच नहीं है, बल्कि मछुवारों, आदिवासियों इत्यादि अनेक छोटे उत्पादकों के लिए भी लागू होती है। यानी सामाजिक सुरक्षा अगर सभी श्रम-संबंधों की पहचान पर निर्भर होती है तो मेहनतकशों का बड़ा हिस्सा सामाजिक सुरक्षा से बाहर रहने के लिए ही बाध्य होगा।

दूसरी तरफ, ट्रेड यूनियनों का यह कहना है कि अगर सामाजिक सुरक्षा के सवाल को नियोग के सवाल से बिलकुल विच्छेद कर दिया जाये तो उससे मालिकों को छूट मिल जायेगी कि वे मजदूरों के कल्याण के लिए कुछ भी कदम न लें। पॉलिसी के स्तर पर देखें तो इसका मतलब होगा संगठित मजदूरों के लिए बनी हुई सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था का खात्मा। यह कदम बहुत ही खतरनाक हो सकता है क्योंकि आज सभी मजदूर अधिकारों को छीनने और सभी संगठित मजदूरों को असंगठित मजदूर बनाने की कवायद भी तेज हो रही है।

शायद इन बहसों का आंशिक समाधान इस तथ्य में पाया जा सकता है कि जहां तक संभव हो – मालिक मजदूर संबंधों की पहचान करना निश्चित रूप से वांछनीय ही है। यहाँ तक कि कुछ सामाजिक सुरक्षा व्यवस्थाओं के तहत उन क्षेत्रों में भी मालिक-मजदूर संबंधों की पहचान की जा सकती है जहाँ ये आमतौर पर असंभव प्रतीत होते हैं। एक बार मालिक-मजदूर संबंध स्थापित हो जाने के बाद उन मजदूरों के सामने दूसरे रास्ते भी खुलते हैं – क्योंकि एक बार मजदूर के रूप में पहचान बन जाने के बाद वे बाकी सभी मजदूर अधिकारों की मांग भी कर सकते हैं।

हालाँकि बड़ा सवाल अभी भी बना हुआ है। इस संकलन में शामिल ज्यादातर लेखों में सार्वभौमिक सामाजिक सुरक्षा की हिमायत की गई है, लेकिन यह किस रूप में किया जाना

चाहिए— इस पर बहस अभी भी जारी है। क्या जिन मेहनतकशों को कुछ भी सामाजिक सुरक्षा प्राप्त नहीं है, उनके लिए उपयुक्त बोर्ड बनाकर सामाजिक सुरक्षा का विस्तार किया जाना चाहिए? या फिर पूर्ण रूप से नियोग के सवाल से सामाजिक सुरक्षा का विच्छेद कर नागरिक के रूप में सार्वभौमिक सामाजिक सुरक्षा दी जानी चाहिए?

सामाजिक सुरक्षा संबंधी बहसों में राज्यों की क्षमता का सवाल भी बार-बार आता है। कहा जाता है कि भारत जैसा गरीब देश कुशल सार्वभौमिक सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था अमल ही नहीं कर सकता। इस सन्दर्भ में ज्यां ड्रेज का लेख पढ़ने योग्य है जहाँ वे भारत में वर्तमान सक्रिय कुछ सामाजिक सुरक्षा व्यवस्थाओं का एक आंकलन पेश कर रहे हैं। आंकलन में यह स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था कितनी कुशल होगी — यह उस जगह की राज्य व्यवस्था, वहाँ की जनता की चेतना तथा जनान्दोलन पर भी निर्भर करता है। यह सोचना गलत है कि भारतीय राज्य कोई भी सामाजिक कार्यक्रम सुचारु रूप से कार्यान्वित कर ही नहीं सकते हैं; सबूत इस अवधारणा के खिलाफ है।

सामाजिक सुरक्षा संबंधी बहसों में संसाधनों का सवाल भी बार-बार आता है। इसी संबंध में, इस संकलन में शामिल बिश्वजीत धर का लेख दर्शाता है कि दरअसल सवाल संसाधनों की कमी का नहीं बल्कि राजनैतिक इच्छाशक्ति का है। इस मुल्क के कॉर्पोरेट घरानों का एक बड़ा हिस्सा कुछ भी टैक्स नहीं देता है। टेक्स—जीडीपी अनुपात भारत में अत्यधिक कम है; अपितु ऐसे कंपनियों पर अधिक टैक्स लगाकर (वेल्थ टैक्स के रूप में, इनहेरिटेन्स टैक्स के रूप में) सामाजिक सुरक्षा के लिए जरूरी धनराशि इकट्ठी की जा सकती है।

तीव्र असमानता और नियोग शून्य विकास के इस युग में सार्वभौमिक सामाजिक सुरक्षा, सामाजिक न्याय के साथ-साथ विकास के एक वैकल्पिक रास्ते का भी संधान दे सकती है। निःसंदेह हमें अपने देश की विशिष्ट परिस्थिति, यहाँ की अर्थनीति, श्रम संबंध, राज्य की क्षमता, सामाजिक शक्ति—संतुलन इत्यादि पहलुओं पर भी ध्यान रखना होगा और उनके मुताबिक एक सशक्त सार्वभौमिक सामाजिक सुरक्षा प्रणाली विकसित करनी होगी।

इस संकलन में हमारी यह कोशिश रही है कि सामाजिक सुरक्षा संबंधी अलग-अलग बहस और बातचीत का एक सार संग्रह हिंदी पाठकों के लिए प्रस्तुत किया जाये ताकि यह बहस आम जन तक भी पहुँचे। यह प्रयास सामाजिक सुरक्षा के विषय में 4-5 नवम्बर, 2019 को दिल्ली में आयोजित एक दो दिवसीय राष्ट्रीय सम्मलेन का हिस्सा है, जहा प्रतिभागियों की तरफ से यह मांग आई थी कि ऐसा साहित्य हिंदी भाषा में भी उपलब्ध करवाया जाये। सम्मलेन का आयोजन सेंटर फॉर एजुकेशन एंड कम्प्युनिकेशन, सोशल सिक्यूरिटी नाउ और रोजा लक्समबर्ग फाउंडेशन की सहभागिता से किया गया था, जहाँ हिदुस्तान के अलग-अलग राज्यों से 80 से भी ज्यादा प्रतिभागियों ने हिस्सा लिया था।

पुस्तक में संकलित सभी निबंधों के लेखकों को मैं दिल से शुक्रिया अदा करती हूँ। ज्यादातर सामग्री हमें अग्रेजी में उपलब्ध हुई, जिसको हिंदी में अनुवाद किया योगेन्द्र दत्त और प्रत्युष चंद्रा ने। कॉपी एडिटिंग एवं प्रूफ रीडिंग में रुपाली सिन्हा, सुनील कुमार,

जगदीश, मीना शर्मा और अशोक कुमारी शामिल रहे। पूरे संकलन को तैयार करने में मयूर सेतिया की भी अहम भूमिका रही। मैं इन सभी साथियों का धन्यवाद करती हूँ। अंत में सीईसी की तरफ से रोजा लक्समबर्ग फाउंडेशन व राजीव कुमार को विशेष धन्यवाद देना चाहूंगी, जिन्होंने हमारे इस काम को महत्वपूर्ण समझा और इस संकलन को निकालने के लिये सहयोग प्रदान किया।

आशा करते हैं कि आपको यह संकलन पसंद आएगा। हमें आपके फीडबैक का इंतजार रहेगा।

## संदर्भ

1. Christopher Colford, "Neoliberalism and its excesses: After a sudden cloudburst of controversy, clear IMF insights on the 'disquieting' drawbacks of free-market dogma", <https://blogs-worldbank-org/psd/neoliberalism-and-its-excesses-after-sudden-cloudburst-controversy-clear-imf-insights-disquieting>, last accessed 1 January, 2020
2. Erik Olin Wright, "Basic Income as a Socialist Project", *Rutgers Journal of Law and Urban Policy*, Vol. 2, No. 1, 2005 (Fall), pp/196-203
3. Arvind Subramanian, "Universal Basic Income: A Conversation with and Within the Mahatma" in *Economic Survey 2016-17*, Vol. I, Government of India

# भारत में सामाजिक सुरक्षा और श्रम की द्वैधता

जे जॉन

आज सोशल सिक्योरिटी कोड को समझने और उसका विश्लेषण करने की एक बड़ी जिम्मेदारी हमारे सामने है। हमें केंद्र सरकार द्वारा पेश किए गए इस कोड की बुनियादी प्रस्थापनाओं, मान्यताओं और अंतर्विरोधों पर गौर करना है। मगर अपने आप में इतना करना ही काफी नहीं होगा। हमें अपने देश में सामाजिक सुरक्षा के विमर्श की ऐतिहासिक रूपरेखा पर भी गौर करना होगा। इस तरह के ऐतिहासिक विश्लेषण के माध्यम से ही हम आज अपनी इस दुविधा और दुर्दशा को समझ सकते हैं, जहां हमारे देश की विशाल मेहनतकश आबादी यानी 94 प्रतिशत से भी ज्यादा मजदूरों के पास कोई सामाजिक सुरक्षा नहीं है और जिन थोड़े से मजदूरों को थोड़ी-बहुत सामाजिक सुरक्षा मिल रही है उसमें भी कांट-छांट करने की कोशिश हो रही है।

सबसे पहले मैं सरकार द्वारा प्रस्तावित सोशल सिक्योरिटी कोड के बारे में संक्षेप में कुछ बातें कहना चाहता हूं।

पहली बात तो ये है कि प्रस्तावित कोड बेहद पितृसत्तात्मक यानी मर्दवादी सोच वाला दिखाई देता है। न केवल इसलिए कि इसमें शुरू से आखिर तक मजदूरों के लिए 'जाता', 'करता', आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है (यानि मजदूरों को सिर्फ पुरुष मजदूर मानकर चला जा रहा है), बल्कि इसलिए भी क्योंकि यह कोड इस हकीकत को नजरअंदाज कर देता है कि आज घर का कमाऊ सदस्य सिर्फ 'पुरुष' ही नहीं होता बल्कि महिलाएं भी घर चलाने में बराबर का हिस्सा निभा रही हैं। इसके बावजूद, समूचा सोशल सिक्योरिटी कोड इसी मान्यता पर आधारित है कि परिवार का भरण-पोषण करने की जिम्मेदारी घर के पुरुष मुखिया के ऊपर होती है; वही है जो परिवार की खुशहाली का ख्याल रखता है। आज जब वेतनभोगी रोजगारों में महिलाओं की हिस्सेदारी अभूतपूर्व रूप से बढ़ चुकी है, ऐसे में पुरुषों को ही घर का कर्ता-धर्ता मानने की इस दकियानूसी सोच पर हंसी आती है।

यह कोड पक्षपात न करने, यानी समानता के सिद्धांत की भी अवहेलना करता है। कायदे से भारत में काम करने और/या रहने वाले सभी लोगों को सामाजिक सुरक्षा का अधिकार मिलना चाहिए वे किसी भी तरह का रोजगार या धंधा क्यों न करते हों। मगर दुर्भाग्य से सार्वभौमिकता का यह सिद्धांत इस कोड से पूरी तरह से गायब है। यह कोड मजदूरों के अलग-अलग तबकों के बीच भारी भेद करता है। यह भेदभाव कोड की धारा 1.4 से ही शुरू हो जाता है जहां बताया गया है कि यह कोड किन मजदूरों पर लागू होगा (और फलस्वरूप किन पर लागू नहीं होगा)। धारा 1.4 में स्पष्ट किया गया है कि यह कोड देश के सभी मजदूरों पर लागू नहीं होता; अनुसूची 1 में बताया गया है कि कोड के कौन से प्रावधान मजदूरों की किस-किस श्रेणी पर लागू होंगे।

कर्मचारी भविष्य निधि का प्रावधान ऐसे मजदूरों के लिए नहीं होगा जो किसी ऐसे प्रतिष्ठान, कारखाने या दुकान पर काम करते हैं जहां मजदूरों की संख्या 20 से कम है जो

| अनुसूची 1, धारा 1.4                       |   |
|---|---|
| अध्याय संख्या                             | प्रयोज्यता  |
| 3. कर्मचारी भविष्य निधि                   | ऐसा प्रत्येक प्रतिष्ठान जहां 20 या इससे अधिक कर्मचारी काम करते हैं या पिछले 12 महीने के दौरान कभी भी 20 या उससे अधिक कर्मचारी काम करते थे।  |
| 4. कर्मचारी राज्य निगम                    | मौसमी फैक्टरी के अलावा ऐसे सभी प्रतिष्ठान जहां 10 या इससे अधिक कर्मचारी काम कर रहे हैं या पिछले 12 महीने के दौरान करते थे।  |
| 5. ग्रेच्युटी                             | (क) प्रत्येक फैक्टरी, खान, आयल फील्ड, बागान, पोर्ट और रेलवे कंपनी; तथा (ख) ऐसी प्रत्येक दुकान और प्रतिष्ठान जहां 10 या इससे अधिक व्यक्ति काम कर रहे हैं या पिछले 12 महीनों के दौरान कभी भी काम करते थे या ऐसी दुकानों या प्रतिष्ठान जिनको समय-समय पर केंद्र सरकार द्वारा अधिसूचित किया जा सकता है   |
| 6. मातृत्व लाभ                            | (क) फैक्टरी, खान या बागान जैसे सभी प्रतिष्ठान, जिनमें सरकार के स्वामित्व वाले प्रतिष्ठान भी शामिल हैं; (ख) ऐसी सभी दुकानों और प्रतिष्ठान जहां 10 या अधिक व्यक्ति काम कर रहे हैं या पिछले 12 महीने के दौरान कभी भी काम करते थे तथा ऐसी कोई भी दुकान या प्रतिष्ठान, जिनको केंद्र सरकार की पूर्व अनुमति के आधार पर राज्य सरकार द्वारा अधिसूचित किया जा सकता है |
| 7. कर्मचारी मुआवजा                        | दूसरी अनुसूची के प्रावधानों के अनुसार यह उन सभी नियोक्ताओं और कर्मचारियों पर लागू होगा जिन पर अध्याय 4 लागू नहीं होता है।   |
| 8. भवन एवं अन्य निर्माण मजदूर कल्याण उपकर | ऐसे नियोक्ता जो किसी भी इमारत अथवा अन्य निर्माण कार्य में निर्माण मजदूरों को काम पर रख रहे हैं।   |
| 9. असंगठित क्षेत्र के लिए सामाजिक सुरक्षा | असंगठित क्षेत्र एवं असंगठित मजदूर   |

10 से कम मजदूरों वाले प्रतिष्ठान या कारखाने या दुकान में काम करते हैं ऐसे मजदूरों को कर्मचारी राज्य बीमा निगम और ग्रेच्युटी की सुविधा नहीं मिलेगी प्रसूति लाभ भी सारी महिलाओं को नहीं मिलेंगे। हमें याद रखना चाहिए कि ये हमारे देश में मजदूरों के लिए सामाजिक सुरक्षा से संबंधित सबसे बुनियादी कानूनी प्रावधान होने जा रहे हैं और कोड खुद ही कह रहा है कि फैक्टरी के सभी मजदूरों पर लागू नहीं होंगे! यहाँ तक कि एक ही फैक्ट्री के अन्दर काम कर रहे सभी सभी मजदूरों पर भी यह कोड लागू नहीं होंगे। यह गहरी चिंता की बात है क्योंकि हमारे देश में बहुत सारे मजदूर आज भी ठेकेदारों के मातहत

काम करते हैं और ऐसे मजदूरों की संख्या बढ़ती जा रही है। अजीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी द्वारा हाल ही में किए गए एक अध्ययन से पता चला है कि नब्बे के दशक के आखिर में मैन्युफैक्चरिंग सेक्टर में ठेका मजदूरों की संख्या 15.6 प्रतिशत थी जो 2011-12 तक बढ़कर 34.7 प्रतिशत हो चुकी थी।

इस तरह के बहिष्कार और भेदभाव इस कोड में शुरू से आखिर तक दिखाई देते हैं। दुर्भाग्यवश, जो लोग इस कोड के प्रति आलोचनात्मक रवैया रखते हैं, वे भी अक्सर इन समस्याओं की असली गंभीरता और हद को समझने में चूक जाते हैं। मेरे ख्याल में ऐसा इसलिए है क्योंकि हम सभी श्रमिक वर्ग को एक खास ढंग से देखने-समझने के आदी हो चुके हैं। यह समझ हमें हमारे औपनिवेशिक शासकों से मिली है। आजादी के बाद भी हमने बिना कोई सवाल उठाए इसी समझ को अपना लिया और मजदूरों की हैसियत तथा सामाजिक सुरक्षा की पात्रता तय करने के लिए इसके निहित तर्क को चुपचाप स्वीकार कर लिया। आज हम इस समझ को इस कदर आत्मसात कर चुके हैं कि हम इसे बिल्कुल सामान्य और स्वाभाविक मानने लगे हैं। यहीं से असली समस्या शुरू होती है। मेरा कहना है कि जब तक हम इस समझ और इस तर्क को चुनौती नहीं देंगे, हम सार्वभौमिक सामाजिक सुरक्षा की धारणा को लागू करने की दिशा में कोई वास्तविक प्रगति नहीं कर पाएंगे।

आइए मैं इस बात को और विस्तार से रखता हूँ।

जब हम भारत में मजदूरों की संख्या संबंधी आंकड़ों की तलाश करते हैं, तो चाहे संगठित क्षेत्र के मजदूरों की संख्या हो या असंगठित क्षेत्र के, हम आमतौर पर दो तरह से इकट्ठा किए गए आंकड़ों पर ही आश्रित रहते हैं। इनमें से पहली पद्धति को आमतौर पर 'रेजिड्यूल मैथड' यानी 'अवशेष पद्धति' कहा जा सकता है। इस पद्धति के मुताबिक पहले 'औपचारिक मजदूरों' की यानी ऐसे मजदूरों की शिनाख्त और गिनती की जाती है जो 'औपचारिक क्षेत्र' में काम करते हैं। इसके बाद बाकी सारे मजदूरों को हम 'अनौपचारिक' या 'अवशेष मजदूर' मान लेते हैं! मौजूदा कानूनों के हिसाब से जिन कंपनियों या कारखानों में 20 से ज्यादा मजदूर काम करते हैं और जो कंपनियां फैक्टरी कानून के तहत पंजीकृत हैं, उन्हें औपचारिक प्रतिष्ठान या उद्यम के नाम से जाना जाता है। इन उद्यमों में काम करने वाले मजदूरों को ईएसआई, ईपीएफ जैसे कुछ निश्चित सामाजिक सुरक्षा लाभ मिलते हैं। जैसा कि हम सभी जानते हैं कि भारत की श्रम शक्ति में ऐसे मजदूरों की संख्या 6 प्रतिशत से भी कम बैठती है। इसके आधार पर बाकी सारे मजदूरों को अनौपचारिक या अवशेष मजदूर कहकर छांट दिया जाता है। ऐसा लगता है मानो हमारा कानून अंतर्निहित रूप से ये मान चुका है कि सिर्फ औपचारिक मजदूर ही असली मजदूर होते हैं। अर्थात् वही ऐसे मजदूर हैं जिनकी निश्चित संख्या होती है, जिनके निश्चित अधिकार होते हैं और उन्हें खास सुविधाएं मिलती हैं। ऐसा लगता है मानो औपचारिक मजदूरों से ही अनौपचारिक मजदूरों की परिभाषा तय होती है और अनौपचारिक मजदूर तो परिभाषाविहीन, गिनती के बाहर और अंधकार में जीने के लिए अभिशप्त हैं चाहे उनकी तादाद कितनी भी बड़ी क्यों ना हो। भारतीय श्रम शक्ति के इस विशेष हिस्से को 'अवशेष'



कहकर हाशिए पर धकेल देना मजदूरों की दुनिया के बारे में हमारी समझदारी की खासियत बन चुकी है। विडंबना ये है कि भारतीय राज्य और श्रम अर्थशास्त्री भी औपनिवेशिक काल से आज तक इस समझ का असली मतलब और निहितार्थ समझने में विफल रहे हैं।

दूसरा तरीका 'प्रत्यक्ष पद्धति' कहा जा सकता है। इसके तहत एनएसएसओ आंकड़ों और पारिवारिक सर्वेक्षणों के आधार पर मजदूरों की गिनती की जाती है। इस पद्धति के अनुसार परिवारों की गिनती करके ये पता लगाया जाता है कि किस परिवार के सदस्य किस-किस तरह के काम करते हैं। आप कह सकते हैं कि यह पहली पद्धति के मुकाबले बेहतर पद्धति है मगर यहां भी एक दिलचस्प चीज आपको दिखाई देती है। पहली बात ये है कि एनएसएसओ सर्वेक्षण भी औपनिवेशिक काल में बने और स्वतंत्र भारत के शासकों द्वारा आंख मूंद कर अपना लिए गए विभिन्न कानूनों द्वारा संज्ञायित 'संगठित' और 'असंगठित' क्षेत्रों की मौजूदगी को मान कर चलता है। एनएसएसओ के कागजों में हमें ये परिभाषा मिलती है - 'संगठित क्षेत्र में ऐसे उद्यम आते हैं जिनके आंकड़े बजट दस्तावेजों, सार्वजनिक क्षेत्र उद्यमों की वार्षिक रिपोर्टों और पंजीकृत मेन्युफैक्चरिंग उद्योगों के वार्षिक सर्वेक्षणों में नियमित रूप से मिल जाते हैं। असंगठित क्षेत्र का आशय ऐसे उद्यमों से है जिनके बारे में किसी कानूनी प्रावधान के तहत कोई आंकड़ा इकट्ठा नहीं किया जाता और जो किसी तरह के नियमित खाते नहीं रखते।'

एनएसएसओ ने कायदे से असंगठित क्षेत्र की 'अवशेष' वाली परिभाषा को ही अपना लिया है। इस अवशेष श्रेणी में पहुंचने के लिए एनएसएसओ संगठित क्षेत्र को ऐसे क्षेत्र के रूप में परिभाषित करता है जिसके बारे में आंकड़े उपलब्ध हैं। अलग-अलग कानूनों के तहत आने वाले उद्यमों, खासतौर से सामाजिक सुरक्षा कानूनों और *फैक्टरी कानून, 1948* के तहत आने वाले उद्यमों के बारे में हमें आंकड़े मिल जाते हैं। इस प्रसंग में आप *सांख्यिकी एवं कार्यक्रम क्रियान्वयन मंत्रालय* द्वारा जारी की जा रही 'ईपीएफओ पे-रोल डेटा' रिपोर्ट को देखें और इस बात पर ध्यान दें कि सरकार इसे संगठित क्षेत्र में रोजगार संवर्धन का आईना मानती है<sup>1</sup>। मगर, हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ईपीएफओ के आंकड़ों में सिर्फ ऐसे प्रतिष्ठानों को लिया जाता है जिनमें 20 या इससे अधिक लोग काम कर रहे हैं। कर्मचारी भविष्य निधि सामाजिक सुरक्षा का एक प्रावधान है और लिहाजा सामाजिक सुरक्षा की उपलब्धता के आधार पर एनएसएसओ मजदूरों को संगठित या असंगठित क्षेत्र में श्रेणीबद्ध करता है। इसके अलावा, एनएसएसओ द्वारा उद्योगों के वार्षिक सर्वेक्षणों में मिलने वाले आंकड़ों का भी इस्तेमाल किया जाता है। उद्योगों के वार्षिक सर्वेक्षण में ऐसे उद्यम को 'फैक्टरी' कहा जाता है जो धारा 2एम(1) के तहत पंजीकृत है और जिसमें 10 या उससे अधिक मजदूर बिजली की सहायता से काम करते हैं या जो 2एम(2) के तहत पंजीकृत है और जिसमें 20 या अधिक मजदूर फैक्टरी कानून 1948 के अनुसार बिजली की सहायता के बिना काम करते हैं।

'अनौपचारिक क्षेत्र' को परिभाषित करते हुए एनएसएसओ बताता है कि 'ऐसे सभी गैर-निगमित उद्यम जो मालिकाने या साझेदारी के आधार पर चलाए जा रहे हैं वे अनौपचारिक क्षेत्र में आते हैं।' गैर-निगमित उद्यम वे होते हैं जो निगमित नहीं हैं (यानी जो कंपनी



अधिनियम, 1956 के तहत पंजीकृत नहीं हैं) और जिनकी पहचान संस्थापक व्यक्तियों से पृथक होती है। अगर इस परिभाषा को मान लिया जाता तो हमारे देश में सिर्फ औपचारिक और अनौपचारिक उद्यमों की लिस्ट होती और इससे कोई फर्क नहीं पड़ा होता कि पंजीकृत उद्यमों में कितने मजदूर काम करते हैं।

हमारे देश में श्रम की इस द्वैधता को इस कदर स्वाभाविक मान लिया गया है कि राष्ट्रीय असंगठित क्षेत्र उद्यम आयोग (एनसीईयूएस) भी इसको चुपचाप स्वीकार कर चुका है<sup>2</sup>। आयोग ने असंगठित क्षेत्र से जुड़े मुद्दों पर काम किया परंतु स्वयं 'असंगठित क्षेत्र' की अवधारणा पर आलोचनात्मक ढंग से नजर डालने के बजाय 'असंगठित क्षेत्र' और 'असंगठित श्रमिक' की परिभाषाओं को विस्तार से परिभाषित किया। एनसीईयूएस 'असंगठित क्षेत्र' को इस तरह परिभाषित करता है - 'असंगठित क्षेत्र में ऐसे सभी गैर-निगमित निजी उद्यम आते हैं जो ऐसे व्यक्तियों या परिवारों द्वारा चलाए जा रहे हैं, जो स्वामित्व या साझेदारी के आधार पर वस्तुओं व सेवाओं की बिक्री और उत्पादन में संलग्न हैं और जहां कुल 10 से कम मजदूर काम करते हैं।' यह परिभाषा अनौपचारिक क्षेत्र में लगभग सार्वभौमिक रूप से स्वीकृत परिभाषा से मिलती-जुलती है। सिर्फ इसमें '10 मजदूरों से कम' वाला हिस्सा जोड़ दिया गया है। एनसीईयूएस ने 'असंगठित क्षेत्र श्रमिक' को इस तरह परिभाषित किया है - 'असंगठित क्षेत्र मजदूर वे होते हैं जो असंगठित क्षेत्र उद्यमों या परिवारों में काम करते हैं, और उनमें सामाजिक सुरक्षा लाभ पाने वाले नियमित मजदूर और औपचारिक क्षेत्र के ऐसे मजदूर शामिल नहीं हैं जिनके पास मालिक की तरफ से मिलने वाला कोई रोजगार/सामाजिक सुरक्षा लाभ नहीं है।' जाहिर है कि एनसीईयूएस 'सामाजिक सुरक्षा' की उपलब्धता को असंगठित क्षेत्र मजदूरों के लिए एक पारिभाषिक कसौटी मानता है। यह एक प्रकार का वृत्ताकार तर्क (सर्कुलर लॉजिक) है जहां आप कहते हैं कि असंगठित श्रमिक सामाजिक सुरक्षा के बिना है और असंगठित श्रमिकों के लिए सामाजिक सुरक्षा उपलब्ध नहीं है।

ये परिभाषाएं कुल मिलाकर सर्वग्राही दिखाई देती हैं और हम सभी उनका धड़ल्ले से इस्तेमाल करते हैं और उनके आधार पर यह परिभाषित करते हैं कि संगठित क्षेत्र मजदूर कौन हैं और असंगठित क्षेत्र मजदूर कौन हैं। मगर दूसरी तरफ, इस तरह की द्वैधता वाली परिभाषाएं, सामाजिक सुरक्षा कवरेज जैसी कसौटियों के आधार पर मजदूरों को परिभाषित करने की कोशिशें, इस द्वैधता पर सवाल खड़ा करने की बजाय उसको और मान्यता देने का साधन बन जाती हैं (आखिरकार, हम खुद भी सामाजिक सुरक्षा कवरेज के सीमित स्वरूप पर सवाल खड़ा क्यों नहीं करते और क्यों हम सामाजिक सुरक्षा के सार्वभौमिकरण के लिए आवाज नहीं उठाते और इसकी बजाय उसे अनौपचारिक क्षेत्र की परिभाषा तय करने के लिए एक वस्तुनिष्ठ, निरपेक्ष सामान्य और मानक कसौटी क्यों मान लेते हैं)?

यहां इस बात को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है कि यह भ्रम सिर्फ सरकारी रिपोर्टों और कानूनी दस्तावेजों में ही नहीं है बल्कि अकादमिक और ऐक्टिविस्ट घेरों में भी इसी विमर्श का बोलबाला दिखाई देता है। श्रम स्वाभाविक रूप से द्वैध वाला नहीं होता, यह

कुदरती तौर पर संगठित और असंगठित क्षेत्र में बंटा हुआ नहीं होता। यह भेद कानूनी और भौतिक अनुशीलनों के आधार पर पैदा हुआ है। इन अनुशीलनों की हमें समीक्षा करनी है, उनको बेनकाब करना है और उनको नए ढंग से व्यवस्थित करना है। सार्वभौमिक सामाजिक सुरक्षा का लक्ष्य केवल तभी हासिल किया जा सकता है जब मजदूरों को संगठित और असंगठित क्षेत्र की श्रेणियों में बांटने वाली समझदारी खत्म होगी।

इस तरह की सख्त द्वैधता दूसरे देशों में नहीं दिखती। जर्मनी, ब्रिटेन, नीदरलैंड्स, अमेरिका आदि में ऐसा बिलकुल ही नहीं दिखता। तो फिर भारत में ही यह इतनी हावी क्यों है? इस द्वैधता की जड़ें कहाँ पर शुरू होती हैं? हमने बिना सोचे-समझे इस विभाजन को कैसे अपना लिया? ऐसा क्यों है कि देश के मजदूरों की एक विशाल संख्या को इन्हीं परिभाषाओं के आधार पर इतने लंबे समय तक सामाजिक सुरक्षा प्रावधानों से बाहर रखा गया है? ऐसा क्यों है कि हमें संगठित और असंगठित मजदूरों का यह विभाजन सामान्य और स्वाभाविक दिखाई देने लगता है? इन बिंदुओं को समझने के लिए आइए दो पहलुओं की पड़ताल करें – राजनीतिक व्यावहारिकता और औपनिवेशिक धोखाधड़ी।

## राजनीतिक व्यावहारिकता

इस संदर्भ में मैं दो बातों की तरफ ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। इनमें पहली बात ऐतिहासिक किस्म की है जिसे अक्सर राजनीतिक व्यावहारिकता या दुनियादारी के मुल्लमे में लपेट कर पेश किया जाता है। इसका एक लंबा इतिहास रहा है और इसकी झलक आज भी बार-बार हमें मिल जाती है। प्रोफेसर जयती घोष ने हाल ही में एक लेक्चर में इस बात का जिक्र किया था कि कई साल पहले एक दूसरी सरकार के दौरान जब निःशुल्क सार्वभौमिक शिक्षा का प्रस्ताव सामने रखा गया था तो तत्कालीन प्रधानमंत्री ने पलट कर कहा था कि 'सारे बच्चों को मृत स्कूलों में भेज कर हम अपनी अर्थव्यवस्था को बर्बाद नहीं कर सकते,' दुर्भाग्यवश यह कोई अपवाद नहीं था। इस तरह के बयान भूतपूर्व प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने भी दिए थे!

जवाहरलाल नेहरू और उनकी आर्थिक नीतियों से ही भारत की आजादी के बाद आर्थिक विकास का सिलसिला शुरू हुआ था। नेहरू ने समाजवाद के लक्ष्य पर जोर दिया था और एक पद्धति के तौर पर वैज्ञानिक एवं प्रद्यौगिकीय विकास की बात कही थी। नेहरू एक वर्गहीन भारत का विकास करना चाहते थे और एक उदारतावादी रूपरेखा के तहत भारत को गरीबी और गैर-बराबरी से आजाद कराना चाहते थे<sup>3</sup>। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन (1929) में नेहरू ने ऐलान किया था कि कांग्रेस का लक्ष्य 'पूर्ण स्वराज' होगा और इसके लिए सविनय अवज्ञा का रास्ता अपनाया जाएगा। अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में ये कहा था कि वह एक समाजवादी हैं। उन्होंने 'एक वर्ग पर दूसरे वर्ग के प्रभुत्व को खत्म करने' के लिए कार्यक्रम तैयार करने की जरूरत पर जोर दिया था। मगर, उन्होंने अपने समाजवादी विचार देश पर नहीं थोपे और इस बात को स्वीकार किया कि इस दिशा में हमें धीरे-धीरे ही बढ़ना होगा (वीकेआरवी राव, 2008)। भारत के आर्थिक विकास के मामले में अपने विचारों को लागू करने के सवाल पर नेहरू किसी आदर्शवादी के मुकाबले व्यवहारवादी ज्यादा दिखाई देते हैं। नियोजित विकास, योजना आयोग का

गठन, वैज्ञानिक और तकनीकी विकास पर जोर, मिश्रित अर्थव्यवस्था, ये सब नेहरू की आर्थिक नीति के महत्वपूर्ण तत्व थे। मगर नेहरू ने इस बात पर भी जोर दिया कि भारत में समाजवाद अचानक साकार नहीं किया जा सकता और फिलहाल भारत एक कल्याणकारी राज्य बनने की कल्पना नहीं कर सकता। उन्होंने जोर देकर कहा कि हमें अपनी उत्पादकता को बढ़ाना होगा जिससे भारत की संपदा बढ़ेगी। 18 दिसंबर 1947 को नई दिल्ली में आयोजित उद्योग सम्मेलन में भाषण देते हुए उन्होंने कहा था,

“हम वितरण की समस्याओं पर बात करते हैं और यह वास्तविक समस्या है। वास्तव में हमारी ज्यादातर मुश्किलें और टकराव और महत्वपूर्ण विचार वितरण की समस्या पर ही केंद्रित हैं। मगर, ये बात चाहे जितनी भी महत्वपूर्ण हो, हमारे पास बांटने के लिए कुछ होना तो चाहिए, तभी तो हम बांटने की प्रक्रिया पर बात कर सकते हैं। लिहाजा पहले हम उत्पादन की समस्या पर आते हैं। उत्पादन का सवाल पहली प्राथमिकता है, मगर इसके साथ वितरण का सवाल भी गहरे तौर पर जुड़ा हुआ है। आप दोनों को अलग-अलग करके नहीं देख सकते”<sup>4</sup>।

उन्होंने औद्योगिक मजदूरों की हड़ताल का विरोध किया क्योंकि इससे उत्पादन पर असर पड़ेगा। नेहरू ने ‘औद्योगिक शांति की आवश्यकता’ पर केंद्रित 18 जनवरी 1948 के अपने सार्वजनिक प्रसारण में भी उत्पादन, संपदा सृजन और वितरण के संबंधों पर जोर दिया—“उत्पादन का मतलब है संपदा। अगर हम पैदा नहीं करेंगे तो हमारे पास पर्याप्त संपदा नहीं होगी। वितरण का सवाल भी समान रूप से महत्वपूर्ण है इसलिए संपदा भी कुछ हाथों में इकट्ठा नहीं हो सकती। फिर भी वितरण से पहले हमारे पास उत्पादन होना ही चाहिए।”

ऐसा लगता है कि नेहरू ने सामाजिक सुरक्षा की धारणा पर विचार नहीं किया बल्कि वह समाज और कल्याणकारी राज्य के समाजवादी रुझान पर ही ध्यान दे रहे थे। वह भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अवड़ी, तमिलनाडु में आयोजित 60वें अधिवेशन के अवसर पर 22 जनवरी 1955 को पेश किए गए अपने प्रस्ताव — ‘समाजवादी पद्धति और दूसरी पंचवर्षीय योजना के लिए उद्देश्य संबंधी प्रस्ताव’ — पर भाषण देते हुए इस बात पर विस्तार से चर्चा करते हैं कि भारत एक कल्याणकारी राज्य बन सकता है या नहीं। वह कहते हैं—

“जब तक हमारी राष्ट्रीय आय काफी ऊपर नहीं जाएगी तब तक दुनिया भर में समाजवाद और यहां तक कि साम्यवाद की स्थापना के बावजूद भारत में कल्याणकारी राज्य स्थापित नहीं हो सकता। समाजवाद या साम्यवाद आपको मौजूदा संपदा के उचित वितरण में तो मदद दे सकते हैं मगर भारत में तो फिलहाल कोई ऐसी संपदा है ही नहीं जिसका आप वितरण कर सके। यहां बांटने के लिए सिर्फ गरीबी है। यह यहां—वहां के चंद अमीर लोगों की संपदा के वितरण का सवाल नहीं है। इससे हमारी राष्ट्रीय आय में कोई फर्क पड़ने वाला नहीं है। मनोवैज्ञानिक संतुष्टि के लिए हम ये रास्ता भी अपना सकते हैं। मगर व्यावहारिक दृष्टि से देखें तो हमारे देश में फिलहाल बांटने के लिए कुछ खास है ही नहीं क्योंकि हम एक गरीब देश हैं। पहले हमें लाजिमी तौर पर संपदा पैदा करनी होगी और फिर

उसको बराबरी से बांटना होगा। संपदा के बिना हम कल्याणकारी राज्य कैसे बन सकते हैं? संपदा का मतलब सोना-चांदी नहीं है बल्कि इसका मतलब है वस्तुओं और सेवाओं के रूप में संपदाओं का सृजन। लिहाजा हमारी आर्थिक नीति प्राच्युर्य पर केंद्रित होनी चाहिए। अभी तक हमारी आर्थिक नीतियां केवल अभावों पर आधारित रही हैं। मगर अभावों की अर्थव्यवस्था का आज की दुनिया में कोई अर्थ नहीं है।”

इसे पढ़कर हम यह सोचने पर विवश हो जाते हैं कि क्या ये विचार श्रम और सामाजिक सुरक्षा के अधिकार पर केंद्रित भारतीय संविधान के अनुच्छेद 41 में व्यक्त की गई चिंताओं से मेल खाते हैं? अनुच्छेद 41 में कहा गया था कि ‘आर्थिक क्षमता और विकास की सीमाओं के भीतर रहते हुए राज्य रोजगार का अधिकार, शिक्षा का अधिकार सुनिश्चित करने, बेरोजगारी, वृद्धावस्था, बीमारी, विकलांगता और अन्य अवांछित अभावों की स्थितियों में सरकारी सहायता का अधिकार प्रदान करने के लिए प्रभावी प्रावधान करेगा।’

यहां एक सार्वभौमिक सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रम के अभाव को वितरण के लिए संपदा के अभाव से जोड़कर दिखाया जा रहा है। हालाँकि प्रधानमंत्री के बयान में समाज कल्याण कार्यक्रमों के वितरणकारी आयामों को भी मान्यता दी गई है लेकिन कुल मिलाकर भारत ने ‘कल्याणकारी राज्य’ के रास्ते पर न चलने का फैसला लिया। व्यावहारिकता के नाम पर, विपन्न अर्थव्यवस्था के नाम पर, मजदूरों की विशाल बहुसंख्या को आजादी के समय से ही सामाजिक सुरक्षा से वंचित रखा गया। इन रूपरेखाओं में एक वैकल्पिक संभावना को नजरअंदाज कर दिया गया कि स्वयं सामाजिक सुरक्षा सुनिश्चित करने से भी लोगों की क्रय शक्ति में इजाफा होगा, उत्पादन की नई मांग पैदा होगी और आर्थिक उन्नति को बल मिलेगा।

## औपनिवेशिक धोखाधड़ी

दूसरा बिंदु ‘औपनिवेशिक धोखाधड़ी’ के बारे में है। ब्रिटेन में कल्याणकारी राज्य और सामाजिक सुरक्षा की अवधारणा पर पहली उल्लेखनीय चर्चा 1942 में ब्रिटिश संसद में होती है। इस चर्चा की शुरुआत सर विलियम बेवरिज ने की थी जो कि एक उदार अर्थशास्त्री थे और जिन्होंने इस प्रश्न पर एक रिपोर्ट भी तैयार की थी। इस रिपोर्ट में कहा गया था कि सामाजिक सुरक्षा सार्वभौमिक होनी चाहिए एवं सामाजिक सुरक्षा का अधिकार ब्रिटिश साम्राज्य के सभी नागरिकों के लिए उपलब्ध होना चाहिए। बेवरिज के भाषण से स्पष्ट है कि उनका आशय सिर्फ ब्रिटेन के नागरिकों से नहीं बल्कि उन तमाम देशों के लोगों से भी है जो ब्रिटेन के उपनिवेश हैं।

बेवरिज का कहना था कि बेरोजगारी या दुर्घटना की स्थिति में आमदनी का आश्वासन, बुढ़ापे में भरण-पोषण का आश्वासन, सहारा छिन जाने पर परिवार की सुरक्षा का आश्वासन मूलभूत सामाजिक सुरक्षा का हिस्सा है। बेवरिज की रिपोर्ट ने दूसरे महायुद्ध के बाद ब्रिटेन में एक उदार कल्याणकारी राज्य के निर्माण में अहम भूमिका अदा की थी।

मगर ब्रिटेन के उपनिवेशों में ऐसा कुछ नहीं हुआ। बेवरिज योजना उपनिवेशों में लागू

नहीं की गई।

तो फिर इस योजना के स्थान पर भारत जैसे उपनिवेशों को क्या मिला? हमें मिला भविष्यनिधि (पीएफ), एक ऐसी चीज जिसकी हिमायत में आज हम किसी भी कीमत पर अड़ जाते हैं! ब्रिटेन की सरकार ने सार्वभौमिक सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने की बजाय अपने उपनिवेशों में सामाजिक सुरक्षा के नाम पर प्रोविडेंट फंड शुरू किया, यहीं औपनिवेशिक धोखाधड़ी सामने आती है। इस बात पर ज्यादा जोर देने की जरूरत नहीं है कि प्रोविडेंट फंड की व्यवस्था ब्रिटेन के भूतपूर्व उपनिवेशों में ही पाई जाती है। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रोविडेंट फंड के प्रावधान में संपदा के पुनर्वितरण या पूंजीपतियों अथवा राज्य द्वारा इकट्ठा किए गए मुनाफे के विभाजन का सवाल नहीं है, न ही इसमें राष्ट्रीय आय को शामिल किया जाता है। प्रोविडेंट फंड तो मालिक और मजदूर के अंशदान का ही नाम है। औपनिवेशिक राज्य ने भारत जैसे उपनिवेशों में भविष्यनिधि की व्यवस्था सिर्फ इसलिए लागू की थी ताकि सरकार सार्वभौमिक सामाजिक सुरक्षा मुहैया कराने की जिम्मेदारी से बच निकले!

यहां हमें इस बात पर जरूर गौर करना चाहिए कि प्रोविडेंट फंड की व्यवस्था ने श्रम बाजार में द्वैधता को खत्म करने की बजाय उसको और ज्यादा स्थापित कर दिया। सार्वभौमिक सामाजिक सुरक्षा को संपदा सृजन के एक साधन के रूप में देखने की बजाय भारत ने आजादी के बाद द्वैधता की व्यवस्था को और ज्यादा मजबूती दे दी। हमारे देश में आजादी के फौरन बाद जो प्रमुख सामाजिक सुरक्षा कानून बने उनमें कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948, कर्मचारी भविष्य निधि एवं मिश्रित प्रावधान अधिनियम 1952, प्रसूति लाभ अधिनियम, 1961 आदि कानून शामिल थे और इन सभी में मजदूरों को अलग-अलग श्रेणियों में बांटकर अलग-अलग रखा गया। इस पर भी हमें बार-बार जोर देने की जरूरत है कि जब भी सार्वभौमिक सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था स्थापित की गयी है, विपुल संपन्नता के युग में नहीं बल्कि गहरे अभावों के काल में, भारी उथल-पुथल के दौर में ही लागू की जाती रही हैं। दुनिया के सबसे शुरुआती कल्याणकारी राज्य दोनों विश्व युद्धों के बीच और आर्थिक मंदी के दौर में ही सामने आए थे। लिहाजा, इस तर्क में कोई खास दम नहीं है कि भारत में आजादी के बाद सार्वभौमिक सामाजिक सुरक्षा इसलिए लागू नहीं हो पाई क्योंकि भारत के पास आर्थिक संपन्नता नहीं थी।

## सातवीं अनुसूची

इसके दीर्घकालिक नतीजे आज हम सबके सामने हैं। सोशल सिक्योरिटी कोड के ताजा मसविदे में सातवीं अनुसूची दी गई है जिसमें पहले से मौजूद विभिन्न सरकारी योजनाओं का ब्यौरा दिया गया है और उनके हवाले से ये दावा किया गया है कि अधिकांश मजदूरों को सामाजिक सुरक्षा दी जा रही है! टेबल संख्या 2 में आप देख सकते हैं कि असंगठित मजदूरों के लिए सामाजिक सुरक्षा योजनाओं की सूची में मजदूरों के अलग-अलग तबकों के लिए योजनाएं चलाई जा रही हैं लेकिन उनके बीच कोई समन्वय नहीं है और सार्वभौमिकता का आयाम पूर्ण रूप से गायब है। यह कोड श्रम मंत्रालय द्वारा प्रस्तावित किया

गया है मगर उपरोक्त योजनाएं वित्त मंत्रालय, कपड़ा मंत्रालय, स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय, पशुपालन विभाग, डेयरी एवं मछली पालन विभाग और कृषि मंत्रालय आदि के द्वारा लागू की जा रही हैं जिसकी वजह से इस कोड की प्रभावोत्पादकता और क्रियान्वयन की कुशलता पर सवाल खड़े हो जाते हैं। हम यह देखकर हताश हो सकते हैं लेकिन इस बात को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता कि यह स्थिति औपनिवेशिक काल से चली आ रही मजदूरों में भेद करने की व्यवस्था की ही धारावाहिकता है।

**लेबर कोड ओन सोशल सिक्योरिटी की सातवीं अनुसूची:**

**असंगठित क्षेत्र मजदूरों के लिए सामाजिक सुरक्षा योजनाएं**

| योजना का नाम  | कब से लागू है   | नोडल मंत्रालय  |
|---|---|--|
| 1. प्रधानमंत्री श्रम योगी मान धन                              | पीएमएसयूएम योजना की घोषणा फरवरी 2019 में की गई थी और इसे पीयूष गोयल द्वारा फरवरी 2019 को जारी किया गया था   | श्रम एवं रोजगार मंत्रालय   |
| 2. प्रधानमंत्री लघु व्यापारी मान धन योजना                     | 22 जुलाई 2019 से शुरू   | श्रम एवं रोजगार मंत्रालय   |
| 3. इंदिरा गांधी राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेंशन योजना             | इंदिरा गांधी राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेंशन योजना 1995 में शुरू की गई थी।  | एनएसएपी योजनाएं आमतौर पर राज्यों में समाज कल्याण विभागों द्वारा लागू की जाती हैं। कुछ राज्यों में ग्रामीण विकास विभाग अथवा महिला बाल विकास विभाग भी इन योजनाओं को लागू कर रहे हैं। |
| 4. राष्ट्रीय पारिवारिक लाभ योजना (नैशनल फैमिली बेनिफिट स्कीम) | नैशनल फैमिली बेनिफिट स्कीम (एनएफबीएस) सामाजिक क्षेत्र की एक योजना है और यह राष्ट्रीय सामाजिक कार्यक्रम (नैशनल सोशल प्रोग्राम - एनएसएपी) का एक हिस्सा है।              | ग्रामीण विकास मंत्रालय   |
| 5. जननी सुरक्षा योजना   | 12 अप्रैल 2005 को शुरू की गई  | स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय   |
| 6. हथकरघा बुनकर समग्र कल्याण योजना                            | इसके दो हिस्से हैं- 1. महात्मा गांधी बुनकर बीमा योजना, जो 2003 में बुनकर बीमा योजना के नाम से शुरू की गई थी तथा 2. स्वास्थ्य बीमा योजना जो 2005-06 में शुरू की गई थी। | हथकरघा विकास आयुक्त कार्यालय, कपड़ा मंत्रालय   |

इस सन्दर्भ में वैकल्पिक रास्ता क्या हो सकता है? इसका कोई आसान जवाब तो नहीं हैं लेकिन यह जरूर मानना ही पड़ेगा कि सार्वभौमिक सामाजिक सुरक्षा का लक्ष्य तब तक हासिल नहीं किया जा सकता, जब तक हम सामाजिक सुरक्षा के ऐसे तरीकों से ही चिपके रहेंगे जो मजदूरों में द्वैधता के उत्पादन और पुनरुत्पादन को बढ़ावा देते हैं। जरूरत इस बात की भी है कि सामाजिक सुरक्षा प्रावधानों को किसी भी व्यक्ति के रोजगार की स्थिति से मुक्त किया जाए और बिना किसी भेदभाव के, सभी नागरिकों को सामाजिक सुरक्षा का अधिकार प्रदान किया जाए।

## टिप्पणी

1. सांख्यिकी एवं कार्यक्रम क्रियान्वयन मंत्रालय औपचारिक क्षेत्र में रोजगारों से संबंधित आंकड़े जारी करता है। इसके लिए इस बात का जायजा लिया जाता है कि बीती अवधि के दौरान ईपीएफओ, ईएसआईसी और एनपीएस के तहत कितने लोगों ने लाभ लिया है। इस प्रकार का पहला डेटा अप्रैल में जारी किया गया था जिसमें सितंबर 2017 से फरवरी 2018 तक की अवधि के आंकड़े दिए गए थे। देखें – सांख्यिकी एवं कार्यक्रम क्रियान्वयन मंत्रालय (2018), पे-रोल रिपोर्टिंग इन इंडिया: एन एम्प्लॉयमेंट पर्सपेक्टिव, अप्रैल 2018, नई दिल्ली, केंद्रीय सांख्यिकी कार्यालय, भारत सरकार।

2. सरकार ने 20.09.2004 को अर्जुन सेनगुप्ता की अध्यक्षता में राष्ट्रीय असंगठित क्षेत्र उद्यम आयोग (एनसीईयूएस) का गठन किया था। इस आयोग ने 30.4.2009 को अपना कार्यकाल पूरा किया। आयोग ने कई रिपोर्ट सरकार को दी थी जिनमें एक रिपोर्ट असंगठित क्षेत्र श्रमिकों हेतु सामाजिक सुरक्षा पर भी केंद्रित थी। इसके अलावा आयोग ने (1) फेरी वालों के लिए राष्ट्रीय नीति (2) असंगठित क्षेत्र श्रमिक विधेयक (3) असंगठित क्षेत्र श्रमिकों हेतु कार्य एवं सामाजिक सुरक्षा की न्यूनतम शर्तों पर समग्र कानून (4) असंगठित क्षेत्र में श्रम परिस्थिति एवं आजीविका प्रोत्साहन (5) असंगठित क्षेत्र उद्यमों का वित्त पोषण तथा (6) असंगठित क्षेत्र राष्ट्रीय निधि की स्थापना (एनएएफयूएस) पर भी रिपोर्ट सरकार को दी थी।

3. जवाहरलाल नेहरू ने एक बार कहा था, “अगर देश की आर्थिक उन्नति के लिए, व्यक्ति की उन्नति के लिए, प्रत्येक व्यक्ति हेतु अधिक अवसरों के लिए और देश की अधिकाधिक मुक्ति के लिए एक समेकित योजना बनानी हो तो यह राजनीतिक लोकतंत्र की रूपरेखा के भीतर ही बनाई जा सकती है। राजनीतिक लोकतंत्र को तेजी से आर्थिक लोकतंत्र की दिशा में बढ़ना होगा। अगर हमारे देश में आर्थिक असमानता रहेगी तो राजनीतिक लोकतंत्र और वयस्क मताधिकार भी वास्तविक लोकतंत्र को साकार नहीं कर सकते। अंततः हमें एक वर्गविहीन समाज के विकास के बारे में सोचना है। हो सकता है यह अभी दूर का सपना दिखाई दे, मुझे मालूम नहीं। मगर हमें हर सूरत में इसी लक्ष्य पर नजर रखनी चाहिए।” स्रोत—जवाहरलाल नेहरू स्पीचेज, 1949—52, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, 1954, पृष्ठ 95

4. अधिनिर्णयन एवं विनियंत्रण के खिलाफ एक सांकेतिक हड़ताल की घोषणा का जिक्र करते हुए नेहरू ने उसी भाषण में ये भी कहा है, “लिहाजा मैं आशा करता हूँ कि इस तरह की सांकेतिक हड़ताल – हालांकि हड़तालों को इस आधार पर जायज ठहराया जा सकता है कि लोग जैसे चाहें अपनी इच्छाओं को व्यक्त कर सकते हैं, वे मीटिंगों और शांतिपूर्ण प्रदर्शनों का सहारा ले सकते हैं और उनके सांकेतिक विरोधों से पता चलाता है कि वे अधिनिर्णयन एवं विनियंत्रण के पक्ष में नहीं हैं – को आगे जारी नहीं रखा जाएगा क्योंकि न केवल इससे उस दिन के उत्पादन का नाश होता है बल्कि इससे निरर्थक टकराव भी पैदा हो सकते हैं।”



# भारत के लिए बेवेरिज योजना? सामाजिक बीमा और "औपचारिक क्षेत्र" का निर्माण

रवि आहूजा

## सारांश

यह लेख स्वतन्त्र भारत के पहले वर्ष में बने कानून, *कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम (ईएसआई) 1948*, के इतिहास की छानबीन करता है। 1920 के दशक से ही सामाजिक नीति संबंधी वैश्विक बहसों हिन्दुस्तानी मजदूरों की सामाजिक सुरक्षा संबंधी बहसों को भी प्रभावित करती आई थी। हिन्दुस्तानी उद्योगों के बदलावों, द्वितीय विश्वयुद्ध, युद्धोपरांत संकट और उत्तर-औपनिवेशिक राज्य की उभरती आर्थिक नीतियों ने उस समय कानून निर्माण के लिए स्थितियां तैयार की थी। कल्याणकारिता पर अंतर्राष्ट्रीय बहस एवं समझ (जिसमें हिन्दुस्तानियों ने भी योगदान दिया) जिस समय सामाजिक कल्याण को सार्वभौमिक नागरिक अधिकार के रूप में पेश करने लगी थी, उसी समय भारत में स्वास्थ्य बीमा योजना के रेगुलेटरी मूलतत्त्व को इस समझ से हट कर बनाया गया था: ईएसआई अधिनियम पूरी तरह से रोजगार आधारित बना रहा। नतीजतन, हकदारी के पदानुक्रमिक (ग्रेडेड) ढांचा के उभरने में भी इसका योगदान रहा और इसने उन सीमाओं को भी टोस किया जिन्हें आगे चलकर "औपचारिक" और "अनौपचारिक" नाम दिया गया। वही दूसरी तरफ इसने उम्मीदों के नए क्षितिज भी गढ़े जिन्हें हासिल करने के लिए आज भी श्रमिक आन्दोलन प्रयासरत हैं।

## (क) असुरक्षित अधिकार या "अभिजात्य विशेषाधिकार"

भारत में सामाजिक नीति को ऐतिहासिक शोध के विषय के रूप में देखना हाल में ही संभव हो पाया है, हालांकि अब भी इसका बहुत आकर्षण नहीं है। इस देरी की एक वजह हो सकती है कि उत्तर-औपनिवेशिक भारत में सामाजिक सुरक्षा की नीतियां और सांस्थानिक स्वरूपों का यूरोपीय-अमरीकी उम्मीदों से मेल नहीं बैठता: ये भी महत्वपूर्ण है कि ये नीतियां द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद मेट्रोपोलिटन पूंजीवाद के केंद्रों में दिखने वाली सार्वभौमिक कल्याणकारी नीतियों से अलग दिखती हैं<sup>1</sup>। उत्तर - औपनिवेशिक भारत में *कल्याण* का मतलब कभी भी, कानून के रूप में लागू हो पाने के संदर्भ में, सार्वभौमिक सामाजिक अधिकार नहीं रहा; न ही यह नागरिक अधिकारों का अंशविशेष बन पाया<sup>2</sup>। इसी ऐतिहासिक तथ्य के चलते अंतर्राष्ट्रीय कल्याणवाद संबंधी शोध-अध्ययन से (जो कि हाल तक मुख्यतः उत्तरी अटलांटिक देशों तक ही सीमित रहा) भारत तकरीबन निष्कासित ही रहा<sup>3</sup>। हम आगे देखेंगे कि इसी के कारण दक्षिण एशियाई शोधकर्ताओं ने कई सारे अपुष्ट ऐतिहासिक दावे भी किये; जैसे यह दावा करना कि "आजादी के समय, कल्याण संबंधी भारतीय परियोजना किसी भी समकालीन बहस से प्रभावित नहीं थी"<sup>4</sup>। बीसवीं सदी में कल्याणवाद के वैश्विक इतिहास से भारतीय अलगाव की ऐसी धारणाएँ ज्यादा आसानी से रखी जा सकती थीं क्योंकि 2000 के आरम्भ तक दक्षिण एशिया के इतिहासकार वर्ष 1947 की पारंपरिक कालक्रमिक दहलीज को नहीं पार करना चाहते थे - जिसके तहत बंटवारा/स्वतंत्रता



की दोहरी घटना औपनिवेशिक अतीत से भारत के राष्ट्रीय वर्तमान को पाटती नजर आती थी। इस कालक्रमिक दहलीज को पार करते हुए प्रक्रियाओं की निरंतरता की परख करना 'नेशनलिस्ट फ्रेम'<sup>5</sup> वाली हिस्टोरिओग्राफी के लिए संभव नहीं था। वैसे तो यह हिस्टोरिओग्राफी कई बार अपने आपको पुनःगठित कर चुकी हैं, लेकिन फिर भी अपने मूल नेशनलिस्ट फ्रेम को छोड़ना इसके लिए असंभव ही साबित हुआ है। 1947 की विभाजक रेखा को छोड़ दोनों कालखंड में निरंतरता का संज्ञान लेना भी इस हिस्टोरिओग्राफी के हिसाब से राजनैतिक स्वतंत्रता की उपलब्धि को छोटा करना है। परन्तु, भारत की उत्तर-औपनिवेशिक सामाजिक नीति की अहम् विशेषताएँ और वैश्विक संबंध तभी स्पष्ट दिखाई देंगे जब हम औपनिवेशिक काल में उनकी उत्पत्ति की ओर ध्यान देंगे। इन नीतियों की शुरुआत ऐसे माहौल में हुई जहाँ राजनीतिक वातावरण लगभग खुली तानाशाही जैसे था, जहाँ राजसत्ता पर जनवादी प्रभाव नाम मात्र के थे और जहाँ सत्ता को समकालीन यूरोपीय समाजों की तुलना में तात्कालिक वैधता की कम जरूरत पड़ती थी। आखिर भारत की औपनिवेशिक सरकार उन्नीसवीं सदी के अंतिम तीन दशकों में नरसंहार के स्तर की अनेक अकालों की शृंखलाओं के बावजूद नगन्य राजनीतिक क्षति के साथ बची रही<sup>6</sup>। ध्यान रहे कि उन्नीसवीं सदी के अंतिम तीन दशक वही समय हैं जब बढ़ते हुए श्रम आंदोलनों की प्रतिक्रिया में यूरोप में "कल्याणकारी राज्य" का जन्म हुआ था<sup>7</sup>। सन 1943 तक भी, औपचारिक अधिकारों या नागरिक अधिकारों से लेकर सामाजिक सुरक्षा के इस अभाव के चलते पूर्वी भारत में लाखों लोगों की अकाल से हुई मौतों की राजनीतिक लागत को अंग्रेजी हुकमरानों ने आसानी से वहन कर लिया था,<sup>8</sup> जब कि उस समय ब्रिटेन में, यहाँ तक कि कंजर्वेटिव पार्टी को, सार्वभौमिक सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था बहाल करने से बचना असंभव लग रहा था। तथापि 1880 के अकाल संहिताओं से शुरु होकर औपनिवेशिक शासन के अंतिम सात दशक तक वह अवधि थी जब भारतीय सामाजिक नीति के स्तम्भों की नींव रखी गई थी। हालांकि 1947 में राजनीतिक स्वतंत्रता मिलने के बाद ही यह एक भिन्न व्यवस्था के रूप में खड़ी हो सकी। सामाजिक नीति के तीन स्तम्भ की बात की जा सकती है, जिन्होंने भारतीय कल्याणवाद का भार कमोवेश ग्रहण किया। समय के साथ साथ इन तीनों स्तम्भों में बटी भार की अनुपात भी बदलती गयी।

पहले स्तम्भ की शुरुआत गरीबी राहत वाली पुरानी धारणाओं से हुई। उन्नीसवीं सदी के अंतिम तिहाई के अकाल संकटों के बाद, इस प्रकार की सामाजिक नीतियों ने लक्षित कल्याण (टारगेटेड वेलफेयर) कार्यक्रमों का रूप लिया। राजनीतिक जरूरतों के चलते कभी-कभार इन्होंने आवश्यक वस्तुओं का मूल्य नियंत्रण अथवा प्रोविजनिंग योजनाओं का भी रूप लिया<sup>9</sup>। भारत की उत्तर-औपनिवेशिक खाद्य राशन-व्यवस्था और हाल की "राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना" इसी परंपरा में आते हैं। दूसरा स्तम्भ है कोटा व्यवस्था का इंतजाम, जो कि विशिष्ट सामाजिक समूहों की सार्वजनिक रोजगार और सार्वजनिक वस्तुओं (विशेष रूप से शिक्षा) तक पहुँच बनाने के लिए किया गया<sup>10</sup>। इस स्तम्भ की भी शुरुआत औपनिवेशिक युग में होती है परंतु ब्रिटिश शासन के बाद और विशेषतः 1980 में दलितों और "अन्य पिछड़े" जातियों के आंदोलनों के बढ़ते जोर से इसका महत्व अत्याधिक बढ़ गया<sup>11</sup>।

तीसरा स्तम्भ रोजगार आधारित सामाजिक कल्याण से संबंधित है और यह निबंध फिलहाल इसी स्तम्भ तक अपना विश्लेषण सीमित रखेगा। रोजगार आधारित सामाजिक कल्याण वाली नीतियों की शुरुआत 1880 के दशक में बिस्मार्क द्वारा प्रवर्तित सामाजिक बीमा सुधारों से होती हैं। इन नीतियों की खासियत यह है कि वे कल्याण संबंधी अधिकारों को सार्वभौमिक अधिकार के रूप में नहीं देखती, बल्कि रोजगार के स्तर के साथ जोड़ कर देखती हैं। यानी ये अधिकार सार्वभौमिक अधिकार हैं ही नहीं, बल्कि विशेषाधिकार हैं, और कुछ खास कर्मचारी ही इनके हकदार हैं।

यदि भारतीय सामाजिक नीति पर इतिहास लेखन सामान्यतः नाम मात्र है, तो रोजगार—आधारित कल्याणकारी योजनाओं पर तो लगभग है ही नहीं। कइयों का मानना है कि इससे कोई फर्क नहीं पड़ता क्योंकि वैसे भी ज्यादातर हिन्दुस्तानियों का रोजगार—आधारित कल्याणकारी योजनाओं से कोई लेना देना नहीं है<sup>12</sup>। यह पारंपरिक तौर पर (और एकांगी रूप में) मान लिया गया है कि भारत की श्रमिक आबादी का तिरानवे प्रतिशत अनौपचारिक क्षेत्र में कार्यरत है और श्रम कानून और रोजगार—आधारित कल्याणवाद के दायरे से बाहर है। बाकी सात प्रतिशत में तकरीबन आधे अनौपचारिक रूप से औपचारिक क्षेत्र में कार्यरत हैं<sup>13</sup>। दूसरे शब्दों में, वे ठेकेदारों द्वारा या किसी अन्य तरीकों से रोजगार पाते हैं, जिसके तहत उन्हें कम मजदूरी मिलती है। साथ ही, उन्हें ऐसे रूप में काम पर लिया जाता है, जिसके तहत श्रम कानून खासतौर से छंटनी से बचाने वाले और रोजगार लाभों का हक दिलाने वाले कानूनों का उल्लंघन किया जा सकता है। कई आलोचक विद्वान भी नवउदारवाद के समर्थकों के इस तर्क को मानते हुए दिखते हैं कि भारत के श्रम कानून — जिनमें रोजगार आधारित सामाजिक सुरक्षा योजनाएं भी हैं — देश के श्रमिकों के एक छोटे हिस्से के लिए ही मायने रखते हैं और वे औपचारिक रूप से कार्यरत मजदूरों के विशेषाधिकार प्राप्त अभिजात वर्ग को बृहत अनौपचारिक श्रम अर्थव्यवस्था से अलग करते हैं<sup>14</sup>। इस तरह के सर्वमानित तर्क पर सवाल उठाने की जरूरत है। मुद्दा ये नहीं है कि भारत के श्रमिक वर्ग के अन्दर व्यापक सामाजिक विषमताएँ मौजूद हैं; सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों में लगे स्थायी मजदूरों के घटते अनुपात और भारत के व्यापक निर्माण मजदूरों की बहुसंख्या के बीच निरसंदेह नगण्य ही समानता है। असली सवाल है कि मजदूरी कमाने वाले लोगों के बीच आय, काम की स्थितियाँ, सामाजिक स्तर और आर्थिक सुरक्षा के आधार पर इतनी व्यापक असमानता को कैसे समझा जाये। इस सवाल पर हमारा कुछ भी जवाब हो, लेकिन इसके विश्लेषणात्मक और राजनीतिक परिणाम होंगे, इसका हमें हमेशा आभास रहना चाहिए।

भारतीय श्रम के दो प्रख्यात नृतत्वशास्त्री, जोनाथन पैरी और यान ब्रेमन, दोनों ही ने शोध में मिसाल कायम की है, परन्तु वे अलग अलग नतीजों पर पहुंचे हैं। पैरी एक सार्वजनिक क्षेत्र के स्टील शहर में औपचारिक और अनौपचारिक रूप से कार्यरत मजदूरों के संबंधों के बारे में अत्यंत रोचक अन्तर्दृष्टि देते हैं जहाँ उन्हें श्रमिकों के इन दो वर्गों में अंतर्विरोधी स्वार्थ दिखता है — इसी निष्कर्ष को वे भारत के सम्पूर्ण श्रम संसार में भी पाते हैं। वेबर के दृष्टिकोण को अपनाते हुए, पैरी “वर्ग” की अपनी समझ स्थापित करने के लिए

श्रम और पूंजी के बीच के संबंधों की परीक्षा करने की जरूरत नहीं मानते। इससे विपरीत, वे वेतन श्रमिकों के दो विभिन्न सामाजिक तबकों के आपसी विरोध पर ही पूरा ध्यान देते हैं। उनका निष्कर्ष है कि राज्य के कानूनों और नीतियों ने औद्योगिक श्रमिकों के अंदर संरचनात्मक विभाजन कर दिया है जिससे श्रमिकों के इन दोनों तबकों को एक ही सामाजिक वर्ग के हिस्से के रूप में नहीं देखा जा सकता और अब नए मध्यम वर्गीय श्रम अभिजात तबके के विशेषाधिकारों ने श्रमिक वर्गों की जगह ले ली है<sup>15</sup>।

यान ब्रेमन ने गुजरात के ग्रामीण इलाकों और शहरों में अनौपचारिकरण की प्रक्रियाओं का पिछली आधी शताब्दी से अध्ययन किया है, कई बार भारत के मजदूर वर्गों और श्रम बाजारों को ध्रुवीकृत रूप में समझने की कोशिश की कमियों को दिखाया है<sup>16</sup>। ब्रेमन की तरह, मैं भी इस परिघटना की गतिशील समझदारी का समर्थक हूँ। श्रमिक तबकों के आपसी प्रतिस्पर्धा के कारण पदानुक्रमिक (ग्रेडेड) अनौपचारिकता की संरचना में छिपे होते हैं। औपचारिक एवं अनौपचारिक श्रम स्थिति को गतिहीन द्वि-विभाजन (स्टेशनरी दिकोटोमी) के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। इसके विपरीत मैं औपचारिकरण और अनौपचारिकरण की प्रक्रियाओं को परिस्थिति-सापेक्ष, निरंतर चलने वाली एवं विवादग्रस्त प्रक्रियाओं के रूप में देखने की सिफारिश करता हूँ। यानी कामगारों के विभिन्न तबकों के बीच की सीमाएँ और प्रवेश पथ कई हैं और वे बदलते रहते हैं; वे सामाजिक अंतर्विरोधों और गठबंधनों से उत्पन्न और पुनरुत्पन्न होते हैं; उनका केवल सापेक्ष स्थायित्व ही होता है<sup>17</sup>।

श्रम और रोजगार-आधारित सामाजिक सुरक्षा कानून कामगारों के विभिन्न तबकों के बीच की केवल सीमाएँ ही नहीं (जैसा कि पैरी बताते हैं), बल्कि रास्ते भी तय करने में प्रमुख भूमिका निभाते हैं। संरचनात्मक सीमाओं की शक्ति को यहाँ कम करके नहीं आँका जा रहा; ये तो हितों की समानता पर आधारित श्रमिक वर्गों के तमाम धड़ों को बांधती कारगर कार्ययोजनाओं को तैयार करने में ट्रेड-यूनियनों को पेश आती असल दिक्कतों में साफ दिखता है। परन्तु रास्ते का भी ध्यान रखने से हमें विपरीत-प्रवृत्तियों का, तबकों के बीच गठबंधनों की संभावनाओं का पता चलता है, और कर्मचारी राज्य बीमा (ईएस आई) अथवा भविष्य निधि जैसी योजनाओं के अंतर्गत शामिल होने के लिए अनौपचारिक रूप से काम कर रहे मजदूरों की निरंतर मांग को हम समझ सकते हैं। यदि रोजगार-आधारित सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रम मजदूर वर्गों के केवल उस हिस्से के लिए ही नहीं महत्वपूर्ण हैं जो साफ तौर पर उनमें सम्मिलित हैं ही, बल्कि भारतीय कामगारों के व्यापक हिस्सों के लिए भी वे अहम मायने रखते हैं, क्योंकि अन्य श्रम कानूनों के साथ-साथ, ये *उम्मीद की सीमा* को ऊपर ले जाती हैं, संभावनाओं को निर्धारित करते हैं और मांगों को रूप देने में मदद करते हैं – जिसकी चर्चा हम लेख के अंत में करेंगे।

यदि हम "(अन)औपचारिकरण" को गतिशील, द्वि-दिशात्मक, यहाँ तक कि प्रतिवर्ती (रिवर्सिबल) प्रक्रिया मानते हैं और इसलिए "औपचारिकता" और "अनौपचारिकता" को श्रम बाजार के गतिहीन एवं पूरी तरह से बंद "क्षेत्रों" के रूप में नहीं समझना चाहते हैं तो हमें इस प्रक्रिया को उसकी ऐतिहासिकता में देखना होगा। दूसरे शब्दों में, हमें श्रमिकों के भीतर विभाजन के उन प्रतिरूपों के ऐतिहासिक विकास का पता लगाना चाहिए जिनका वर्णन

दुनिया के कई हिस्सों में, 1970 के बाद से, "औपचारिक" और "अनौपचारिक" के रूप में किया गया। जैसाकि प्रभु महापात्र का अध्ययन दिखाता है, कानून ने "अनौपचारिक" रोजगार के तरीकों से "औपचारिक" के अलगाव के लिए एक महत्वपूर्ण नियामक तकनीक के रूप में कार्य किया है<sup>18</sup>। अलगाव की इस प्रक्रिया के ऐतिहासिक पुनर्निर्माण की कमी हालाँकि बनी हुई है जो औपचारिकीकरण और अनौपचारिकीकरण की अंतःक्रियात्मक प्रक्रियाओं को स्पष्ट कर सके।

इस कालक्रम में बीसवीं शताब्दी का मध्य हिस्सा इन प्रक्रियाओं के एक महत्वपूर्ण क्षण के रूप में उभरता है: लगभग सभी प्रमुख कानून जो वर्तमान समय तक के भारत की श्रम विनियमन की उत्तरौपनिवेशिक प्रणाली के मापदंडों को चिह्नित करते हैं, 1946 से 1952 तक के छः सालों के दौरान पारित किए गए थे। इन कानूनों ने श्रम संबंधों, औद्योगिक विवाद प्रक्रियाओं, ट्रेड यूनियन अधिकारों और रोजगार-आधारित सामाजिक लाभों, जिसमें कर्मचारी राज्य बीमा और भविष्य निधि योजनाएं भी शामिल हैं, को भी विनियमित किया है<sup>19</sup>। कानूनों की अचानक इस वृद्धि में पहले के अधिनियमों के साथ-साथ प्रमुख नई नियामक योजनाओं का समेकन शामिल था लेकिन यह शायद ही कभी स्वीकार किया जाता है, और यह व्यावहारिक ज्ञान के खिलाफ ही समझा जाएगा। भारत के प्रख्यात इतिहासकारों को भी लगता है कि, उपनिवेशवाद के अंत, उपमहाद्वीप के विभाजन, और संवैधानिक पुनर्गठन के उन वर्षों में, श्रम संबंधी मुद्दे राजनीतिक प्राथमिकताओं की सूची में कम हो गए होंगे<sup>20</sup>। समकालीन भारतीय समाचार पत्रों के विश्लेषण से पता चलता है कि किस तरह, 1940 के दशक के उत्तरार्ध में श्रमिक मुद्दे अनेक बार सुर्खियों में आए रहे। इसके अलावा, भारत ने उन वर्षों के दौरान अब तक के सबसे व्यापक और विस्तृत आधार वाले हड़ताल आंदोलन का अनुभव किया, और इस प्रकार प्रमुख वैश्विक युद्ध-पश्चात की लहर में योगदान दिया<sup>21</sup>। इतिहासकार यह बात सामान्यतः नजरंदाज करते हैं कि उपलिखित कानून की लहर कम से कम कुछ हद तक सामान्य रूप से चरम राजनीतिक अस्थिरता और विशेष रूप से श्रमिक-वर्ग की अशांति के खतरनाक स्तरों के प्रति प्रस्थानरत औपनिवेशिक प्रशासन और उनके राष्ट्रवादी उत्तराधिकारियों की प्रतिक्रिया थी<sup>22</sup>।

इतिहासकारों की रोजगार आधारित सामाजिक सुरक्षा कानून की उत्पत्ति में रुचि की कमी समकालीन दक्षिण एशियाई समाजों के इतिहास लेखन में व्याप्त रिक्तता का केवल एक हिस्सा है। वर्तमान निबंध एक विशिष्ट और सीमित कोण से इस रिक्तता को भरता है: यह सुरक्षात्मक श्रम कानून के एक प्रमुख अंश, 1948 के कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, के पूर्व-इतिहास और निर्माण की छानबीन करता है। यह नियोक्ताओं, कर्मचारियों और राज्य द्वारा योगदान से वित्त पोषित एक अनिवार्य बीमा योजना थी, जिसे "स्थायी कारखानों" में नियोजित श्रमिकों को आर्थिक लाभ के साथ-साथ बीमारी, प्रसव, और रोजगार के दौरान हुई चोट के वक्त चिकित्सा सेवाएँ प्रदान करना एवं साथ ही बीमारी की छुट्टी को भी विनियमित करना था। इस निबंध में, मैं उस ऐतिहासिक संदर्भ की चर्चा तक ही सीमित रहूँगा, जिसके तहत श्रम कानून का यह हिस्सा उभरा, और कैसे इसने औद्योगिक श्रमिकों के बीच विभाजन को कानूनी अभिव्यक्ति और बढ़ावा देने में योगदान किया, जिसे बाद में औपचारिक/

अनौपचारिक के रूप में वर्णित किया गया। अधिक व्यापक चर्चा के लिए विद्वानों को अधिनियम के कार्यान्वयन एवं अलग अलग सामाजिक शक्तियों द्वारा उसके इस्तेमाल की जांच पड़ताल करनी होगी। ये पहलू भी राजनीतिक और कानूनी प्रक्रियाओं से कम महत्वपूर्ण नहीं हैं।

यह लेख आगे निम्न भागों में व्यवस्थित किया गया है: अगला भाग 'ख' यह समझाने का प्रयास करता है कि औद्योगिक कल्याण पर बहस महायुद्धों के अंतराल में अखिल भारतीय स्तर पर एक राजनीतिक मुद्दे के रूप में क्यों उभरी। इसके बाद (भाग 'ग' में) औपनिवेशिक भारत में इस बहस के अंतर्राष्ट्रीय और साम्राज्यिक संदर्भों की चर्चा है। यहाँ यह तर्क दिया गया है कि कल्याण के सवाल पर भारतीय, अंतर्राष्ट्रीय एवं साम्राज्यीय बहसों की एकरूपता के बावजूद यह उभरते नियामकों की भौगोलिक भिन्नता को नहीं रोकती। इस विचित्र विरोधाभास की व्याख्या करने के लिए, भाग 'घ' अंतर्राष्ट्रीय और साम्राज्यीय स्तरों से हटकर "ब्रिटिश भारत" की ओर ध्यान देता है। यह उन आंतरिक मजबूरियों की पड़ताल करता है जिन्होंने भारतीय औद्योगिक कल्याणवाद के विशिष्ट रूप को आकार दिया, अर्थात् युद्ध अर्थव्यवस्था की जरूरतों और गहराते औद्योगिक संघर्ष के संदर्भ में भारतीय उद्योग के परिवर्तन। भाग 'ङ' में संक्रमणकालीन 1940 के दशक की शक्तियों के राजनीतिक क्षेत्र में कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम के निर्माण को हम देखते हैं। लेख के 'च', यानी अंतिम भाग का तर्क है कि इस प्रक्रिया के परिणाम अत्यंत विरोधाभासी थे। हालांकि भारतीय स्वास्थ्य बीमा के विशिष्ट रूप ने श्रमिक वर्गों के अन्दर कठोर विभाजन पैदा करने में योगदान दिया और नागरिक अधिकार के रूप में कल्याण का वादा अधूरा रह गया, लेकिन इनके साथ-साथ उम्मीदों का क्षितिज भी फैला जो सामाजिक समानता के लिए संघर्षों को अब भी संजोता है।

## **(ख) "कुशलता" और महायुद्धों के अंतराल में भारत में औद्योगिक कल्याण पर बहस**

प्रथम विश्व युद्ध से पहले, नियोक्ता (ब्रिटिश और भारतीय—दोनों ही) औपनिवेशिक अधिकारी और प्रेस के बड़े तबके इस बात पर सहमत थे कि भारत को सुरक्षात्मक श्रम कानून अथवा औद्योगिक श्रम पर केंद्रित कल्याणवाद की आवश्यकता नहीं है। दो तरह के तर्क सामने रखे गए, पहला तर्क कि भारत के युवा उद्योग को यदि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिस्पर्धी रहना है तो महंगे कल्याणकारी उपायों को बर्दाश्त नहीं किया जा सकता। एक प्रमुख राष्ट्रवादी समाचार पत्र, *अमृत बाजार पत्रिका* ने 1875 में सराहनीय स्पष्टता के साथ इस स्थिति को सामने रखा: "हमारे कामगारों के बीच अधिक मृत्यु दर इस बढ़ते उद्योग के पतन से कहीं अधिक बेहतर है। जब उद्योग पूरी तरह से स्थापित हो जाएंगे तब हम अपने कामगारों की रक्षा करने की कोशिश कर सकते हैं"<sup>23</sup>। दूसरे तर्क का जोर था भारत के लिए श्रम कल्याण की अप्रासंगिकता क्योंकि देश में अभी तक व्यावहारिक रूप से कोई फ़ैक्ट्री आधारित आबादी नहीं है, जैसा कि यूरोपीय देशों में मौजूद है<sup>24</sup>। फ़ैक्ट्री का काम, इस विचार के अनुयायियों के अनुसार, प्रवासी श्रमिकों के लिए मात्र अस्थायी जीविका एवं आय का एक पूरक स्रोत था। उनका मानना था कि मिल मजदूर "मूल रूप से एक किसान" था:

“उसका दिल देश में है और अपने काम में नहीं”<sup>25</sup>। इसके अलावा, श्रमिकों की स्वास्थ्य संबंधी जरूरतों को उनके ग्रामीण परिवारों और आपसी सहायता के अन्य “पारंपरिक” गांव-आधारित तरीकों से पूरा किया जाता था। 1908 के फ़ैक्ट्री लेबर कमीशन की भाषा में – “ज्यादातर मामलों में उसकी जरूरतें संयुक्त परिवार प्रणाली में पूरी होती हैं”<sup>26</sup>। 1923 में बंबई के औद्योगिक शहर पर एक आधिकारिक रिपोर्ट में भी कहा गया कि घर-गांव में समय-समय पर जाना “उनके स्वास्थ्य पर लाभकारी प्रभाव डालता है जैसा कि उनके वजन से दिखता है और काम व रहन की स्थितियों के असर को पलट देता है”<sup>27</sup>।

इस तरह के सुझाव उत्तर औपनिवेशिक काल में भी सुनाई देते रहे और शुरू में इस प्रभुत्वशाली सोच में कभी कभार ही दरारें दिखाई देती थीं (कुछ विशेष औद्योगिक क्षेत्रों के सन्दर्भ में और सीमित अवधियों के लिए ही)। पूंजी-प्रधान औद्योगिक उद्यम अपवाद थे, जैसे कि टाटा स्टील, जो 1907 में स्थापित हुआ और 1912 से चालू हुआ, जहाँ कुशल श्रम-बल के स्थिर रोजगार पर मुनाफा निर्भर था और जहाँ साम्राज्य की रणनीतिक जरूरतें दांव पर थीं – जैसे रेलवे और उनकी व्यापक इंजीनियरिंग कार्यशालाएं। यहां प्रथम विश्व युद्ध से पहले भी कल्याणकारी योजनाएं थी, जिसमें आवास और स्वास्थ्य सेवाएं भी शामिल थीं और 1920 के दशक में इसका विस्तार किया गया<sup>28</sup>। अन्य अपवाद भारत के अधिक विशिष्ट श्रम-गहन उद्योगों में भी दिखते थे जहाँ श्रम आपूर्ति की गंभीर अड़चनें औद्योगिक उत्पादन को इतनी अवधि के लिए दबा सकती थी कि पूंजीगत लाभ भी लम्बे समय तक प्रभावित होता। 1890 के अंत में प्लेग के संकट के दौरान मुंबई के सूती वस्त्र उद्योग ने इस तरह की अड़चन का अनुभव किया। इसने उद्योगपतियों को श्रम-बल की गतिशीलता को सीमित करने वाले तरीकों की तलाश करने के लिए प्रेरित किया – जिन तरीकों में कंपनी-स्तरीय कल्याणकारी उपाय और, विशेष रूप से, आवास कार्यक्रम शामिल थे<sup>29</sup>। जब महायुद्ध की परिघटनाओं ने भारत के श्रम बाजारों और उद्योगों पर ब्रिटिश निर्भरता को और अधिक बढ़ा दिया, तो दरारें और व्यापक हो गईं और औद्योगिक श्रम का “कल्याण” पहली बार अखिल भारतीय स्तर पर एक राजनीतिक मुद्दे के रूप में उभरा। एक *भारतीय औद्योगिक आयोग* (1916-1918) नियुक्त किया गया, जिसमें कोई श्रमिक प्रतिनिधि नहीं था, जबकि इसके आधे सदस्य भारतीय या ब्रिटिश उद्योगपति थे। दिलचस्प बात यह है कि आयोग ने अपनी रिपोर्ट में पहले की आम सोच से अपने आप को सावधानीपूर्वक दूर कर लिया – कल्याणकारी सुविधाओं की कमी, जो औद्योगिक श्रम-बल के बीच निराशाजनक स्वास्थ्य स्थितियों को दर्शाती थी, अब प्रतिस्पर्धा के रास्तों में एक बाधा के रूप में पहचानी गई, क्योंकि भारतीय श्रमिकों की सस्ती मजदूरी भी, उनकी कथित कम दक्षता की काट नहीं हो सकती थी:

“जिस अवस्था में इस देश में औद्योगिक कामगार रहते हैं और काम करते हैं, अगर दक्षता को उद्देश्य बनाएं, तो, परिस्थितियों के अनुसार, उसको ठंडे जलवायु वाले देशों के लोगों की अवस्था के करीब लाना होगा। ...समस्या, न केवल नैतिक आधार पर, बल्कि आर्थिक कारणों से भी, कम से कम समय में हल किया जाना चाहिए, अगर भारत के मौजूदा और भविष्य के उद्योगों को निरंतर बढ़ती प्रतिस्पर्धा, जो युद्ध के बाद भी तीव्र रहेगी, के



समक्ष खुद को बनाए रखना है। कोई भी औद्योगिक ढांचा स्थायी नहीं हो सकता, यदि वह इस तरह की बीमार नींव पर तैयार किया गया हो, जिसे भारतीय श्रमिक अपनी वर्तमान परिस्थितियों में सहन कर रहा है<sup>30</sup>।”

हालांकि, नियोक्ताओं के कानूनी दायित्वों को लागू करने के उपायों की सिफारिश से बड़ी सावधानी से बचा गया। फिर भी, “दक्षता” के लिए शर्त के रूप में “कल्याण” का तर्क बना रहा और बाद के वर्षों में बार-बार सामने आता रहा। तदनुसार, अप्रैल 1922 में, एक प्रभावशाली सामाजिक सुधार समाज के मुखपत्र, *द सर्वेंट ऑफ इंडिया*, में प्रकाशित एक रिपोर्ट में भारत के पहले “औद्योगिक कल्याण सम्मेलन” के औचित्य को इस प्रकार बताया गया है:

“कल्याणकारी कार्य जहां भी सही तरीकों से किए जाते हैं मजदूर के लिए वे वरदान और नियोक्ता के लिए बढ़िया व्यावसायिक प्रस्ताव माना गया है। भारत तब तक अन्य देशों के साथ सफलतापूर्वक प्रतिस्पर्धा की उम्मीद नहीं कर सकता जब तक कि भारतीय श्रम की दक्षता का निम्न स्तर काफी बढ़ा हुआ न हो<sup>31</sup>।”

राजनीतिक रूप से उदारवादी सोशल वेलफेयर लीग द्वारा 1922 में बॉम्बे के औद्योगिक जिले में, दो प्रमुख औद्योगिक संस्थाओं, इब्राहिम करीमभाई और टाटा संस द्वारा वित्तपोषित, सम्मेलन का आयोजन किया गया था। इसमें विभिन्न कंपनी-स्तरीय कल्याण संस्थानों, धर्मार्थ समाजों के प्रतिनिधियों के साथ-साथ नियोक्ता संगठनों जैसे बंगाल चैंबर ऑफ कॉमर्स, मिल-ओनर्स एसोसिएशन अहमदाबाद और इंडियन माइनिंग एसोसिएशन ने भाग लिया<sup>32</sup>। महायुद्ध के बाद श्रमिक अशांति के अभूतपूर्व स्तर ने “दक्षता” के साथ सामाजिक “सद्भाव” की चाहत को भी जोड़ा। उदाहरण के लिए, इन वर्षों के दौरान इसने गांधी को कल्याणवाद के लिए एक स्थानीय औचित्य की पेशकश के रूप में पैतृकवादी “ट्रस्टीशिप” के विचार विकसित करने को प्रेरित किया जिसके तहत नियोक्ता नैतिक रूप से अपने कर्मचारियों के मंगल के प्रति खुद बाध्य थे<sup>33</sup>। महायुद्धों के अंतराल के वर्षों के दौरान, औद्योगिक नियोक्ताओं की बढ़ती अल्पसंख्या ने स्वैच्छिक, कारखाने-स्तर की कल्याणकारी योजनाओं को बनाया, जिसमें आवास, क्रेच, शैक्षिक सुविधाओं, रियायती अनाज की दुकानों, ऋण, या औषधालयों की सुविधाओं को प्रदान किया गया और इस तरह सामाजिक पुनरुत्पादन के मुद्दों को संबोधित किया गया। आम तौर पर इन मामूली योजनाओं में अक्सर एक तीव्र अनुशासनात्मक धार होती थी क्योंकि वे उग्रवाद को दबाने और कारखाने के कर्मचारियों के मुख्य तबकों की क्षैतिज (हॉरिजॉन्टल) गतिशीलता को कम करने की कोशिश करते थे। वे विशेष रूप से औद्योगिक रोजगार के बड़े क्षेत्रों में प्रचलित थे, जैसे कि मुम्बई और अहमदाबाद के सूती वस्त्र उद्योग, जहां हड़ताल और यूनियनकरण बढ़ रहे थे और जहां बड़े स्थानीय श्रम बाजार श्रमिकों को, विशेषतः उछाल वाले वर्षों में, बेहतर स्थिति प्रदान करने वाले नियोक्ताओं के पास काम खोजने में सक्षम बना देते थे<sup>34</sup>।

हालांकि, महायुद्धों के अंतराल के वर्षों के दौरान वैधानिक योगदान के आधार पर श्रम-बल के सामाजिक पुनरुत्पादन के कानूनी विनियमन करने वाली सामाजिक नीति का

नियोक्ताओं द्वारा पूर्ण सफलतापूर्वक विरोध किया गया। अन्य देशों की तरह<sup>35</sup>, कामगार क्षतिपूर्ति अधिनियम 1923 (वर्कमेन कोम्पेनसेशन एक्ट) औपनिवेशिक भारत में श्रम कल्याण कानून का पहला नमूना था। इसे 1923 में अधिनियमित किया गया और एक साल बाद लागू किया गया। हालांकि, यूरोपीय और भारतीय कानून के बीच अंतर पहले से ही साफ था, क्योंकि, उदाहरण के रूप में ब्रिटेन की तुलना में, भारत में कामगार के मुआवजे के दायरे को अत्याधिक संकीर्ण रूप से परिभाषित किया गया था। लघु उद्योग और कृषि (बड़े अर्ध-औद्योगिक बगान परिसर सहित) को कानून के दायरे से स्पष्ट रूप से बाहर रखा गया था<sup>36</sup>। कामगार क्षतिपूर्ति अधिनियम के दायरे में आ रहे उन श्रम बाजार क्षेत्र में भी कई बचाव के रास्ते बनाए गए, जिनमें शुरुआत में चालीस लाख से अधिक श्रमिक शामिल नहीं थे<sup>37</sup>। इसके अलावा, इसका कार्यान्वयन सामान्य रूप से जिला मजिस्ट्रेटों के लिए छोड़ दिया गया था; बीस साल बाद भी, कामगारों के मुआवजे के मामलों को निपटाने के लिए विशेष आयुक्त केवल मुंबई में नियुक्त किया गया, जबकि बिहार, बंगाल और मद्रास में श्रम आयुक्तों को कामगारों के मुआवजे के मामले को अतिरिक्त कर्तव्य के रूप में दिया गया<sup>38</sup>। फलतः क्षतिपूर्ति न्यायालय (कोम्पेनसेशन कोर्ट) भारत के कुछ विशाल प्रांतों में शायद साल में केवल दो बार बैठती थी<sup>39</sup>। घायल मजदूर और नियोक्ता के बीच निजी बातचीत विफल होने के बाद ही न्यायिक प्रक्रिया शुरू हो सकती थी, जिससे बिना सलाहकार के मजदूरों के लिए मुआवजे के लिए दावा करना लगभग असंभव हो गया। यह देखा गया है कि घायल मजदूर, "अगर केस लड़ने का फैसला करता है, तो उसे अंग खोने से ज्यादा अपनी नौकरी खोने का जोखिम था"<sup>40</sup>। जब न्यायिक प्रक्रिया चलती भी थी, तब भी प्रदत्त मुआवजों का वास्तविक भुगतान अक्सर लागू नहीं किया जाता था<sup>41</sup>।

अर्थशास्त्र के प्रोफेसर और सरकारी सलाहकार बीपी आदरकार ने जब 1945 में औपनिवेशिक सरकार को "औद्योगिक मजदूरों के लिए स्वास्थ्य बीमा पर रिपोर्ट" जमा की तो उन्होंने कामगार क्षतिपूर्ति अधिनियम को पूरी तरह से हटाने का सुझाव दिया था। चूंकि इस अधिनियम का कार्यान्वयन "संतोषजनक नहीं था", उसकी जगह पर एक एकीकृत स्वास्थ्य योजना लाने की बात कही गयी। दोनों महायुद्धों के अंतराल के काल में बने कई सारे श्रम कल्याण कानून जैसे प्रांत-स्तर के मातृत्व लाभ अधिनियम के बारे में भी उन्होंने इस तरह की बयानबाजी की<sup>42</sup>। 1946 में *श्रम जांच कमेटी* की रिपोर्ट में भी कुछ इसी तरह की बातें कही गयी –

"मातृत्व लाभ कानून का मुख्य दोष यह है कि यह न तो एक समान है और न ही सार्वभौमिक है; प्रसव से पहले, उसके दौरान या उसके बाद मुफ्त चिकित्सा सहायता का कोई प्रावधान नहीं है, और नियोक्ता द्वारा महिला कामगार को गर्भावस्था के पहले संकेत पर ही बर्खास्त करने से रोकने के लिए भी कुछ प्रांतों को छोड़कर कहीं प्रावधान नहीं है।"

रिपोर्ट में यह भी कहा गया कि अधिनियमों के लागू होने के समय महिला कामगारों को अक्सर बर्खास्त कर दिया जाता था और नियोक्ता "अविवाहित लड़कियों, विधवाओं और उन महिलाओं को जो प्रसव उम्र पार कर चुकी हैं को रोजगार देने में अब भी ज्यादा इच्छुक" थे<sup>43</sup>। मई 1945 में भारत सरकार के सचिव एच.सी. प्रिओर ने प्रांतीय सरकारों को जारी एक



परिपत्र में सहमति व्यक्त की कि कामगार मुआवजा और मातृत्व लाभ अधिनियम में गंभीर दोष थे, "जिन्हें बीमा की एक एकीकृत योजना द्वारा ही हटाया जा सकता है"<sup>44</sup>।

भले ही नियोक्ताओं ने कल्याणकारी उपायों के लिए पैसा चुकाने की कानूनी बाध्यता का विरोध श्रम अनुबंध की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप मान कर किया, फिर भी 1920 के दशक के उत्तरार्ध से सामाजिक सुरक्षा कानून की मांग ज्यादा मजबूत हो गई। ब्रिटिश संसद में पेश किए गए *रॉयल कमीशन ऑन लेबर इन इंडिया* की रिपोर्ट ने इस दृष्टिकोण को स्वीकार किया कि शहर और देहात के बीच निरंतर प्रवास चक्र ने भारतीय कारखाने के श्रमिकों को उनके यूरोपीय समकक्षों से अलग किया, लेकिन उस पारंपरिक धारणा का खंडन किया जिसके तहत उन्हें मूलतः किसान समझा जाता था<sup>45</sup>। उन्होंने स्वीकार किया कि "गाँव ने विभिन्न परिवर्तनों के प्रभावों के खिलाफ, जिनसे श्रमिक की कमाई क्षमता कम, बाधित या नष्ट हो सकती है, बीमा का एक उपाय प्रदान किया है"<sup>46</sup>। फिर भी, उन्होंने कहा, "बीमा का यह उपाय" बीमारी की छोटी अवधियों में भी श्रमिकों को कर्ज में गिरने से और "संसाधनों से दीन" होने से, अपने स्वास्थ्य और यहां तक कि निर्वाह के साधन को लेकर कठिनाइयों के बारे में उचित उपाय करने में असमर्थ होने से नहीं बचा पाता<sup>47</sup>। इस प्रकार कमीशन ने नियोक्ताओं के साथ-साथ कर्मचारियों के योगदान द्वारा वित्त पोषित, औद्योगिक श्रमिकों के लिए बीमारी बीमा की प्रणाली के विकास की सिफारिश की<sup>48</sup>। हालांकि, कमीशन के सदस्यों में से एक थे एनएम जोशी, प्रमुख समाज सुधारक, विधायक एवं ट्रेड यूनियन नेता – जिनका जिनेवा में आईएलओ से करीबी रिश्ता था, जो इस बिस्मार्क-शैली की रोजगार आधारित सामाजिक सुरक्षा की संकल्पना से आगे की सोचते थे: फरवरी 1932 में गोलमेज सम्मेलन की परामर्श समिति ने उनके सुझाव की चर्चा की (और "भारत की विशेष स्थितियों के चलते" तुरंत ही खारिज कर दिया) –

"भारत के नए संशोधित संविधान में मौलिक अधिकारों के अध्याय में प्रत्येक नागरिक को, यदि उसके लिए कोई काम उपलब्ध न हो, जन वित्त से सहयोग प्राप्त करने के अधिकार हेतु प्रावधान होना चाहिए, और राज्य बीमा की प्रणाली अथवा किसी और माध्यम से बीमारी, दुर्बलता या वृद्धावस्था के दौरान और महिलाओं के मामले में प्रसव से उचित अवधि पहले और बाद के लिए प्रतिपालन की सुविधा होनी चाहिए"<sup>49</sup>।

विपक्षी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने भी सामाजिक सुरक्षा की मांग का समर्थन किया – 1936-37 में प्रांतीय चुनावों के प्रचार के दौरान इसके घोषणापत्र ने "वृद्धावस्था, बीमारी और बेरोजगारी के आर्थिक परिणाम के खिलाफ सुरक्षा" का वादा किया<sup>50</sup>। 1930 के दशक के उत्तरार्ध में राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा स्थापित एक राष्ट्रीय योजना समिति (एनपीसी) की अध्यक्षता उदारवादी समाजवादी जवाहरलाल नेहरू ने की थी, लेकिन इसमें भारतीय व्यापारियों का एक मजबूत दल भी शामिल था। मई 1940 में, एनपीसी ने संकल्प लिया कि "औद्योगिक श्रमिकों के लिए अनिवार्य और अंशदायी (कंट्रीब्यूट्री) सामाजिक बीमा की प्रणाली को सीधे राज्य के नियंत्रण में स्थापित किया जाना चाहिए, ताकि बीमारी और अपाहिजता के जोखिम से वे उबर सकें"। श्रमिकों के विशेष वर्गों को प्राथमिकता देते हुए स्वतंत्र भारत के लिए परिकल्पित इन और दूसरी सामाजिक सुरक्षा योजनाओं को, "उनकी आवश्यकताओं

की सापेक्ष तात्कालिकता, आवेदन की सुविधा और समुदाय की क्षमता" को ध्यान में रखते हुए, कई चरणों में विस्तारित किया जाना था<sup>51</sup>। इस प्रकार, एनपीसी ने सामाजिक सुविधाओं को, कम से कम शुरुआत में, औद्योगिक रोजगार पर आधारित रखा, उनको संवैधानिक नागरिक अधिकार के रूप में स्थापित करने की कोशिश नहीं की। इस प्रकार इसने एनएम जोशी की सार्वभौमिक सोच के बजाय रॉयल कमीशन ऑफ लेबर रिपोर्ट के अधिक प्रतिबंधित, बिस्मार्क-शैली के दृष्टिकोण को अपनाया।

1937 में अपने विशाल औद्योगिक केंद्रों के साथ मुंबई सहित अधिकांश प्रांतों में राष्ट्रीय कांग्रेस की सरकारों की स्थापना के साथ, मुंबई राष्ट्रवादी श्रम नीति के विकास के लिए एक मुख्य केंद्र के रूप में उभरी। अगस्त 1937 के अपने श्रम कार्यक्रम में, मुंबई सरकार ने पहले ही चुनाव अभियान के दौरान<sup>52</sup> जागी उम्मीदों पर पानी फेर दिया था और उसके श्रम आयुक्त ने कुछ महीनों बाद घोषणा की थी कि बीमारी बीमा की योजना को जिस प्रकार समझा गया है और जिस प्रकार से ब्रिटेन और अन्य विदेशी देशों में इसका कार्यान्वयन हुआ है, उसके सफल संचालन हेतु प्रेसिडेंसी में वर्तमान में वैसी स्थितियां नहीं हैं। प्रारंभिक सावधानी के रूप में, सरकार ने आवश्यक आंकड़े तैयार करने का, औद्योगिक श्रमिकों के लिए तीन से चार सप्ताह की सवेतन बीमारी अवकाश (पेड सिक लीव) को कानूनी करने का, और मजदूरी से कुछ अंश काट कर राज्य-प्रशासित भविष्य निधि बनाने का प्रस्ताव दिया। इन्हें एक सामाजिक बीमा योजना की दिशा में पहले कदम के रूप में देखा गया जिसे औद्योगिक श्रमिकों तक ही सीमित रखा जाना था<sup>53</sup>।

जब औपनिवेशिक सरकार ने राष्ट्रवादी विपक्ष से परामर्श किए बिना सितंबर 1939 में भारत के युद्ध में प्रवेश की घोषणा की, तो कांग्रेस के नेतृत्व वाली प्रांतीय सरकारों ने इस्तीफा दे दिया। 1942 में, नेहरू और अन्य राष्ट्रवादी नेताओं को गिरतार कर लिया गया और एनपीसी ने कार्य करना बंद कर दिया। नीति निर्धारक मंडलों से कांग्रेस का अस्थायी बहिष्कार औद्योगिक श्रमिकों के लिए सामाजिक बीमा पर बहस में, हालांकि, कमी नहीं लाता है। इसके विपरीत, युद्ध के वर्षों के दौरान कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम पर अंततः राजनीतिक प्रक्रिया और तेज हो गई। अगले भाग के बाद हम इस विषय पर लौटेंगे।

### (ग) "कल्याणवादी अंतर्राष्ट्रीयवाद": तार्किक एकता, नियामक अनेकता

कानून निर्माण की प्रक्रिया को पुनर्निरूपित करने के लिए, हमें उन संदर्भों पर पहले विचार करने की आवश्यकता है जिनके तहत इसे आकार मिला — वे संदर्भ वैश्विक, साम्राज्यिक, और उपमहाद्वीप के स्तर के थे। मेरा तर्क है कि बीसवीं सदी के मध्य के भारत में रोजगार-आधारित कल्याणवाद की प्रकृति को केवल तभी समझा जा सकता है जब इन सभी स्तरों की सावधानीपूर्वक जाँच की जाए। हाल के अध्ययनों में अंतर्राष्ट्रीय और ट्रांस-टेरीटोरियल संदर्भों पर ज्यादा जोर दिया गया है — भारत के रोजगार-आधारित कल्याणवाद को या तो सीधे वैश्विक सार्वभौमिक प्रवृत्ति के एक ऐसे दायम उपज के रूप में समझा गया, जिसकी सबसे प्रखर अभिव्यक्ति जिनेवा में अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (आईएलओ) के 1919 के बाद के कन्वेंशनों और सिफारिशों में हुई, या फिर इसे ब्रिटिश कल्याणकारी कानून की व्युत्पत्ति (डेशीवेटिव) के रूप में देखा गया, जो साम्राज्यिक संचार माध्यमों द्वारा

महानगरीय शीर्ष से होता हुआ औपनिवेशिक तराई तक पहुंचा। चाहे प्रधानता अंतर्राष्ट्रीय या साम्राज्यिक सन्दर्भ को दी जाए, मगर जो ऐतिहासिक व्याख्यान दिखाई देता है वह प्रसारवादी पूर्वधारणाओं (दिफुजानिस्ट ऐसम्सन) पर ही आधारित है। जैस्मिन वैन डेले इस तरह की ऐतिहासिक सोच को सही ठहराते हुए, कहती हैं कि जो आईएलओ है, वो एक ऐसा अंतर्राष्ट्रीय संगठन है जो विविध सरकारी और गैर-सरकारी एक्टों वाले एक व्यापक ट्रांस-नेशनल नेटवर्क में, "राष्ट्र-राज्य से ऊपर उठकर, मजदूर सम्बन्धी सोच एवं नीतियों के विकास, फैलाव और प्रसार का काम करता है<sup>54</sup>।"

इस अवधारणा के पीछे दो मान्यताएं हैं जिनकी अलग से जाँच की जानी चाहिए। पहला कि, वे विचार जो जिनेवा जैसे केन्द्रीय स्थान में सोचे गए, उनका केवल प्रसार (ट्रांसमिशन) नहीं होता बल्कि फैलाव (डिफ्यूजन) भी होता है। इससे यह सवाल पैदा होता है कि क्या सामाजिक-सांस्कृतिक अनुवाद की प्रक्रिया के लिए "फैलाव" जैसे अर्ध-प्राकृतिक रूपक का इस्तेमाल ठीक है - उस प्रक्रिया के लिए जो कि विचारों के अंतरण (ट्रान्सफर) के साथ हमेशा होती है और जिसमें अवश्यम्भावी गुणात्मक परिवर्तन भी होते हैं, जब अनुवादक अपने सन्दर्भ में विचारों को ढालता है। दूसरी मान्यता और भी आगे जाती है - केवल विचार ही नहीं, नीतियाँ भी केंद्र (सेंटर) से परिधि (पेरीफेरी) तक "फैलती" हैं। हमारे वर्तमान उद्देश्यों के लिए इन मान्यताओं से अनुभवों के स्तर पर जूझना काफी है: जिनेवा, लन्दन या किसी और जगह पैदा हुए, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर घूमते विचारों का असर भारत में श्रम कल्याण पर हो रही चर्चाओं पर अवश्य ही पड़ा। यह भी सही है कि यूरोपियाई सन्दर्भों में विकसित कुछ विनियामक साधन, जैसे सामाजिक बीमा, भारत के श्रम संसार में भी इस्तेमाल हुए पर अपने ढंग से। हालांकि "अपने ढंग से" का महत्त्व तब साफ होता है जब हम श्रम तंत्र की तरफ ध्यान देते हैं जो मध्य-बीसवीं सदी भारत में श्रम नीति और सामाजिक संघर्ष के नतीजतन पैदा हुआ। तब हम पाते हैं कि एक ही तरह के विचारों के उच्चारण और विनियामक यंत्रों की स्थापना बिलकुल ही अलग तरह की श्रम नीतियों और तंत्रों को पैदा कर सकते हैं।

तब भी चर्चाओं के स्तर पर, पहली नजर में प्रक्रिया के फैलाव की संकल्पना सही लगती है। औद्योगिक समाजों में कल्याण पर, श्रम स्थितियों को लेकर विनियमन द्वारा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर "लेवल प्लेयिंग फील्ड" हासिल करने की आवश्यकता पर<sup>55</sup>, अथवा बाजार की विनाशात्मक शक्तियों पर अंकुश लगाने के लिए राज्य के विनियामक अधिकार पर सार्वभौमिक चर्चाएँ प्रथम विश्व युद्ध के बाद भारत में हो रही घटनाओं के लिए अधिक महत्वपूर्ण हो गईं। महामंदी ने इन चर्चाओं और नीतिगत प्रयासों की शक्ति को और बढ़ा दिया। भारत में काफी हद तक कल्याणकारी सुधार की भाषा और यंत्र सार्वभौमिक कल्याणवादी चर्चाओं से लिए गए थे। वर्साय संधि की उस संस्था (यानि आईएलओ) में दूसरा मत पाने के लिए, अंग्रेजी सरकार ने सफलतापूर्वक "ब्रिटिश भारत" के लिए 1919 में स्थापित अंतर्राष्ट्रीय श्रम संस्थान में अलग सदस्यता मंजूर करवा ली थी<sup>56</sup>। जबकि ब्रिटिश औपनिवेशिक प्रतिष्ठान, राजकीय अधिकारियों, और बड़े पूंजीपतियों की इस शामिलकरण की प्रक्रिया में बहुत रुचि नहीं थी, अंतर्राष्ट्रीय श्रम सम्मलेन जल्द ही भारतीय सामाजिक सुधारकों और राष्ट्रवादी नेताओं और मजबूत होते दक्षिण एशिया के व्यापारिक हितों के लिए औपनिवेशिक राजतंत्र के खिलाफ

हक जमाने के एक अंतर्राष्ट्रीय फोरम बन गए थे<sup>57</sup>। इस नए अंतर्राष्ट्रीय फोरम के आविर्भाव ने युद्धोपरांत 1920 में भारत के प्रथम राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन फेडरेशन, अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (एटक) और कई स्थानीय और औद्योगिक यूनियनों के निर्माण को प्रेरित किया और सुगम बनाया<sup>58</sup>।

नियोक्ताओं द्वारा कार्यस्थल संबंधों में राज्य के "हस्तक्षेप" के पुरजोर विरोध एवं अपनी अनिच्छा के बावजूद, भारत की औपनिवेशिक सरकार को आईएलओ के बढ़ते सम्मेलनों के साथ जुड़ना पड़ा। श्रम कानून पर महायुद्धों के अंतराल में बहस के दौरान, आम तौर पर कानून के वास्तविक तत्व से ज्यादा कानून के दायरे को परिभाषित करने में अधिक ऊर्जा खर्च की गई थी। नियोक्ता, और राज्य के अधिकारी भी, श्रम कानूनों के कार्यान्वयन के क्षेत्र को यथासंभव संकीर्ण रखने का इरादा रखते थे। सामूहिक श्रम कानून और सामाजिक कानून शुरुआत से ही बहिष्करण और भेदभाव की संरचना बन गए: वैचारिक स्तर पर, एक छोटे से "संगठित" श्रमिक तबके को एक विशाल, संभवतः "असंगठित" श्रमिक—बल से अलग कर दिया गया, जबकि व्यावहारिक स्तर पर क्रमिक सामाजिक वर्गीकरण का एक पैटर्न पैदा किया गया। श्रम नीति का यह विशेष रूप आईएलओ के भीतर भी दुनिया की दो—स्तरीय अवधारणा से ही प्रभावित हुआ, जिसने औपनिवेशिक दुनिया को कल्याणकारी नीतियों के दायरे से बाहर रखा<sup>59</sup>।

द्वितीय विश्व युद्ध ने युद्धरत राज्यों की सरकारों को मजदूर वर्गों की वफादारी सुरक्षित करने के लिए व्यापक सामाजिक कार्यक्रम लेने को मजबूर किया और इसी तरह, सामाजिक अधिकारों के सार्वभौमिकरण की प्रवृत्ति को भी सुदृढ़ किया। सार्वभौमिकरण की प्रवृत्ति के दो बहुत अलग—अलग प्रभाव थे: वैश्विक पूंजीवाद के केंद्रों में, अधिक व्यापक कल्याणकारी योजनाओं में आबादी के बड़े अनुपातों को शामिल करने की मुहिम देखी जा सकती है<sup>60</sup>, जबकि दुनिया के अन्य भागों में अतिसंकुचित और खंडित सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रमों की स्थापना हुई। 1944 के आईएलओ की फिलाडेल्फिया घोषणा में भी यह परिलक्षित था जिसने "मातहत" राज्यों या उपनिवेशों सहित, दुनिया के सभी हिस्सों में सार्वभौमिक श्रम मानकों के प्रगतिशील अमल की परिकल्पना की; लेकिन साथ ही यह मान लिया गया कि उनके कार्यान्वयन की समयसूची अलग अलग होगी। इतिहासकार डैनियल मौल ने आईएलओ की नीति में इसे "क्वांटम छलांग" माना है<sup>61</sup>। इस क्वांटम छलांग से पहले भी, 10वें अंतर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन के कन्वेंशनों और सिफारिशों को पारित करते समय (जहाँ सामाजिक सुरक्षा के वैधानिक उपायों की जरूरत पर बात की गयी), आईएलओ ने सामाजिक बीमा योजना की आवश्यकता संबंधी भारतीय बहस को प्रभावित किया था। हालांकि केंद्रीय विधानसभा ने 1928 में भारत के लिए इन कन्वेंशनों की संपुष्टि नहीं करने का फैसला किया था<sup>62</sup>, आईएलओ ने 1930 में रॉयल कमीशन आन लेबर के समक्ष इस मुद्दे पर विस्तृत ज्ञापन पेश किया था<sup>63</sup>। 1945 में, जब स्थितियां ज्यादा अनुकूल थीं, भारत सरकार ने आईएलओ के दो अफसरों को आदरकार की उपरोक्त रिपोर्ट की समीक्षा करने को कहा। उन्होंने सुझाव दिया कि योजना के दायरे को विस्तृत किया जाये और इन्ही सुझावों का नतीजा 1948 का कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम था<sup>64</sup>।

अंतर्राष्ट्रीय प्रक्रिया की उपलिखित रूपरेखा के साथ, ब्रिटिश श्रम नीति के विस्तार अथवा परिच्छेद के रूप में भारत के श्रम और सामाजिक कानून की कथा भी बनाई जा सकती है। उपरोक्त रॉयल कमीशन ऑन लेबर ने 1929—30 में उपमहाद्वीप के श्रमिकों के कार्य और जीवन स्थितियों पर विस्तृत सर्वे किया, बड़े पैमाने पर दस्तावेज तैयार किए और 1931 में ब्रिटिश संसद में विस्तृत नीति सुझावों के साथ रिपोर्ट पेश की, जिसमें औद्योगिक स्वास्थ्य बीमा योजना को तैयार करने के लिए कुछ सतर्क कदम सुझाए गए थे<sup>65</sup>। कमीशन की अध्यक्षता उदारपंथी खेमे के भूतपूर्व सांसद एवं हाउस ऑफ कॉमंस के अध्यक्ष जॉन हेनरी विट्ली कर रहे थे, जिन्होंने 1919 में ब्रिटेन में द्विपक्षीय “संयुक्त औद्योगिक कौंसिल” अथवा “विट्ली कौंसिल” बनाने की मुहिम चलाई थी<sup>66</sup>। 1940 में युद्ध कैबिनेट एवं अंतरिम सरकार के समय भारतीय श्रम राजनीति और भी अधिक ब्रिटेन जैसी लगने लगी थी। सार्वजनिक आवास और किराया नियंत्रण, स्वास्थ्य बीमा और भविष्य निधि की स्थापना, मुफ्त प्रारंभिक शिक्षा और औद्योगिक प्रशिक्षण, यहाँ तक कि बेरोजगारी का मुद्दा — दूसरे शब्दों में, बेवेरिज के पाँच “दुष्ट दानव” — अभाव, बीमारी, अज्ञानता, गंदगी और आलस्य — सभी रोजगार आधारित कल्याणकारी नीति के लक्ष्य के रूप में पहचाने गए<sup>67</sup>। विख्यात मजदूर नेता, विधायक और सामाजिक सुधारक एनएम जोशी ने 1944 में भारत के लिए बेवेरिज योजना की मांग की<sup>68</sup>, जबकि प्रसिद्ध “बॉम्बे प्लान” जिसे उसी वर्ष भारत के अग्रणी उद्योगपतियों ने तैयार किया था, ने भी बेवेरिज के अभिकथन को उद्धरित किया था कि “अगर आलस्य के दानव का विनाश किया जा सके तो पुनर्निर्माण के अन्य सभी लक्ष्यपहुँच के करीब आ जाएँगे”<sup>69</sup>। कहा जाता है कि भारतीय रुढ़िवाद के दबंग नेता वल्लभभाई पटेल ने बीपी आदरकार को, जिन्होंने “स्वास्थ्य बीमा पर रिपोर्ट” तैयार की थी, कुछ हद तक नीचा दिखलाने के लिए “छोटा बेवेरिज” नाम से नामकरण किया था<sup>70</sup>। एक वर्ष बाद विलियम बेवेरिज से सरकारी तौर पर “भारत के लिए सामाजिक सुरक्षा योजना” पर सलाहकार बनने के लिए आग्रह किया गया<sup>71</sup>। बेवेरिज ने निमंत्रण टुकरा दिया — ऊपरी तौर पर इसका कारण अन्य व्यस्तताएँ बताई गईं, परन्तु सच्चाई में भारत सरकार के साथ उनकी भागीदारी के लिए नियमों और शर्तों पर कोई साझी समझ नहीं बन पाई थी। बेवेरिज ने “भारत में अभाव से स्वतंत्रता पर रिपोर्ट”<sup>72</sup> की कल्पना की थी, और वे अपनी जांच को औद्योगिक मजदूरों के लिए सामाजिक सुरक्षा तक सीमित नहीं रखना चाहते थे: “कई कारणों से मुझे औपचारिक सीमा दुर्भाग्यपूर्ण लगती है।” उन्होंने इंगित किया कि अधिकांश भारतीय आबादी के लिए अभाव से स्वतंत्रता को शायद एक नई दिशा लेनी होगी<sup>73</sup>।

इस लेख के पहले भागों में हुई संक्षिप्त चर्चा दर्शाती है कि 1920—40 के दशकों में श्रम नीति संबंधी अंतर्राष्ट्रीय एवं साम्राज्यिक बहसों का “ब्रिटिश भारत” में हो रही बहसों से करीबी संबंध था। बातचीत के स्तर पर, विशेषतः औपनिवेशिक शासन के अंतिम वर्षों के दौरान और उत्तरौपनिवेशिक भारत के प्रारम्भ में, “सामाजिक नीति” का लक्ष्य मजदूरी पाने वाली आबादी का केवल छोटा अंश नहीं, पूरा श्रमिक वर्ग प्रतीत होता था। अवश्य ही अधिक धीमी गति से और अंतरिम स्तरों से गुजरता हुआ, भारत वही रास्ता तय करता नजर आता था जो विश्व के अन्य क्षेत्र, जिसमें ब्रिटिश साम्राज्य का मातृ देश भी शामिल था, तय

कर रहे थे। तब भी, समावेशी ब्रिटिश राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा और अत्यंत विभेदी भारत की कामगार राज्य बीमा योजना, दोनों ही एक ही साल में अस्तित्व में आए और दोनों ने ही विख्यात बेवेरिज रिपोर्ट का हवाला दिया, परन्तु विस्तार-क्षेत्र के मामले बिलकुल ही अलग थे। वे बृहत्तर स्पेक्ट्रम के ऐसे विपरीत छोर पर टिके थे, जिसके एक तरफ नागरिकता की हैसियत के आधार पर सार्वभौमिक सामाजिक अधिकार की कानूनी गारंटी और दूसरी तरफ श्रम बाजार के विशिष्ट तबकों में संकुचित तौर से रोजगार की स्थिति से जुड़ी अल्पसंख्यक कानूनी हकदारी थी। अतः 1948 का वर्ष केवल कल्याणकारी राज्यों के भविष्य पर बहसों के विचित्र सम्मिलन को नहीं, बल्कि सामाजिक नीतियों पर अद्भुत भिन्नता यानि श्रम के सामाजिक विनियमन को लेकर निरपेक्ष पथांतर को भी चिह्नित करता है। तार्किक एकता और नियामक अनेकता के इस विरोधाभास को समझने के लिए हमें उपमहाद्विपीय स्तर पर मुड़ना होगा, और उन शक्ति क्षेत्रों को देखना पड़ेगा जिन्होंने एक खास रोजगार-आधारित सामाजिक नीति की नींव रखी और जिसकी धारावाहिकता उत्तरौपनिवेशिक भारत के पाँच दशकों के बाद तक भी बनी हुई है।

### (घ) आंतरिक विवशताएँ: युद्ध की मजबूरियाँ और औद्योगिक श्रम प्रक्रिया

1930 के दशक तक आते-आते, भारतीय मुख्यधारा की राजनैतिक मुद्दों में औद्योगिक मजदूरों के लिए अनिवार्य स्वास्थ्य बीमा शामिल हो गई थी। दिल्ली प्रांत के अंग्रेज मुख्य स्वास्थ्य अफसर ने, 1938 की अपनी रिपोर्ट में, इस प्रकार उस विचार का खुलासा किया जिसका तब तक जाने माने रुढ़िवादी औपनिवेशिक प्रतिष्ठानों में भी प्रभाव पड़ने लगा था:

“आज विश्व के अन्य भागों में उद्योगपति निश्चिन्त हैं कि बीमारी भत्ता केवल सामाजिक कल्याण का माप नहीं है बल्कि एक स्वस्थ कारोबारी प्रस्ताव भी है। हालांकि समस्या जटिल है, सरकार इस दृष्टि की उपेक्षा नहीं कर सकती। उद्योगपति उत्पादन के आधार पर सोचते हैं; सरकार को राष्ट्र के स्वास्थ्य के आधार पर सोचना चाहिए”<sup>74</sup>।

हालांकि टालमटोल चलती रही जिसकी वजह से बीमारी के सन्दर्भ में बीमाओं को लेकर आईएलओ के 1927 के कन्वेंशन को नहीं लागू करने का और 1931 के रॉयल कमीशन के तदनुसार सुझावों को न मानने का फैसला उसी साल सरकार ने ले लिया<sup>75</sup>। तब भी, यह मुद्दा दब नहीं सका और दो वर्ष बाद ही 1940 में फिर से उभरा। यह अकस्मात नहीं था, क्योंकि युद्ध ने पूरा खेल ही बदल दिया। ब्रिटेन युद्ध के साधनों जैसे सैन्य श्रम-बल और कृषि उत्पादों के साथ-साथ औद्योगिक उत्पादों – विशेषतः कपड़ों और गोलाबारूद, के लिए भारत पर निर्भर था<sup>76</sup>। 1939 और 1945 के बीच सैन्यबल, कारखानों, खदानों और रेलवे में रोजगार दुगुना हो गया, यानि 30 से बढ़कर 62 लाख हो गया, जिसमें कारखानों में ही रोजगार 17.5 से बढ़कर 26.4 लाख हो गया<sup>77</sup>।

भारतीय संसाधनों पर औपनिवेशिक शासन की बढ़ती निर्भरता और भारतीय प्रजा के बीच उनकी घटती राजनीतिक पैठ, दोनों ही साथ साथ हो रहे थे: साम्राज्यिक शासन की वैधता और सत्ता धूमिल हो रही थी और यह भावना भी फैल रही थी कि उसके दिन अब गिने-चुने हैं<sup>78</sup>। साथ ही, युद्ध के दौरान राज्य एक प्रमुख औद्योगिक नियोक्ता के रूप में



उभरा जब कारखाना मजदूरों की संख्या में इसका हिस्सा आठ से सत्रह प्रतिशत तक बढ़ गया<sup>79</sup>। एक तरफ बड़े पैमाने पर और अत्यधिक गोचर नियोक्ता के रूप में, और दूसरी तरफ कानूनी विनियमन के स्रोत के रूप में, इस नई दोहरी भूमिका ने नए दबावों के साथ-साथ श्रम नीति के संबंध में संभावनाएं पैदा कीं। युद्ध के पहले तीन वर्षों में मुद्रास्फीति और वास्तविक मजदूरी में तीस प्रतिशत की गिरावट<sup>80</sup> ने औद्योगिक तनाव को अत्यधिक बढ़ा दिया, जिसका सामना आपातकालीन कानूनों द्वारा किया गया। लेकिन इसके साथ बेहद शहरीकृत और स्थानिक रूप से केंद्रीकृत कारखाना श्रमिकों को भविष्य की रियायतों के वादे भी देने की आवश्यकता पड़ गई<sup>81</sup>।

इस तनावपूर्ण और अनिश्चित राजनीतिक स्थिति ने विरोधाभासी रूप से रूढ़िवादी औपनिवेशिक प्रशासन के भीतर सुधारवादी ताकतों को अपना नीतिगत कौशल दिखाने के लिए व्यापक स्थान प्रदान किया। इसने उन्हें कुछ हद तक, ब्रिटिश प्रवासी पूंजी और भारतीय बड़े कारोबारियों की चिंताओं को दरकिनार करने में मदद की – संपत्ति की पवित्रता और संविदात्मक स्वतंत्रता संबंधी चिंता ने दशकों से सामूहिक श्रम कानूनों और अनिवार्य कल्याणकारी योजनाओं को रोक रखा था। अगस्त 1942 में, जब उग्र राष्ट्रवादी भारत छोड़ो आंदोलन को आरम्भ में ही औपनिवेशिक राज्य की सम्पूर्ण दमनकारी ताकत का तत्काल सामना करना पड़ रहा था, ब्रिटिश युद्ध मंत्रिमंडल में शामिल दो लेबर पार्टी सदस्य, रिचर्ड स्टैफोर्ड क्रिप्स और अर्नेस्ट बेविन, ने दमन के साथ युद्ध के प्रयास में भारतीय श्रमिकों और किसानों के समर्थन को सुरक्षित करने के लिए "अधिक प्रगतिशील सामाजिक और औद्योगिक नीति" का प्रस्ताव पेश किया। प्रारंभ में, इस प्रस्ताव के पक्ष में प्रधानमंत्री विंस्टन चर्चिल भी लग रहे थे। परन्तु ब्रिटिश इंडिया के औपनिवेशिक प्रशासन ने, जिसका प्रतिनिधित्व युद्ध मंत्रिमंडल में राज्य सचिव कर रहे थे, इसका कड़ा विरोध किया क्योंकि वे ऐसी योजनाओं को राजनीतिक रूप से उल्टा असर डालते हुए देखते थे और आर्थिक रूप से अलाभकारी मानते थे। ब्रिटिश युद्ध मंत्रिमंडल के भारतीय सदस्यों, अतुल चटर्जी और रामासामी मुदलियार, ने एक दूसरे के विपरीत विचार रखा। रामासामी मुदलियार ने वायसराय और राज्य सचिव के रुख का पुरजोर समर्थन किया।

आधिकारिक बहस फिर भी एक साल तक जारी रही और इसी की छत्रछाया में भारतीय औद्योगिक श्रमिकों के लिए सामाजिक बीमा योजना के प्रति पहले की रुकावट आखिरकार दूर हो गई<sup>82</sup>। बीआर अंबेडकर, जो कि दलित नेता थे और उस समय भारत सरकार के लेबर सदस्य थे, ने इस अवसर का श्रम सुधारों को आगे बढ़ाने में उपयोग किया – जो हमेशा रूढ़िवादी औपनिवेशिक प्रतिष्ठान की पसंद का नहीं था। दिसंबर 1945 में भी, वायसराय लॉर्ड वेवेल ने भारत के लिए नियुक्त राज्य सचिव से शिकायत की कि अंबेडकर ने "औद्योगिक श्रमिकों के लिए समय से पहले बीमा और सामाजिक सुरक्षा की एक एकीकृत योजना" शुरू कर दी थी<sup>83</sup>। फिर भी, ठीक उसी समय जब वेवेल ने एक गुप्त पत्र में अपने संदेहों को रखा, अंबेडकर ने युद्ध वर्षों में हुई नीतिगत बदलाव को सार्वजनिक रूप से अभिव्यक्त किया और कहा: "उचित औद्योगिक संबंधों का रखरखाव एक सार्वजनिक मुद्दा है और वह मात्र नियोक्ता और कामगार के बीच अनुबंध का मामला नहीं है"<sup>84</sup>। ऐसा नहीं है

कि व्यावसायिक प्रतिनिधियों या औपनिवेशिक प्रशासकों ने अनिवार्य स्वास्थ्य बीमा योजना की शुरुआत का विरोध करना बंद कर दिया था। लेकिन 1942 से, सांस्कृतिक अनुचितता और राजनैतिक अर्थशास्त्र के सिद्धांतों के आधार पर जो पहले विरोध होता था उसकी जगह, औद्योगिक स्वास्थ्य बीमा की आवश्यकता को अनिच्छा से स्वीकार किए जाने, पैर-खींचने वाली और छलावे की रणनीति ने ले लिया। इसकी विस्तार से चर्चा हम बाद में करेंगे।

कारखाने के श्रमिकों के लिए अनिवार्य स्वास्थ्य बीमा की ऐतिहासिक संभावना और अंत में बनी योजना की विशेषताओं के इन दोनों सवालों को केवल युद्धकाल की राजनीतिक शक्ति समीकरणों के परिवर्तन की नजर से नहीं समझा जा सकता है। यह संभावना बदलते औद्योगिक श्रम प्रक्रियाओं के उन संदर्भ से भी निकली है, जो भर्ती और सामाजिक प्रजनन के रूपांतरित तरीकों पर निर्भर थी, जो 1910 के दशक से ही दिखना शुरू हुई थी। अगर भारतीय औद्योगिक आयोग ने भारतीय उद्योग के "सुव्यवस्थितकरण" और "दक्षता" को प्रथम विश्व युद्ध के दौरान शाही नीति के मुद्दे के तौर पर उठाया था, तो यह एक संयोग मात्र नहीं था, बल्कि औपनिवेशिक काल के अंतिम चरण में भारतीय उद्योग के विखंडित, धीमा और विकलांग परिवर्तन का द्योतक था। यह परिवर्तन हमारी जांच के उद्देश्यों के लिए महत्वपूर्ण है: श्रम प्रक्रियाओं के "सुव्यवस्थितकरण" का केवल कार्यस्थल पर श्रम की तैनाती के लिए महत्त्व नहीं है, बल्कि अवश्यम्भावी रूप से कार्यस्थल के बाहर भर्ती और पुनरुत्पादन के तौर-तरीकों के लिए भी है। इस निबंध में, मैं केवल भारत के कारखाना व्यवस्थाओं की इस परिवर्तन के चार वाहक शक्तियों का संक्षिप्त रूप से विवरण दे सकता हूँ, जो अल्पसंख्यकवादी कल्याणवाद के विशिष्ट रूप के उद्भव के लिए महत्वपूर्ण संदर्भ देते हैं: युद्ध अर्थव्यवस्था की आवश्यकताएं, वैश्विक कपड़ा बाजार में प्रतिस्पर्धा, श्रम संघर्षों की तीव्रता, और भारतीय उद्योग का विविधीकरण।

इन वाहक शक्तियों में से पहले की ओर मुड़ते हुए हम पाते हैं कि बीसवीं सदी के विश्व युद्धों ने न केवल राज्यों और सामाजिक नीतियों को बदला, बल्कि श्रम की बढ़ी हुई मांग और श्रम उत्पादकता के लिए व्यापक चिंता को भी जन्म दिया। युद्धरत राजतन्त्र को भारत में औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि और विविधीकरण की आवश्यकता थी, जबकि, मशीन बनाने वाले घरेलू उद्योग के अभाव में, औपनिवेशिक संदर्भ में मौजूदा तकनीकी उत्पादन आधार का बड़े पैमाने पर नवीकरण कोई संभव विकल्प नहीं था<sup>85</sup>। इन स्थितियों में उत्पादन में वृद्धि का नतीजा श्रम की बढ़ती मांग होती है जो गंभीर, विखंडित और अस्थायी अड़चनें पैदा करती हैं। इसलिए यह संयोग नहीं था कि तब तक के श्रम परिणियोजन के लाभकारी व्यवहारों को बेकार माना गया और प्रथम विश्व युद्ध के दौरान "सुव्यवस्थितकरण" की समस्या उभरी। जैसा कि अन्ना सेलर ने बंगाल जूट उद्योग पर हाल ही में एक शोध प्रबंध में दिखाया है कि, नियोजित इसमें और अन्य उद्योगों में भी ऐसी कारखाना व्यवस्था व्यवहार में लाए जा चुके स्तरों की उत्पादकता के बावजूद उच्च मुनाफा पैदा करती थी। ऐसा न केवल अचल पूंजी में निवेश के निम्न स्तर के कारण था, बल्कि मशीनों को संचालित करने के लिए तकनीकी रूप से जरूरी श्रमिकों से अधिक श्रमिक नियोजित करने वाले एक नियमित पैटर्न के कारण भी था। श्रमिकों को समूह के रूप में छोटे श्रम ठेकेदारों (तथाकथित सरदारों) के माध्यम से



भर्ती और पर्यवेक्षण किया जाता था, जो कारखाना प्रबंधन को व्यक्तिगत श्रमिक के काम की बारीकी से निगरानी करने से रोकता था। श्रम बाहुल्य की स्थितियों में, हालांकि, अनुबंध श्रम और अतिरिक्त रोजगार की इस प्रणाली के तहत तुलनात्मक रूप से बहुत कम मजदूरी का भुगतान करने की जरूरत होती है क्योंकि कारखाने के आंतरिक श्रम रिजर्व रोजगार पैटर्न के परिणामी अस्थिरता को संभालने में मदद करते हैं: औद्योगिक इलाकों और दूर-दराज के ग्रामीण क्षेत्रों के बीच प्रवास चक्र से जुड़े श्रमिकों के परिवर्तन का उच्च दर और बीमारी, कई तरह के निर्वाह के तरीकों, या अन्य कारणों से "अनुपस्थिति" की समस्या को इस तरीके से बिना उत्पादन प्रक्रिया में खलल के निपटा जा सकता है<sup>86</sup>। यह महत्वपूर्ण है कि "दक्षता" बढ़ाने और औद्योगिक श्रमिकों की क्षैतिज गतिशीलता को कम करने से जुड़े मुद्दों को भारतीय औद्योगिक आयोग द्वारा 1916 और 1918 के बीच उठाया गया था; यह वही समय था जब युद्ध से संबंधित श्रम अभाव, अधिक गहन एवं कम बेकार जाने वाली श्रम प्रक्रियाओं की मांग करती दिखाई दे रही थी<sup>87</sup>। पहले विश्व युद्ध के बाद पुरजोर ढंग से नियोक्ताओं के बीच जूट और सूती वस्त्र उद्योगों में अधिक उत्पादक लेकिन अधिक महंगी डबल शिफ्ट व्यवस्था लाने पर चर्चा की जा रही थी<sup>88</sup>।

इस परिप्रेक्ष्य में, दूसरे विश्व युद्ध के दौरान कल्याणकारी योजना संबंधी बढ़ती बहसों को भी समझा जा सकता है; यह वही समय था जब औपनिवेशिक सरकार युद्ध के बढ़ते खर्चों के कारण अभूतपूर्व कर्ज में डूब गई थी। उत्पादकता का मुद्दा एक बार फिर से दूसरे विश्व युद्ध के दौरान राजनीतिक सत्ताधारियों के लिए सवाल बन रहा था: जबकि भारत के कारखाना मजदूरों की संख्या, जैसा हम देख चुके हैं, 1939 और 1945 के दौरान लगभग पचास प्रतिशत बढ़ी, औद्योगिक उत्पादन में बढ़ोत्तरी केवल 20 प्रतिशत हुई<sup>89</sup>। यह वह समय था जब "अनुपस्थिति" – जिसको नियोजित श्रमिकों की गैर-उपस्थिति के कारण "मैनशिफ्ट्स" के नुकसान के रूप में परिभाषित किया गया था – नियोक्ताओं और राज्य के अधिकारियों दोनों के लिए (अधिक श्रम आपूर्ति के साथ-साथ) औद्योगिक "दक्षता" की समस्या के रूप में नजर आ रही थी। भारतीय उद्योग में निम्नस्तरीय औद्योगिक स्वास्थ्य को "अनुपस्थिति" की उच्च दर के मुख्य कारणों में से एक माना जाने लगा<sup>90</sup>। प्रबंधकीय मुद्दे के रूप में "अनुपस्थिति" की देर से खोज का नतीजा यह था कि उस समय अधिकांश उद्योगों के लिए प्रासंगिक आँकड़े अनुपलब्ध थे और लंबे समय से स्थापित सूती कपड़ा उद्योग के मामले में भी जो उपलब्ध थे वे अविश्वसनीय माने जाते थे<sup>91</sup>। युद्ध के वर्षों के दौरान, भारत सरकार ने कारखानों से अनुपस्थिति पर मासिक विवरण मांगना शुरू किया, लेकिन प्रतिक्रियाएँ असमान और बिखरी हुई थीं<sup>92</sup>। हालांकि, 1947 तक कंपनी के स्तर पर "बीमारी के कारण अनुपस्थिति" का ब्यौरा भारतीय कारखानों में कार्मिक प्रबंधन का एक मापदंड बन गया था<sup>93</sup>। इसके साथ ही, श्रम मंत्रालय के मासिक भारतीय श्रम राजपत्र (इंडियन लेबर गजेट) में प्रकाशित आंकड़े आर्डिनेंस, सीमेंट और माचिस के कारखानों के साथ मद्रास प्रांत के कपड़ा उद्योग में "बीमारी एवं दुर्घटना" और "अनुपस्थिति" के अन्य कारणों में अंतर करने लगे<sup>94</sup>। ज्यादा से ज्यादा नियोक्ता द्वारा समस्या की तात्कालिकता को स्वीकार किया गया था, यहां तक कि उन उद्योगों में भी जहां रोजगार नीतियों ने लंबे समय तक सस्ते, विनिमेय और उतार-चढ़ाव वाले कार्यबल पर भरोसा किया था। उदाहरण के लिए, लुडलो जूट

कंपनी, जिसके हावड़ा जिले के चेंगेल में तीन मिल थे, ने "चिकित्सा अधिकारी" नियुक्त किया और "कुशल" और "अकुशल" श्रमिकों के बीच अंतर कर "अनुपस्थिति" का ब्यौरा "चिकित्सा" और "गैर-चिकित्सा आधार" पर बनाना शुरू किया<sup>95</sup>। इस प्रकार विश्व युद्धों ने नियोक्ताओं और राज्य के अधिकारियों को स्वास्थ्य मानकों और उत्पादकता के स्तरों के बीच करणीय संपर्क को मानने को मजबूर किया। फिर भी, जब युद्ध का समाज पर असर बंद हो गया और राजनीतिक स्वतंत्रता ने राष्ट्र-निर्माण और नियोजन के एक युग का उद्घाटन किया, आधिकारिक चर्चाओं में "अनुपस्थिति" को, "श्रम कल्याण की एक महत्वपूर्ण समस्या और श्रम अशांति तथा राष्ट्रीय उत्पाद में कमी के एक मूल कारण के रूप में" देखना जारी रहा<sup>96</sup>।

भारत में कारखाना व्यवस्थाओं के परिवर्तन की दूसरी और तीसरी वाहक शक्तियाँ – वैश्विक प्रतिस्पर्धा और श्रम संघर्ष – महायुद्धों के बीच के वर्षों में एक साथ ही सक्रिय हुईं और शोध की वर्तमान स्थिति में सटीकता के साथ यह तय करना नामुमकिन है कि उनमें से किसने अधिक प्रभाव डाला। 1920 के दशक के शुरुआती वर्षों की अल्पकालिक युद्धोपरांत उछाल के सिमट जाने के बाद ही भारतीय उद्योग और विशेष रूप से इसका सबसे बड़ा घटक, सूती कपड़ा उद्योग, वैश्विक प्रतिस्पर्धा के खतरे को महसूस करने लगा था। उसे जापानी उद्योगपतियों ने तेजी से मात कर दिया और भारतीय उद्योग को सूती धागे और वस्त्रों के निर्यात बाजार से, विशेषतया महत्वपूर्ण चीनी बाजार से, बाहर कर दिया। इसके कारण "युक्तिकरण" (रेसनेलिजेसन) के लिए सरकारी मांगे अधिक आग्रही हो गईं। प्रारंभ में, हालांकि, जैसा कि राज चंदावरकर ने अपने शुरुआती काम में दिखाया, मुंबई के शक्तिशाली कपास उद्योगपतियों ने इन मांगों का केवल दिखावटी समर्थन किया। इसके बजाय, उन्होंने संरक्षणवादी सीमा शुल्क नीति में राहत देखी, जिसके लिए उन्होंने औपनिवेशिक सरकार पर ठोस दबाव डाला: 1927 से, टैरिफ कानूनों के माध्यम से कपास के सामानों पर पचहत्तर प्रतिशत तक के भारी आयात शुल्क लगाए गए जिसकी वजह से, कुछ हद तक, घरेलू बाजार की बढ़ती प्रतिस्पर्धा से जापानी और चीनी प्रतिद्वंद्वियों को दूर करने में सफलता मिली। दिलचस्प बात है कि इसे ब्रिटिश-भारत सरकार के प्रतिनिधियों ने "अनुचित" बताया क्योंकि ऐसा करना अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित श्रम मानकों की अवहेलना थी<sup>97</sup>। मुंबई के सूती वस्त्र उद्योग में "सुव्यवस्थितकरण" का अर्थ शायद ही कभी मशीनों का आधुनिकीकरण होता था, वह मुख्य रूप से काम के बोझ को बढ़ाता था, और तदनुसार मजदूरी और रोजगार में गिरावट होती थी। इससे चूँकि श्रम अशांति उग्र होती थी, नियोक्ता इसे सीमित रूप से ही लागू कर सकते थे<sup>98</sup>। "सुव्यवस्थितकरण", 1930 के दशक से, हड़तालों का जवाब भी था, जब छोटे ठेकेदारों के माध्यम से श्रम प्रबंधन का पुराना तरीका मुंबई के 240,000 कपड़ा श्रमिकों के बीच अशांति को रोकने में सक्षम नहीं रहा। "सुव्यवस्थितकरण" का, इस संदर्भ में, अर्थ था भर्ती और तैनाती के अधिक प्रत्यक्ष और केंद्रीकृत रूप, जो "मुसीबत-निर्माताओं" को मात देने और श्रमिकों के उग्रवादी हिस्सों के प्रतिरोध को तोड़ने के अवसर देता था<sup>99</sup>। नई सांख्यिकीय सामग्री का उपयोग करते हुए, बिष्णुप्रिया गुप्ता ने चंदावरकर के विश्लेषण की पुष्टि यह दिखाते हुए की, कि जिन औद्योगिक केंद्रों में यूनियन कमजोर थी, और जहाँ कम मजदूरी के चलते श्रम भर्ती और तैनाती के पुराने (बिचौलियों के माध्यम वाले) रूपों को जारी रखना आसान था, उनके मुकाबले मुंबई और अहमदाबाद के औद्योगिक इलाकों

में, जहाँ यूनियन अधिक मजबूत थे, श्रम उत्पादकता ज्यादा तेजी से बढ़ी<sup>100</sup>। 1930 के दशक के अंत में, और 1940 के दशक में (युद्ध और युद्ध के बाद वाले वर्षों में) तेजी से जब नियोक्ताओं ने "सुव्यवस्थितकरण" की योजनाओं पर विचार किया, तब श्रम उत्पादकता बढ़ाने की आवश्यकता को भी अधिक महत्व मिला<sup>101</sup>। इस प्रयोजन के लिए भी, कार्यबल पर अधिक प्रत्यक्ष और निरंतर प्रबंधकीय नियंत्रण की धारणा सबसे सस्ते और सबसे व्यवहार्य समाधान के रूप में उभरी, मुख्य रूप से श्रमिकों की भर्ती और तैनाती प्रक्रिया को पुनर्संगठित कर "सुव्यवस्थितकरण" को लागू किया गया। यानि उद्योग के तकनीकी आधार में परिवर्तन लाने का सवाल तुलनात्मक रूप से उपेक्षित ही रहा।

भर्ती और तैनाती के नए तरीकों से कुशल केन्द्रीय श्रम-बल का स्थायीकरण हुआ। ऐसा स्थायीकरण उस समय संभव हुआ जब कारखाने के श्रमिकों के प्रवास चक्र के पैटर्न में स्पष्ट रूप से गिरावट आ रही थी: श्रम जांच समिति की 1946 की रिपोर्ट ने इस प्रकार रॉयल कमीशन के 1931 वाले निष्कर्षों को स्पष्ट रूप से संशोधित किया, जब उन्होंने यह बताया कि कृषि में केवल कुछ औद्योगिक श्रमिक ही सक्रिय रूप से शामिल थे, गाँव से सम्बंध की निरंतरता भी ज्यादातर सामाजिक सरोकार के लिए कुछ दिन की मात्र यात्रा हो गई थी और प्रवासी श्रमिक बीमारी या दुर्बलता की स्थिति में मुख्य रूप से औद्योगिक केंद्रों में किफायती विकल्पों के अभाव के कारण अपने मूल गाँव लौटते थे<sup>102</sup>। इन स्थितियों में, इन औद्योगिक केंद्रों में अधिकांशतः मिल मालिक फ़ैक्ट्री-स्तरीय कल्याणकारी सुविधाएँ उपलब्ध कराते थे, क्योंकि यह सीधे तौर पर नियोजित और पर्यवेक्षित केन्द्रीय कार्यबल की क्षैतिज गतिशीलता को कम करने का एक साधन था<sup>103</sup>। दीर्घकालिक कामगारों के इस "स्थिर" कोर के साथ बदली या स्टैंड-बाय मजदूरों के एक अर्ध-स्थिर रिजर्व पूल को जोड़ा जाता था। मुंबई में, "बदली नियंत्रण योजना" 1935 में बॉम्बे मिल ओनर्स एसोसिएशन द्वारा लागू की गई थी, जो छोटे लेबर कॉन्ट्रैक्टर या सरदार के स्वायत्त शक्ति को कम करती थी और अस्थायी या बदली श्रमिकों को उद्योग में सप्लाई करती थी। यह योजना इस पूरक कार्यबल की भी आवाजाही को कम करने की कोशिश करती थी, ताकि प्रत्यक्ष नियोक्ता नियंत्रण बढ़ा सके। तदनुसार, बदली कामगार को अब से व्यक्तिगत रूप से पंजीकृत होना पड़ता था और दैनिक भर्ती के लिए उन्हें उपलब्ध रहना आवश्यक था। यद्यपि उनके मुआवजे और सुविधाएँ कुशल कामगारों के स्थायी दल की तुलना में काफी कम थी, फिर भी उन्हें अपने से अधिक अस्थिर "सामान्य" शहरी कार्यबल (जिन्हें अभी भी बड़े पैमाने पर प्रवास चक्र में फंसा हुआ माना जाता था), से अलग चिह्नित किया जाता था। वे, सच्चाई में, एक नियमित आरक्षित बल के रूप में काम करते थे जिसे "परिवीक्षा की प्रणाली" में रखा गया था; उनमें से केवल कुछ ही अंततः केन्द्रीय कार्यबल में शामिल हो पाते थे<sup>104</sup>।

आंशिक स्थायीकरण और परिधीय एवं केन्द्रीय कार्यबल के अधिक प्रत्यक्ष प्रबंधकीय नियंत्रण के माध्यम से उत्पादकता बढ़ाने की यह प्रवृत्ति उद्योगों में बेहद असमान ढंग से फैली हुई थी – कोयला खनन उद्योग को एक विपरीत उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है जहां औपनिवेशिक शासन के अंत से पहले बुनियादी सामाजिक ढांचे पर बहुत कम खर्च किया गया था – इस उद्योग में चक्रीय प्रवास प्रमुख पैटर्न रहा, और यहाँ कार्यबल

के छोटे अति विशिष्ट वर्गों के लिए योजनाओं को छोड़कर नियोक्ता किसी भी अन्य प्रकार के कल्याणवाद का विरोध करते रहे<sup>105</sup>। श्रम जांच समिति ने इस राय के साथ सहमति व्यक्त की कि भारत के अधिकांश उद्योगपति "कल्याणकारी कार्यों को समझदार निवेश के बजाय बंजर दायित्व मानते हैं"<sup>106</sup>। फिर भी, भारत के बड़े पूंजीपतियों का एक बड़ा हिस्सा — हालांकि वह किसी भी उस अनिवार्य कल्याणकारी योजना के खिलाफ था, जिसमें नियोक्ता के योगदान की आवश्यकता होती थी — कार्यबल के अधिकाधिक हिस्सों को स्थायी बनाने के लिए कारखाने-स्तर के कल्याणकारी योजनाओं में असमान हकदारियों की अनुशासनात्मक संभावनाओं के साथ प्रयोग कर रहा था<sup>107</sup>। 1943 में, बंगाल चैंबर ऑफ कॉमर्स के अतिरुद्धिवादी सदस्यों के बीच भी प्रमुख पूंजीपतियों के मतभेद सामने आए। कोयला और बागान उद्योगों के प्रतिनिधियों ने पुरानी दलील दोहराई कि कल्याणकारी योजनाएँ काफी हद तक प्रवासी मजदूर आबादी के लिए अनुपयुक्त थीं। वहीं दूसरे नियोक्ताओं को डर था कि अंशदायी सामाजिक बीमा के जरिए श्रमिकों के हक का सृजन पूंजी और श्रम के बीच टकराव के नए अवसर पैदा कर सकता है। फिर भी, अन्य बंगाल-आधारित व्यवसायी न केवल एक व्यापक अंशदायी भविष्य निधि योजना के, बल्कि राज्य की एक मजबूत भागीदारी के पक्ष में थे — न केवल योगदान करने के लिए बल्कि योजना के प्रशासन को संभालने के लिए भी — पक्ष में थे<sup>108</sup>। 1946 में, भारतीय जूट मिल एसोसिएशन ने एक पेंशन योजना की घोषणा की, जो कम से कम छह साल से चर्चा में थी: इसका दायरा, हालांकि, कार्यबल के बहुत छोटे हिस्से तक ही सीमित था जिसमें केवल वे पुरुष और महिला श्रमिक आते थे जिन्होंने लगातार क्रमशः तीस और पच्चीस वर्षों से एक ही "एजेंसी" (उद्यम) की मिलों में काम किया था<sup>109</sup>।

विभेदक हकदारी की संरचना की स्थापना और औद्योगिक कार्यबल के भीतर परिणामस्वरूप बढ़ती विभेदीकरण की प्रक्रिया वि-महिलाकरण की प्रक्रिया के साथ-साथ हो रही थी। महिलाओं को अधिकाधिक केवल आकस्मिक रोजगार तक सीमित रखा गया या फिर बिलकुल ही हाशिए पर डाल दिया गया। मुंबई कपड़ा उद्योग में, महिला रोजगार के अनुपात में महत्वपूर्ण गिरावट, जो 1927 में 19.4 प्रतिशत से घटकर 1950 में 8.5 प्रतिशत हो गई, के साथ युक्तिकरण और मानकीकरण की प्रक्रियाएं चलीं। कुल मिलाकर, भारतीय कारखानों में महिलाओं का रोजगार 1927 में 16.95 प्रतिशत से 1949 में 11.33 प्रतिशत हो गया<sup>110</sup>। इससे पहले कि वे उत्तर-औपनिवेशिक कानून के माध्यम से प्रामाणिक रूप ग्रहण करता, सीमित औपचारिकता और अल्पसंख्यकवादी कल्याणवाद की राजनीति ने इस तरह फौवरी स्तर पर भौतिक अभिव्यक्ति पाई। 1940 के दशक के उत्तरार्ध से कपड़े के साथ-साथ अन्य उद्योगों में गैर-अस्थायिकरण (दीकेजुवेलाईजेसन) की योजनाओं को अधिक कठोरता से लागू किया गया<sup>111</sup>। ये योजनाएं कंपनी के स्तर पर अब कानूनी रूप से अनिवार्य "स्थायी आदेशों" (स्टैंडिंग ऑर्डर्स) के साथ मिलकर, रोजगार के सूक्ष्म वर्गीकृत पैमानों और उनके अनुसार विभेदक हकदारी के पैमानों को परिभाषित करने के लिए महत्वपूर्ण थीं<sup>112</sup>। अतः उन्होंने संकीर्ण रूप से परिभाषित अल्पसंख्यक श्रमिक कल्याणवाद के निर्माण के लिए मंच प्रदान किया: ऐसी रोजगार-आधारित सामाजिक नीति जो श्रम-बल के छोटे हिस्से जिनमें

अधिकांश पुरुष थे तक निरंतर सीमित थी।

हालाँकि मेरा वर्तमान जोर व्यावसायिक रणनीतियों के महत्व और श्रम प्रक्रिया में बदलाव पर है यह स्पष्ट है कि जब नए श्रम तंत्र को आकार मिल रहा था, तब श्रम संघर्षों के प्रभाव को हमेशा महसूस किया जा सकता था। मुंबई वस्त्र उद्योग में "सुव्यवस्थितकरण", जैसा कि हमने देखा, अधिकांशतः बढ़ते श्रमिक उग्रवाद के खिलाफ प्रतिक्रिया थी, परन्तु उसने इस उग्रवाद को अभूतपूर्व स्तर तक बढ़ा दिया। 1930 के दशक के बाद से महिलाओं ने श्रमिकों की लामबंदी में बढ़ती भूमिका निभाई, लेकिन "औपचारिक" नौकरियों में "पारिवारिक मजदूरी" को पुरुष मजदूर के साथ जोड़ने वाली नीति ने उन्हें हाशिए पर डाल दिया, जिसमें अक्सर ट्रेड यूनियनों का समर्थन होता था<sup>113</sup>। इसी तरह, हड़ताल आंदोलनों और यूनियन संगठित करने की प्रक्रियाओं ने 1940 के दशक के उत्तरार्ध में एक व्यापक सामाजिक आधार ग्रहण किया, जो उन विभिन्न व्यावसायिक समूहों तक फैला जिन्हें बाद में "अनौपचारिक" के रूप में वर्गीकृत किया गया। श्रम-बल के विशिष्ट तबकों के लिए पदानुक्रमिक कानूनी अधिकारों की संरचना का निर्माण करके, साथ ही कानूनी सहायता से श्रमिक वर्गों के बड़े हिस्से को बाहर कर, उत्तरोपनिवेशिक श्रम व्यवस्था ने इन लामबंदियों को तोड़ दिया, कानूनवादी ट्रेड यूनियनवाद को बढ़ावा दिया (जिसकी पहुँच संकीर्ण थी), और समावेशी ट्रेड यूनियन रणनीतियों के विकास को अधिक कठिन बना दिया। इन पहलुओं की अधिक व्यवस्थित विश्लेषण की आवश्यकता है, जो प्रयास कहीं और किया गया है<sup>114</sup>।

हम उपमहाद्वीप के कारखाने के परिदृश्य को बदलने में योगदान करने वाली एक चौथी वाहक शक्ति को चिह्नित कर सकते हैं: भारतीय विनिर्माण (मैन्युफैक्चरिंग) – जो दशकों तक कपास और जूट के कपड़ों तक सीमित रही, लेकिन महामंदी के बाद जिसे काफी विविधता मिली और द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान यह प्रक्रिया और भी अधिक तेज हो गई। उदाहरण के लिए, इंजीनियरिंग लंबे समय तक रेलवे कार्यशालाओं में ही आधारित थी, वहाँ 1940 के पूर्वार्ध में श्रम-बल की संख्या दोगुना होकर पांच लाख से अधिक हो गयी<sup>115</sup> और उसे अब औद्योगिक कौशल के उच्च स्तर की आवश्यकता थी। 1943 में भारत सरकार के श्रम सदस्य के सलाहकार के रूप में रखे गए ब्रिटिश श्रम मंत्रालय के एक अधिकारी ने कहा था, कि भारत में "कोई श्रम-शक्ति समस्या" नहीं थी, जबकि "कुशल श्रम की, विशेष रूप से इंजीनियरिंग व्यवसायों में, तीव्र कमी थी"<sup>116</sup>। औपनिवेशिक सरकार ने पहली बार औद्योगिक श्रमिकों के स्तर पर कौशल निर्माण के सवालों पर कुछ अधिक गंभीरता से काम किया: 1940 से 1944 के बीच 100,000 से अधिक भारतीय श्रमिकों को इंजीनियरिंग कौशल हासिल करने के लिए एक फास्ट-ट्रैक "तकनीकी प्रशिक्षण योजना" के अंतर्गत लाया गया, इनकी सशस्त्र बलों और राजकीय आयुध (ऑर्डनेन्स) कारखानों दोनों में तत्काल आवश्यकता तो थी ही, लेकिन बढ़ते निजी इंजीनियरिंग क्षेत्र में भी काफी मांग थी<sup>117</sup>। इसके अलावा, 845 तथाकथित बेविन लड़कों को इन पांच वर्षों के दौरान भारत से ब्रिटेन में इंजीनियरों के रूप में प्रशिक्षित होने के लिए भेजा गया था – यह एक अत्यधिक प्रचारित योजना थी जिसे ब्रिटिश श्रम मंत्री के नाम पर रखा गया था और जाहिर है इसका

मतलब किसी भी "लड़कियों" को शामिल नहीं करना था<sup>118</sup>। बढ़ती कौशल आवश्यकताएं और मुख्य श्रम-बल के रोजगार संबंधों को स्थायी करने की चिंता, विशेष रूप से अधिक पूंजी-गहन उद्योगों के नियोक्ताओं के बीच, दोनों साथ मौजूद थीं। श्रम की कमी ने कुशल श्रमिकों को उच्च वेतन का भुगतान करने वाले नियोक्ताओं की ओर जाने का रास्ता खोला। "अनुपस्थिति" और श्रम आवाजाही की बढ़ती दर युद्ध के वर्षों के दौरान नियोक्ताओं और राज्य के अधिकारियों के बीच बहस के गर्म मुद्दे बन गए<sup>119</sup>। वास्तव में, अमरीकी श्रम समाजशास्त्रियों द्वारा 1950 के दशक में शुरू की गई, और 1990 के दशक में कुछ आर्थिक इतिहासकारों द्वारा फिर से उठाई गई, अशुभ और अक्सर प्राच्यवादी बहस, कि कैसे भारतीय औद्योगिक श्रमिकों में "प्रतिबद्धता की कमी" को ठीक किया जा सकता है<sup>120</sup>, युद्ध के दौरान की चिंताओं से उत्पन्न होती दिखती हैं। यदि भारत के औद्योगिक विविधीकरण के लिए उच्च कौशल स्तर, रोजगार के कम दर, और कम से कम कुछ क्षेत्रों में अधिक नियमित उपस्थिति की आवश्यकता थी, तो मुख्य औद्योगिक श्रम-बल का अधिक बारीकी से निगरानी के साथ पुनरुत्पादन अपरिहार्य पूर्व शर्त प्रतीत होने लगा था।

1940 के मध्य तक, औद्योगिक दक्षता और औद्योगिक श्रमिकों के लिए कल्याणकारी योजनाओं के प्रावधान के बीच संबंध को औद्योगिकीकरण के विकास पर बहस के भीतर "आधुनिक" मानक के रूप में स्थापित किया गया था। व्यापार मंडलियों में निरंतर गलतफहमियों के बावजूद, औद्योगिक विकास के कई प्रवर्तकों के लिए भविष्य स्पष्ट लग रहा था और 1944 में औद्योगिक स्थान नीति के अध्ययन में निम्नलिखित जैसे बयानों में चित्रित होता था:

"कारखाना क्षेत्र में विशुद्ध रूप से औद्योगिक श्रमिकों के स्थायी निपटान की दिशा में विकास से बीमारी, विकलांगता और बेरोजगारी बीमा योजनाओं जैसे सामाजिक सुरक्षा उपायों को अपनाने में मदद मिलेगी, जो कि कुशल औद्योगिक श्रमिकों के दक्ष वर्ग के संवर्धन के लिए आवश्यक है"<sup>121</sup>।

## (ड) कामगार राज्य बीमा अधिनियम का बनना

जबकि भारतीय औद्योगिक श्रमिकों के लिए अनिवार्य बीमारी बीमा पर बहस, जैसा कि हमने देखा, पीछे 1920 के दशक तक जाती है, कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम की वास्तविक शुरुआत 1942 में ही हुई। उस साल के आरंभ में भारत सरकार के तत्कालीन लेबर सदस्य फिरोज खान और नियोक्ता एवं कर्मचारी प्रतिनिधियों के बीच हुई एक बैठक में इस मुद्दे पर विस्तृत चर्चा की गई थी। यह बातचीत तीसरे श्रम मंत्रियों के सम्मेलन की तैयारी के सन्दर्भ में हुई थी। इस अवसर पर, पूंजीपतियों के प्रवक्ताओं ने "प्रयोगात्मक" बीमारी बीमा योजना को पूरी तरह नहीं नकारा, लेकिन श्रमिकों और राज्य द्वारा वित्तीय योगदान पर जोर दिया। चूंकि प्रांतों और कई रियासतों के श्रम मंत्रियों ने किसी भी वित्तीय योगदान से इनकार किया था, इसलिए बाद के सम्मेलन का परिणाम यह था कि इस योजना को उस समय अलग रख दिया गया<sup>122</sup>। हालांकि, कुछ महीने बाद, जब राष्ट्रवादी भारत छोड़ो आंदोलन पर औपनिवेशिक दमन पूरे जोरों पर था और जब ब्रिटिश युद्ध मंत्रिमंडल ने इन परिस्थितियों में, भारत में "अधिक प्रगतिशील सामाजिक और औद्योगिक नीति"<sup>123</sup> के फायदे पर चर्चा की



तो भारतीय सरकार के नए श्रम मंत्री, बी.आर. अंबेडकर ने घोषणा की कि एक सामाजिक बीमा बिल 1943 के वसंत में विधानसभा में पेश किया जाएगा<sup>124</sup>। बी.पी. आदरकर को श्रम मंत्रालय द्वारा "औद्योगिक श्रमिकों के लिए स्वास्थ्य बीमा पर रिपोर्ट" बनाने के लिए नियुक्त किया गया, जिसे 1944 के शरतकाल में छठे (भारतीय) श्रम सम्मेलन में प्रस्तुत किया गया था<sup>125</sup>। इस रिपोर्ट ने पूर्ववर्ती वर्षों में विकसित विभिन्न प्रयोगात्मक योजनाओं – विशेष रूप से 1940 में टेक्सटाइल लेबर इंक्वायरी कमेटी द्वारा प्रस्तावित योजना<sup>126</sup> – पर विचार किया और पहली बार एक ठोस वित्तीय और प्रशासनिक संरचना विकसित की। भारत सरकार के अनुरोध पर आईएलओ के विशेषज्ञों ने इसका ध्यानपूर्वक अध्ययन किया और जुलाई 1945 में आदरकर ने इसे संशोधित किया<sup>127</sup>।

कामगार राज्य बीमा विधेयक को अगले वर्ष के अंत में केंद्रीय विधानसभा में पेश किया गया और अंततः मार्च 1948 में उसको पारित किया गया। इसे बारहमासी कारखानों में, जहाँ दस से ज्यादा मजदूर काम करते हैं, श्रमिकों को आठ सप्ताह का सवेतन बिमारी अवकाश प्रदान करना, मातृत्व, दुर्घटना या अपाहिजता के मामलों में वित्तीय भत्ता देने के साथ ही विशेष चिकित्सा सेवाओं द्वारा (जिन्हें इसी उद्देश्य से तैयार किया जाएगा) चिकित्सा सुविधा देना था<sup>128</sup>। हालांकि, कानून कई वर्षों तक ठन्डे बरते में पड़ा रहा। टाइम्स ऑफ इंडिया ने अधिनियम के पारित होने के एक साल बाद टिप्पणी की कि जबकि ईएसआई केंद्र सरकार, प्रांतीय सरकारों और नियोक्ताओं के घनिष्ठ सहयोग पर निर्भर करता है, "तीनों ही अपनी समस्याओं में इतने मशरूफ हैं कि एक अनाथ बच्चे की तरह, जिसे कोई अपना नहीं मानता, उसकी शुरुआती परेशानियों पर किसी का ध्यान ही नहीं जा रहा है"<sup>129</sup>। 1951 में, भारत के बड़े व्यवसाय का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था, ऑल-इंडिया ऑर्गेनाइजेशन ऑफ इंडस्ट्रियल एम्प्लॉयर्स, ने इसके कार्यान्वयन को और विशेषकर नियोक्ताओं से योगदान की उगाही को स्थगित करने की मांग की – वे इस योजना को "सामाजिक रूप से अन्यायपूर्ण" और यहां तक कि आर्थिक परिणामों के रूप में विनाशकारी मानते थे क्योंकि यह "उद्योग पर एक बोझ है, जो इसे सहन नहीं कर सकता है"<sup>130</sup>। सत्तारूढ़ भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के भीतर प्रभावशाली ताकतों ने इस रुख का समर्थन किया: एक साल पहले घनी आबादी वाले उत्तरी प्रांत की उत्तर प्रदेश की सरकार ने "कानपुर में कुछ नियोक्ताओं द्वारा केंद्र सरकार को दिए गए प्रतिनिधित्व के बाद इस योजना के प्रति अपने विरोध का संकेत दिया था" – टाइम्स ऑफ इंडिया के टिप्पणीकार ने यहां तक आशंका जताई कि परियोजना का जल्द ही त्याग दिया जाएगा<sup>131</sup>। 1952 के अंत में, जवाहरलाल नेहरू ने अंततः एक पायलट योजना का उद्घाटन किया, जो दिल्ली और औद्योगिक शहर कानपुर तक सीमित थी<sup>132</sup>। 1950 के दशक के उत्तरार्ध में ही ईएसआई का विस्तार अधिक व्यवस्थित रूप से कार्यान्वित किया गया, हालांकि देश के काफी हिस्से अभी भी अधिनियम के दायरे के बाहर थे। स्वतंत्र भारत की संसद द्वारा ईएसआई अधिनियम पारित किए जाने के पूरे एक दशक बाद, श्रम मंत्रालय द्वारा स्थापित "स्टडी ग्रुप ऑन सोशल सिक्योरिटी" का मानना था कि 22 लाख फैक्ट्री श्रमिकों में से, जिन तक कानून के पहुँचने की बात थी, तब तक स्थापित कार्यान्वयन तंत्र द्वारा मात्र 13 लाख तक ही पहुँच बन पाई<sup>133</sup>।

कानून के पारित होने से श्रमिकों के लिए स्वास्थ्य बीमा पर संघर्ष स्पष्टतः रुक नहीं गया था। कानूनी युद्ध अब इसके कार्यान्वयन पर होने वाली अंतहीन, थकाने वाली लड़ाई में बदल गया। हालांकि कार्यान्वयन को लेकर हुई इन संघर्षों के बारे में और अधिक शोध की आवश्यकता है, हम यहां कानून बनाने की प्रक्रिया में व्यापार प्रतिनिधियों, मजदूर संगठनों और राज्य अधिकारियों के बीच होती बातचीत से निकलते प्रतिवाद के केवल चार प्रमुख मोर्चों को रेखांकित करेंगे। वे इस प्रकार थे: (क) योजना का अनिवार्य स्वरूप, (ख) इसके अंशदायी चरित्र और उससे जुड़े वित्तीय उत्तरदायित्व के मुद्दे, (ग) राज्य बीमा के रूप में इसकी प्रशासनिक संरचना, और (घ) विस्तार के विवादास्पद सवाल।

आईएलओ की 1944 वाले सिफारिशों से लैश होकर सरकारी अधिकारियों, विशेषज्ञों एवं ट्रेड यूनियन प्रतिनिधियों ने सहमति जाहिर की कि औद्योगिक श्रमिकों के लिए बीमारी बीमा का कोई असर होना है तो उसे अनिवार्य होना ही पड़ेगा<sup>134</sup>। इससे व्यावसायिक हलकों, और यहां तक कि उन उद्योगपतियों में भी कुछ असहजता पैदा हुई, जिन्होंने औद्योगिक श्रमिकों के लिए स्वास्थ्य सेवाओं में सुधार की एक निश्चित आवश्यकता को स्वीकारा था। मुद्दा केवल यह नहीं था कि स्वास्थ्य बीमा योजना में अनिवार्य भागीदारी का अर्थ आर्थिक रूप से मालिकों को उत्तरदायी बनना है। नियोक्ताओं की यह भी चिंता थी कि कर्मचारियों के सवेतन बीमारी अवकाश के अधिकार को विनियमित करने वाली यह अनिवार्य योजना काम की शर्तों या श्रम अनुबंध के कार्यान्वयन के तौर-तरीकों पर भी राज्य के हस्तक्षेप का रास्ता सुगम करता है; उन्हें राज्य के अधिकारियों द्वारा जांच का विषय बनाता है। नियोक्ताओं के प्रवक्ता इस प्रकार बारबार इंगित करते थे कि स्वास्थ्य बीमा का मामला सवेतन अवकाश के मुद्दे से सीधे जुड़ा हुआ है<sup>135</sup> — इसलिए यह योजना श्रम संबंध से बाहरी नहीं है, बल्कि एक ऐसा तंत्र है जो नियोक्ताओं की अपने इच्छानुसार श्रम अनुबंध तय करने की "स्वतंत्रता" को सीमित करता है। 1935 में, बंगाल चैंबर ऑफ कॉमर्स अनिवार्यता पर आधारित किसी भी सामाजिक बीमा योजना के खिलाफ थी, उसने सुझाव दिया था कि सरकार ऐसी "मॉडल योजना" तैयार करे जिससे कंपनी स्तर पर स्वैच्छिक योजनाएं तैयार की जा सकें और मौजूदा "पर्याप्त" व्यवस्थाओं में कोई हस्तक्षेप न हो<sup>136</sup>। 1943 में, जब कई नियोक्ताओं ने स्वीकार किया कि अनिवार्य बीमारी बीमा योजना को कुछ ही समय के लिए स्थगित किया जा सकता है, इसे पूरी तरह से टाला नहीं जा सकता, बॉम्बे चैंबर ऑफ कॉमर्स ने तब भी मांग की कि मौजूदा स्वैच्छिक नियोक्ता योजनाओं को जारी रखने की अनुमति दी जानी चाहिए, ताकि कानूनी जवाबदेही से छुटकारा मिल जाए<sup>137</sup>। इसके साथ, नियोक्ता उन बीमा योजनाओं के विरोध में थे जो कहीं-कहीं पर ट्रेड यूनियनों या सहकारी समितियों ने पेश किया था। यह कहते हुए कि वे आर्थिक रूप से अस्वस्थ पिरामिड योजनाएं हैं,<sup>138</sup> लेकिन शायद दरअसल नियोक्ताओं के इस भय के कारण कि इससे कारखानों के अंदरूनी श्रम-संबंधों में "बाहरी" तत्त्वों का हस्तक्षेप बढ़ जायेगा। ट्रेड यूनियनों ने अपनी तरफ से जोर देते हुए कहा कि "किसी भी निजी कारखाने को अगर इस कानून से छूट दी जाएगी, तो यह गलत करतूतों को बढ़ावा देगी"<sup>139</sup>। नियोक्ताओं द्वारा अपने श्रम-बल के लिए जहाँ भी संतोषजनक बीमा योजनाएं बनाई गई थी, आदरकर ने उन पर कड़ाई से विनियमित



अपवादों की सिफारिश करते हुए, इस बात पर जोर दिया कि ऐसी योजनाएँ अत्यंत दुर्लभ थीं: “अधिकांश स्थानों पर मौजूदा चिकित्सा सुविधाएँ निस्संदेह अत्यंत अपर्याप्त हैं, यहां तक कि कुछ तथाकथित स्वास्थ्य बीमा योजनाएं जैसा उन्हें होना चाहिए, उसके मात्र पैरोडी है”<sup>140</sup>। अंत में, नियोक्ता ईएसआई अधिनियम को स्वास्थ्य बीमा का अनिवार्य योजना के रूप में परिभाषित करने से नहीं रोक सके। 1946 में केंद्रीय विधान सभा द्वारा पारित स्थायी आदेश अधिनियम के माध्यम से रोजगार की स्थिति को नियंत्रित करने की तात्कालिकता के लिए तर्क के रूप में रोजगार-आधारित स्वास्थ्य बीमा और लेबर कॉन्ट्रैक्ट कार्यान्वयन – इन दोनों के परस्पर-सम्बन्ध को भी अंबेडकर द्वारा खुले तौर पर उठाया गया था<sup>141</sup>।

ईएसआई योजना के अंशदायी चरित्र और वित्तीय उत्तरदायिता के सवाल पर प्रतिवाद का दूसरा मोर्चा खुला। युद्ध के शुरुआती वर्षों से, राज्य अधिकारियों और ट्रेड यूनियन प्रतिनिधियों ने सहमति व्यक्त की थी कि परिकल्पित सामाजिक बीमा योजना नियोक्ताओं और कामगारों के योगदान पर आधारित होनी चाहिए। व्यापार के प्रवक्ता और ट्रेड यूनियनवादियों ने भी उसी समय इस राय पर सहमति व्यक्त की कि राज्य द्वारा वित्तीय योगदान की आवश्यकता है<sup>142</sup>। सरकार का सीधा विरोध किये बिना एक अवांछित कानून के पारित होने के रास्ते पर बाधाओं को बढ़ाना निश्चित रूप से नियोक्ताओं की एक रणनीति थी जो इस सहमति के पीछे काम कर रही थी। केंद्रीय स्तर पर युद्ध-सरकार ने मासूम रुख अपनाते हुए जवाब दिया कि यदि राजकीय सब्सिडी की आवश्यकता होती है, तो उन्हें प्रांतों से आना होगा। जाहिर तौर पर, प्रांतों ने इसे पूरी तरह से खारिज कर दिया<sup>143</sup>। 1945 में आदरकर रिपोर्ट ने राज्य द्वारा वित्तीय योगदान के लिए दृढ़ता से तर्क दिया, लेकिन फंडिंग के दो वैकल्पिक मॉडल को रेखांकित किया, जिनमें से केवल एक में राज्य सब्सिडी शामिल थी<sup>144</sup>। रिपोर्ट में सामाजिक बीमा योजना की पर्याप्तता के लिए राजकीय गारंटी की भी वकालत की गई<sup>145</sup> – यह मांग बॉम्बे मिल ओनर्स एसोसिएशन ने वित्तीय उत्तरदायित्व से बचने के लिए तब उठाई जब विधेयक संविधान सभा में चर्चा में था<sup>146</sup>। इस अधिनियम के अनुसार, जो कि एक साल बाद पारित हुआ, भारत सरकार पहले पाँच वर्षों के लिए प्रशासन लागत के दो तिहाई हिस्से का भार उठाएगी, जबकि चिकित्सा लाभ प्रदान करने के लिए स्थापित की जाने वाली चिकित्सा सेवाओं की लागत का एक तिहाई वित्त प्रांतों को देने के लिए कहा गया। एक अनुमान के अनुसार, इस आधार पर, नियोक्ताओं को कुल ईएसआई बजट का साठ प्रतिशत योगदान देना था, जबकि कर्मचारी और राज्य बीस-बीस प्रतिशत के लिए जवाबदेह थे<sup>147</sup>। अधिनियम के वास्तविक कार्यान्वयन के समय फिर एक अलग परिदृश्य देखने को मिला – वह कि व्यापार अधिवक्ताओं ने “अधिकतम योगदान” के भुगतान से कंपनियों के लिए अस्थायी छूट हासिल कर ली थी<sup>148</sup> और 1950 के दशक के अंत तक ट्रेड यूनियनों ने गणना की कि कामगारों ने वास्तव में, नियोक्ताओं की तुलना में ईएसआई फंड के लिए बहुत अधिक योगदान दिया था<sup>149</sup>। राज्य सरकारों ने भी ईएसआई योजना की चिकित्सा सेवाओं के लिए अपने हिस्से पर पुनः बातचीत की और इसे एक तिहाई से घटाकर एक चौथाई करने में सफल हो गई<sup>150</sup>।

चूँकि राजकीय योगदान बहुत ही संकीर्ण रहे, इसलिए ईएसआई योजना की परिचालन लागत मुख्य रूप से नियोक्ताओं और कामगारों के द्विदलीय योगदान से पैदा हुई थी। प्रशासनिक संरचना – प्रतिवाद का तीसरा मोर्चा, जिसे हमें ध्यान में रखना चाहिए – ने दृढ़ता से त्रिपक्षीय रूप ग्रहण किया, और राज्य के अधिकारियों के वर्चस्व के अंतर्गत रहा। नियोक्ता संघों और ट्रेड यूनियनों को अपने प्रतिनिधियों को नियुक्त करने का अधिकार था और ईएसआई निधियों को नियंत्रित करती प्रशासनिक निकायों पर सरकारी नौकरशाहों का दबदबा था। ईएसआई विवादों के लिए बनी विशेष मध्यस्थता संरचनाओं में भी उन्ही सरकारी नौकरशाहों का दबदबा था<sup>151</sup>। यह कामगार क्षतिपूर्ति अधिनियम (वर्कमेन कम्पेंसेशन एक्ट) के कार्यान्वयन के ढाँचे से प्रमुख प्रस्थान था, जहाँ संबंधित नियोक्ता लाभार्थियों के भुगतान के प्रभारी थे और जहाँ दावेदारों की कानूनी पहुँच को अधिक कठिन करने के लिए जानबूझकर बाधाएं पैदा की गई थीं, जैसा कि पहले हमने देखा<sup>152</sup>। ईएसआई का राज्य-केंद्रित प्रशासनिक ढाँचा पहले के अधिनियमों की कमियों को रोकने के उद्देश्य के साथ बनाया गया था। अब यह माना गया कि “नियोक्ता दायित्व” के सिद्धांत में ही ये कमियाँ निहित थी; क्योंकि – “अगर नियोक्ता को मुआवजे की जिम्मेदारी दी जाती है, तो वह इसे टालने के तरीके खोजेगा ही”<sup>153</sup>।

व्यापकता के मुद्दे पर प्रतिवाद का चौथा और अधिक परिभाषित मोर्चा खुला। 1940 में जब बहस और अधिक बढ़ गई, तो ब्रिटिश और भारत के बड़े व्यवसाय के एक गठबंधन ने मांग की कि एक अनिवार्य सामाजिक बीमा योजना, यदि इसे बिल्कुल बनाया जाना था, तो शुरू से ही उसकी व्यापक पहुँच होनी है। उन्होंने रियासतों को शामिल करने पर जोर दिया – जो कि उपमहाद्वीप के लगभग एक तिहाई हिस्से थे – ताकि इन प्रदेशों से काम करने वाले उद्योगपतियों के लिए अनुचित प्रतिस्पर्धात्मक लाभ से बचा जा सके<sup>154</sup>। बॉम्बे चैंबर ऑफ कॉमर्स के लिए यह “कई वर्षों के लिए योजना को स्थगित करने” की बात को सही ठहराने के लिए पर्याप्त रूप से महत्वपूर्ण मुद्दा था<sup>155</sup>। एम्प्लॉयर्स फेडरेशन ऑफ इंडिया के प्रवक्ता सर विड्डल चंदावरकर ने यहां तक कि स्वतंत्र भारत की नई सरकार से “निजी उद्यम को नहीं डराने” की अपनी अपील के साथ इस मांग को जोड़ दिया कि औद्योगिक श्रमिकों पर श्रम कानून के अनुचित फोकस को दूर किया जाए और उसके दायरे को कृषि श्रमिकों तक बढ़ाया जाना चाहिए। मजदूर वर्गों के सर्वोत्तम हित में प्रतीत होने वाले इन प्रस्तावों का मुख्य उद्देश्य परियोजना को पूरी तरह से बाधा पहुँचाने का लगता था<sup>156</sup>। आदरकर ने दीर्घकालिक सार्वभौमिक योजना की परिकल्पना की, लेकिन प्रारंभिक अवधि के लिए तीन औद्योगिक क्षेत्रों के – कपड़ा, इंजीनियरिंग, “खनिज और धातु” (यानी धातुकर्म और तेल उद्योग) – बारहमासी (यानी गैर-मौसमी) कारखानों में कार्यरत श्रमिकों पर संकीर्ण फोकस करने की सिफारिश की; इन क्षेत्रों ने 1942 में लगभग 13 लाख श्रमिकों को रोजगार दिया था<sup>157</sup>। इससे कारखाने का लगभग साठ प्रतिशत श्रम-बल प्रभावित होता<sup>158</sup>। एटक ने मांग की कि दायरा व्यापक होना चाहिए और “संगठित उद्योगों” के सभी कर्मचारियों को शामिल करना चाहिए, चाहे कारखानों में काम कर रहे हों या नहीं और जिनमें मौसमी कारखानों में काम करने वाले लोग भी शामिल हैं (उदाहरण के लिए खाद्य प्रसंस्करण,

जैसे चीनी उत्पादन) और कुछ इन मजदूरों के आश्रित सम्बन्धी भी<sup>159</sup>। दो आईएलओ विशेषज्ञों, रघुनाथ राव और मौरिस स्टैक को योजना संशोधित करने का कार्य सौंपा गया और बारहमासी कारखानों में इसे सभी कारखाने श्रमिकों तक विस्तारित करने की सिफारिश की गई<sup>160</sup>। इस सिफारिश को आदरकर की अंतिम रिपोर्ट में और बाद में 1948 के कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम में शामिल किया गया<sup>161</sup>।

नतीजतन, भारत की छोटी मैन्युफैक्चरिंग इकाइयां, कृषि श्रम (जिनमें विशाल अर्ध-औद्योगिक बागान अर्थव्यवस्थाओं के श्रम-बल भी शामिल थे), बृहत् निर्माण क्षेत्र, खनिज और परिवहन मजदूर ईएसआई अधिनियम के दायरे से बाहर बने रहे, हालांकि प्रांतीय सरकारों को उसके दायरे का विस्तार करने की अनुमति दी गयी। न ही श्रमिकों के परिवारों को शुरू में स्वास्थ्य बीमा के तहत शामिल किया गया था। इसके अलावा, प्रांतीय सरकारों को इस योजना में योगदान देने में असमर्थ उद्योगों के लिए कानूनी छूट देने का अधिकार दिया गया। अधिनियम के कार्यान्वयन के लिए प्रावधानों ने स्पष्ट रूप से अधिनियम के अंतर्गत आने वाले उद्योगों के भीतर भी अपवादों के लिए अनुमति दी। यह दिलचस्प है कि "नकद लाभ के लिए अर्हक अवधि की शर्तों ने केजुवल श्रमिकों को बाहर रखा", और अवैतनिक प्रशिक्षुओं (अप्रेंटिस) को भी सुरक्षा प्रदान नहीं की गई, क्योंकि अधिनियम केवल पारिश्रमिक श्रम पर ही लागू था<sup>162</sup>।

### (च) पदानुक्रमिक अनौपचारिकता, "जन्मसिद्ध अधिकार" की हानि और उम्मीद के क्षितिज

ईएसआई अधिनियम ने इस प्रकार एक ही कार्यस्थल पर रोजगार की स्थितियों में अंतर की अनुमति दी, साथ ही उसने विभेदक (डिफरेंशियल) औपचारिकता की प्रक्रिया में योगदान दिया जिसने श्रम बाजार में पदानुक्रमिक (ग्रेडेड) हकदारी के एक स्वरूप को जन्म दिया और श्रमिक वर्गों के अन्दर कई नए अंतर्विरोध पैदा किये। उदाहरण के लिए, श्रम-बल के कुछ तबकों के पास ऐसी स्वास्थ्य सुविधाओं तक पहुंच थी, जो ईएसआई योजना द्वारा प्रदान की गई सुविधाओं से बहुत बेहतर थी – ऐसा राष्ट्रीयकृत रेलवे में हुआ, जहाँ 1920 के दशक के दौरान रेलवे स्वास्थ्य सेवा शुरू की गई थी, और ऐसा ही नेहरूवादी भारत के नए सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों में आगे चलकर होना था<sup>163</sup>। वही दूसरी तरफ औद्योगिक श्रम-बल के अन्य और ज्यादा बड़े तबके ईएसआई द्वारा प्रदत्त सेवा से भी निचले स्तर की सेवा लेने के लिए बाध्य थे। यदि हम *वर्कमेन कम्पेंसेशन अधिनियम 1923* में वापस आते हैं, जिसे ईएसआई अधिनियम द्वारा हटाना था, तो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। वास्तव में, इसे साठ लाख श्रमिकों में से केवल एक तिहाई के लिए प्रयोग किया गया था जो 1950 के दशक के प्रारंभ में श्रमिक-मुआवजे के हकदार थे। इस तरह इन दो कानूनों के असंगत प्रेषण से पता चलता है कि उत्तर औपनिवेशिक भारत के औद्योगिक कार्यबल को आगे चलकर दो तबकों में और भी अधिक विभाजित कर दिया गया – एक तरफ, अल्पसंख्यक तबका जिसे (ईएसआई अधिनियम द्वारा) कार्य दुर्घटनाओं की स्थिति में पेंशन मिलता था और अन्य तबका जो पहले तबके का दोगुना था, जिसे (वर्कमेन कम्पेंसेशन अधिनियम द्वारा) एकमुश्त भुगतान का ही हक था, जिससे न केवल कम सुरक्षा

मिलती थी, बल्कि जिस पर दावा करना भी अधिक कठिन था<sup>164</sup>।

इसी तरह के कई उदाहरणों में से यह केवल एक है, और यह एक विराट परिघटना का एक तत्व मात्र है: विभिन्न और परस्परव्याप्त केंद्रीय और प्रांतीय श्रम कानूनों ने "काम करने वाले", "श्रमिक" या "कामगार" को और, तदनुसार, उनकी सीमाओं को विभिन्न तरीके से परिभाषित किया है, जबकि श्रम न्यायाधिकरण और न्याय की अदालत ने परस्पर विरोधी व्याख्याओं के माध्यम से इन परिभाषाओं की जटिलता को और बढ़ा दिया है<sup>165</sup>। 1948 के ईएसआई अधिनियम के अंतर्गत आनेवाले कारखाना श्रमिकों के आधे हिस्से पर ही 1952 का कर्मचारी भविष्य निधि अधिनियम लागू हुआ<sup>166</sup>। इस प्रकार, व्यापकता के संदर्भ में श्रम और रोजगार आधारित कल्याणकारी कानूनों की असंगति ने संघर्ष का एक जटिल मुकाम पैदा किया जो आने वाले दशकों में नियोक्ताओं, ट्रेड यूनियनों, न्यायाधीशों, सरकारी अधिकारियों और विभिन्न अन्य सामाजिक कर्मियों को व्यस्त रखने वाला था। अनुसंधान के वर्तमान असंतोषजनक स्थिति में भी यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कानून का परिणाम श्रम-बल का औपचारिक/अनौपचारिक विभाजन नहीं था, बल्कि पदानुक्रमिक (ग्रेडेड) अनौपचारिकता का एक अस्थिर, विवादास्पद और कुछ हद तक लचीली संरचना बनाना था।

इसके संकीर्ण परिमार्जित फैलाव के बावजूद, भारत के पहले श्रम मंत्री, जगजीवन राम ने ईएसआई अधिनियम को, पारित करते समय, इसे एक महत्वपूर्ण सफलता कहा था: यह "छोटा और कोमल पौधा...अपने समय में, विशाल वृक्ष का रूप लेगा" और योजना का दायरा "धीरे-धीरे और लगातार बढ़ाया जाएगा ताकि अंततः यह सर्वव्यापक हो जाए"<sup>167</sup>। स्वास्थ्य मंत्री राजकुमारी अमृत कौर ने पुष्टि की कि समयानुसार इस योजना का आबादी के लगभग पच्चासी प्रतिशत तक विस्तार होना है<sup>168</sup>। 1952 में सरकार के फिल्मस डिवीजन द्वारा प्रेषित एक प्रचार फिल्म ने कहा कि ईएसआई योजना को तब तक आगे बढ़ाया जाएगा, "जब तक कि इसका लाभ हमारे देश के हर औद्योगिक क्षेत्र में उपलब्ध न हो, जब तक कि हमारे 25 लाख कर्मचारी ही नहीं, बल्कि हमारे कृषक सहित सभी कामगार इस जन्मसिद्ध अधिकार को पा सकें"<sup>169</sup>। किंग्स इंग्लिश में पढ़े गए इन शब्दों का चुनाव, जब फुटेज मशीन संचालकों से हटकर जुताई करते किसानों की ओर बढ़ा, महत्वपूर्ण था : "स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है" स्वतंत्रता संग्राम का एक उग्र नारा था, जो उग्रवादी राष्ट्रवादी बाल गंगाधर तिलक से जुड़ा था। इस वाक्यांश के उद्घरण ने बीमारी से सुरक्षा को स्वतंत्र भारत की नागरिकता में निहित एक मौलिक अधिकार के स्तर पर ला दिया। इस तरह बीमा के सार्वभौमिकरण को रोजगार-आधारित विशेषाधिकार से उठाकर नागरिक अधिकार के रूप में घोषित किया गया और स्पष्ट रूप से राष्ट्र-निर्माण परियोजना के साथ जोड़ दिया गया। फिल्म में यह संभवतः मध्यम वर्गीय दर्शकों के उपभोग के लिए ही था। लेकिन फिर भी, यह आधिकारिक वादा काफी समय तक कार्यान्वयन के धूमिल तथ्यों से बचा रहा। 1965 में, जब वी.वी. गिरी की प्रभावशाली *लेबर प्रॉबलेम्स इन इंडियन इंडस्ट्री* फिर से छपी तो भारत के पूर्व श्रम मंत्री और भविष्य के राष्ट्रपति ने तब भी ईएसआई को "एक सर्वसाधारण सामाजिक बीमा योजना के बीज" के रूप में चित्रित किया<sup>170</sup>।

हालांकि, जैसा कि हम आज जानते हैं, स्वास्थ्य बीमा का सार्वभौमिकरण,

उत्तरौपनिवेशिक नागरिकता के अधूरे वादों में से एक रहा और उसे लगातार ही टाला गया। 2013 के अंत में, भारत के लगभग 50 करोड़—मजबूत कामगारों के केवल तीन प्रतिशत या "संगठित क्षेत्र" के आधे से भी कम कामगार (अक्सर असंतोषजनक) ईएसआई लाभों के हकदार थे<sup>171</sup>। इसके विपरीत, कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम भारत की औपचारिक और अनौपचारिक श्रम अर्थव्यवस्थाओं के विभाजन को पदानुक्रमिक हकदारी की द्वंद्वमय, खंडित संरचना में तब्दील करने का मुख्य जरिया हो गया। बेवेरिज और जेनेवा के कई संदर्भों के बावजूद, राष्ट्रीय न्यूनतम मानक की गारंटी भारत में बाद के दशकों में सार्वभौमिक कल्याणकारी नीति के आधार पर फ़ैल नहीं पाई। रोजगार आधारित भारतीय कल्याणवाद जड़ता से अल्पसंख्यावादी ही रहा, जो मजदूरी के लिए उत्तरौपनिवेशिक भारत का निर्माण करने वालों के बहुत छोटे और ज्यादातर पुरुष तबके तक ही सीमित रहा। विलियम बेवेरिज का 1945 में कथन, कि भारत की अधिकाधिक आबादी के लिए शायद अभाव से स्वतंत्रता को भिन्न दिशा लेनी होगी, केवल भविष्यदर्शी नहीं था, बल्कि यह भी इंगित करता था कि उदार ब्रिटिश सुधारकों ने भी उस समय भारत में सामाजिक नीतियों की अधिक दूरगामी और व्यापक होने की सम्भावना से इंकार नहीं किया था। लेकिन उत्तर-औपनिवेशिक शासक अपने कंजर्वेटिव औपनिवेशिक पूर्ववर्तियों से ज्यादा आगे नहीं गए और उनके द्वारा बनाई गयी नीतियों को ही विरासत के रूप में स्वीकार करना श्रेय समझा<sup>172</sup>।

फिर भी, कानूनों द्वारा खिंची रेखाओं को, जैसा कि इस लेख में चर्चा की गई है, केवल सीमाओं के रूप में ही नहीं जो श्रम-बल को अनेक टुकड़ों में तोड़ती हैं, बल्कि अपेक्षाओं के क्षितिज के रूप में भी समझा जाना चाहिए — वह क्षितिज, जो अधिकांश श्रमिकों की पहुँच से दूर, परन्तु हमेशा ही दिखता रहेगा : इसने "उम्दा काम" के मानकों के निर्माण के लिए, जो कि पारदर्शी रूप से यूटोपियन होने के साथ-साथ अपनी स्थूलता में अत्यंत सांसारिक हैं, भाषा तैयार की है। उन्होंने इस प्रकार श्रम संघर्षों को नैतिक धार दी है और अनौपचारिक रूप से नियोजित श्रमिकों की सुरक्षा के लिए विधायी पहलों हेतु ब्लूप्रिंट के रूप में भी काम कर सकते हैं। इस सिलसिले में एक विशेष अनोखा मामला है 1948 के डॉक वर्कर्स अधिनियम का, जो कल्याण बोर्ड की स्थापना और बाद में 2008 के असंगठित श्रमिक सामाजिक सुरक्षा अधिनियम हेतु बृहत् और लगभग पूरी तरह से "अनौपचारिक" निर्माण श्रम-बल के लामबंदी के लिए प्रेरक मॉडल बना<sup>173</sup>। इसी तरह, कॉन्ट्रैक्ट कामगारों और मुख्य रूप से "अनौपचारिक क्षेत्र" के उद्योगों के कामगारों ने "ईएसआई" में शामिल किए जाने की मांग को कई वर्षों से उठाया है<sup>174</sup> — ऐसी मांग जिसने सिर्फ जानलेवा जोखिमों और बीमारी के आर्थिक खतरों से सुरक्षा की इच्छा को ही इंगित नहीं किया है। बल्कि भारत के रोजगार-आधारित कल्याण कानूनों के (जैसे ईएसआई या प्रोविडेंट फंड) दायरे में प्रवेश करने का मतलब यह भी है कि अब उनकी रोजगार की स्थिति की औपचारिक स्वीकृति मिल चुकी है। यह कोई नगण्य बात नहीं है क्योंकि ऐसी स्वीकृति अन्य सुविधाओं का दावा करते समय कानूनी आधार के रूप में भी काम करती है।

इस प्रकार रोजगार आधारित सामाजिक सुरक्षा योजनाओं का महत्त्व केवल उनके अंतर्गत आने वाले भारतीय श्रम-बल के अल्पसंख्यक के लिए ही नहीं है, बल्कि मजदूर

वर्गों के व्यापक तबकों के लिए भी है, क्योंकि उन्होंने, अन्य श्रम कानूनों के साथ मिलकर, संभावनाओं को परिभाषित किया है, और मांगों को तैयार करने में मदद की है। निस्संदेह इन योजनाओं ने पदानुक्रमिक हकदारी के अनुसार मजदूरों को विभाजित किया है; लेकिन साथ ही इन्होंने मालिक के खिलाफ श्रमिकों के सामूहिक दावों के लिए विशिष्ट रूप (फॉर्म) भी प्रदान किये हैं। इन योजनाओं ने इस विचार को भी मजबूत किया है कि इन मांगों की गारंटी करना राज्य का दायित्व है, हालांकि जिसको निभाने से वह अक्सर बचता रहता है। यह विरोधाभास हमें यह समझने में मदद कर सकता है कि "औपचारिक" रोजगार की लगातार गिरावट के बावजूद स्वास्थ्य बीमा का पूर्ण रूप से निजीकरण, जिसके पक्षधर नव-उदारवादी सरकारें और व्यावसायिक हित दोनों ही हैं, क्यों धीमा रहा है।

## टिप्पणियां

इस लेख के पुराने संस्करण बुडापेस्ट, पेरिस, दिल्ली और बीलेफेल्ड में हुए कांफ्रेंसों और सेमिनारों पढ़े गए। मैं सभी चर्चाकर्ताओं का आभारी हूँ, विशेषतः निकोल मायेर-आदुजा, प्रभु महापात्रा, गैरेथ ऑस्टिन, पॉल-आंद्रे रोसेंताल, लुत्ज लाइसेरिंग और उब्रिके डेवी का, जिनके हस्तक्षेपों ने तर्कों को सुदृढ़ करने में मदद किया। मैं International Review of Social History (IRSH) के पाँच अज्ञात समीक्षकों के प्रति उनकी रचनात्मक समीक्षाओं के लिए आभारी हूँ। हालांकि उनके सभी बहुमूल्य सुझावों के प्रति मैं न्याय नहीं कर पाया, वे भविष्य के कार्य में मदद करेंगे। इन नोट्स में कुछ संक्षेपाक्षर इस्तेमाल हुए हैं:

BL = British Library; ILOrep = Monthly Report of the ILO India Branch Office; IOR = India Office Records; RCL = Royal Commission on Labour in India; ToI = Times of India.

(1) Cf. Frank Nullmeier and Franz-Xaver Kaufmann, "Post-War Welfare State Development", in F.G. Castles et al., *The Oxford Handbook of the Welfare State* (Oxford, 2010), pp. 83-85; Chris Pierson and Matthieu Leimgruber, "Intellectual Roots", in *ibid.*, pp. 41-44.

(2) Cf. Niraja Gopal Goyal, *Citizenship and its Discontents: An Indian History* (Ranikhet, 2013), pp. 163-174.

(3) Gosta Esping-Andersen, *The Three Worlds of Welfare Capitalism* (Cambridge, 1990) जैसे अध्ययन इसके उदाहरण हैं। *Oxford Handbook of the Welfare State* (2010) में अवश्य एक हिस्सा "Emerging Welfare States" पर है जिसमें लैटिन अमरीका, पूर्वी एशिया, पूर्वी यूरोप और रूस पर लेख हैं, परन्तु दक्षिण एशिया पर कुछ भी नहीं है।

(4) Goyal, *Citizenship and its Discontents*, p.167.

(5) यह वाक्यांश मैंने सुमित सरकार के लेखों के संकलन से लिया है, जिसका बढिया नाम है: *Beyond Nationalist Frames: Relocating Postmodernism, Hindutva, History* (New Delhi, 2002).

(6) भारत के अकालों पर काफी ऐतिहासिक अध्ययन मौजूद हैं। पहला व्यवस्थित अध्ययन था: B.M. Bhatia, *Famines in India: A Study in Some Aspects of the Economic History of India (1860-1865)* (Delhi 1991 [1963]). उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध के अकाल संकटों पर अंतर्राष्ट्रीय विचार के लिए देखें: Mike Davis, *Late Victorian Holocausts: El Niño Famines and the Making of the Third World* (London [etc.], 2001).

(7) Cf. Stein Kuhnle and Anne Sander, "The Emergence of the Welfare State", in F.G. Castles et al., *The Oxford Handbook of the Welfare State* (Oxford, 2010), pp. 61-80.

(8) यह बात समकालीनों को साफ थी, जैसे जवाहरलाल नेहरू ने इस अंतिम मुख्य औपनिवेशिक अकाल के बारे में लिखा: "किसी भी जनतांत्रिक अथवा अर्ध-जनतांत्रिक देश में ऐसी आपदा सारी संबन्धित सरकारों को साफ बुझो देती, मगर भारत में नहीं..." - Jawaharlal Nehru, *The Discovery of India* (New Delhi, 1989 [1946]), p. 496. अमर्त्य सेन ने इस टिप्पणी का और अधिक व्यापक अर्थ निकाला। Cf. Amartya Sen, *Poverty and Famines: An Essay on Entitlement and Deprivation* (Oxford, 1981).

(9) Cf. Lance Brennan, "The Development of the Indian Famine Codes. Personalities, Politics, and Policies", in B. Currey and G. Hugo (eds), *Famine as a Geographical Phenomenon* (Dordrecht, 1984), pp. 91-111.



(10) Cf. Jos Mooij, "Food Policy and Politics: The Political Economy of the Public Distribution System in India", *The Journal of Peasant Studies*, 25:2 (1998), pp. 77-101; Madhura Swaminathan, *Weakening Welfare: The Public Distribution of Food in India* (New Delhi, 2000), pp. 6-13; Sunil S. Amrith, "Food and Welfare in India, c.1900-1950", *Comparative Studies in Society and History*, 50:4 (2008), pp. 1010-1035; Benjamin R. Siegel, *Hungry Nation: Food, Famine, and the Making of Modern India* (Cambridge, 2018), pp. 119-151 and *passim*.

(11) Cf. Jackie Assayag, "The Caste Factories: Society, State, Democracy", in C. Jaffrelot, *India Since 1950. Society, Politics, Economy and Culture* (New Delhi, 2012), pp. 445-469, esp. pp. 451-455; Christophe Jaffrelot, "Untouchables, Scheduled Castes and Dalits", in *ibid.*, pp. 469-487, esp. pp. 470-476.

(12) यहाँ तक भारतीय श्रम के इतिहासकार जो शायद सामाजिक सुरक्षा को लेकर सबसे संवेदनशील थे वे भी मान चुके थे कि औपनिवेशिक भारत में राजकीय कल्याण योजनाएँ काफी हद तक बेमानी थीं। Ranajit Das Gupta, "A Labour History of Social Security and Mutual Assistance in India", *Economic and Political Weekly (EPW)*, 29:11 (12 March 1994), pp. 612-620. औपनिवेशिक कल्याणकारी कानूनों में अभी तक जिन पर अधिक गंभीरता से ऐतिहासिक चर्चा हुई है वे प्रांतीय मातृत्व अधिनियम हैं, विशेषकर मुंबई के। Cf. Amrita Chhachhi, "Who is Responsible for Maternity Benefit: State, Capital or Husband? Bombay Assembly Debates on Maternity Benefit Bill.", *EPW*, 33:22 (30 May 1998), pp. L21-L29; Priyanka Srivastava, *The Well-Being of the Labor Force in Colonial Bombay. Discourses and Practices* (Cham, 2018), pp. 153-182.

(13) Kalyan Sanyal and Rajesh Bhattacharyya, "Beyond the Factory: Globalisation, Informalisation of Production and the New Locations of Labour", *EPW*, 44:22 (30 May 2009), p. 39.

(14) देखें: Jonathan Parry, "The 'Embourgeoisement' of a 'Proletarian Vanguard'?", in Surinder Jodhka (ed.), *Interrogating India's Modernity: Democracy, Identity, and Citizenship* (New Delhi, 2013), p. 45, जहाँ औपचारिक क्षेत्र के मजदूर 'राज्य-प्रायोजित विशेषाधिकार के गढ़ में श्रम के आत्मसंतुष्ट संरक्षित अंतःक्षेत्र, जो कि बाहर के श्रमिकों घुसपैठियों से सुरक्षित हैं', के रूप में चिह्नित किया गया है।

(15) *Ibid.*, pp. 40-78, esp. 69 and 73f.

(16) ब्रेमन ने 1976 में *EPW* के लेखों की श्रृंखला में पहली बार दिए गए तर्कों का हाल में सारांश पेश कर सामयिक बनाया है, देखें: *At Work in the Informal Economy of India. A Perspective from the Bottom Up* (New Delhi, 2013); देखें विशेषकर ch. 1.

(17) पैरी ने वर्ग विखंडन के सापेक्ष स्थिरता के लिए तथ्य दिया है, जब वे मानते हैं कि औपचारिक क्षेत्र के मजदूरों के बच्चों को माता-पिताओं की मध्य-वर्गिता धरोहर में मिल ही जाएगी ऐसा नहीं होता : Parry, "The 'Embourgeoisement' of a 'Proletarian Vanguard'?", pp. 70ff.

(18) Cf. Prabhu Mohapatra, "Regulated Informality: Legal Construction of Labour Relations in Colonial India 1814-1926", in S. Bhattacharya and J. Lucassen (eds), *Workers in Informal Sector: Studies in Labour History 1800-2000* (East London, 2005); *idem*, "Shifting Boundaries of Freedom: Genealogies of Informalisation and Informal Labor in India", unpublished paper presented at the workshop 'Boundaries of "Free Labor": XIX and XX Century Perspectives', IGK Work and Human Lifecycle in Global History, Berlin, 21-22 June 2012.

(19) अवलोकन के लिए, देखें: International Labour Organization, *Labour Legislation in India* (New Delhi, 1957)?

(20) यह तर्क भारतीय श्रम इतिहास के बाद के अगुआ ने भी दिया है: Sabyasachi Bhattacharya, "Jawahar Lal Nehru and the Indian Working Class. A Historical Review", *EPW*, L:15 (18 April 2015), p. 51f. प्रारंभिक उत्तराधिकारी इतिहास के पारंपरिक मुख्यधारा के लेखकों में तो श्रम मुद्दे का उल्लेख भी नहीं होता। देखें उदाहरणतः Ramchandra Guha, *India after Gandhi. The History of the World's Largest Democracy* (London, 2007).

(21) Beverly Silver, *Forces of Labor. Workers' Movements and Globalization since 1870* (Cambridge, 2003), pp. 125-131.

- (22) देखें मेरा लेख, "Produce or Perish". The Crisis of the Late 1940s and the Place of Labour in Postcolonial India", *Modern Asian Studies* (MAS, forthcoming).
- (23) Amrita Bazar Patrika, 2 September 1875, quoted in: Bipan Chandra, *The Rise and Growth of Economic Nationalism in India* (New Delhi, 1966), p. 336.
- (24) Report of the Indian Factory Labour Commission (RIFLC), 1908 (London, 1908), p. 18.
- (25) A.R. Burnett-Hurst, *Labour and Housing in Bombay. A Study in the Economic Conditions of the Wage-earning Classes in Bombay* (London, 1925), pp. 60ff.
- (26) RIFLC, p. 19.
- (27) T. Maloney, *Report on Humidification in Indian Cotton Mills* (Delhi, 1923), quoted in: *ibid.*, p. 60, fn. 1.
- (28) Cf. Russi M. Lala, *The Creation of Wealth: The Tatas from the 19th to the 21st Century* (New Delhi, 2006), pp. 284ff.; RCLI, *Evidence*, Vol. VII, part 1: *Railways* (London, 1931), pp. 53-69 and *passim*.
- (29) Cf. Aditya Sarkar, *Trouble at the Mill. Factory Law and the Emergence of the Labour Question in Late Nineteenth-Century Bombay* (New Delhi, 2018), pp. 202-211.
- (30) Report of the Indian Industrial Commission 1916-1918 (Calcutta, 1918), pp. 179ff.
- (31) P.G. Kanekar, "All-India Industrial Welfare Conference", *Servant of India*, 20 April 1922, pp. 136ff.
- (32) "All-India Industrial Welfare Conference", *Bombay Chronicle*, 7 April 1922, p. 5. See also: ILO Archives, Geneva, D 600/562: *All-India Industrial Welfare Conference, Bombay, 1922*.
- (33) Cf. Rajnarayan Chandavarkar, *Imperial Power and Popular Politics. Class, Resistance and the State in India, c.1850-1950* (Cambridge, 1998), pp. 266-291.
- (34) RCLI, Report (London, 1931), pp. 260ff. See also: *Bulletins of Indian Industries and Labour* 63: "Sickness Insurance", Government of India, 1937, p. 82. See also: Srivastava, *The Well-Being of the Labor Force*.
- (35) Cf. Kuhnle and Sander, "The Emergence of the Welfare State", pp. 71-74.
- (36) S.D. Punekar, *Social Insurance for Industrial Workers in India* (Bombay, 1950), pp. 55ff.
- (37) International Labour Organization, *Labour Legislation in India* (New Delhi, 1957), p. 95.
- (38) Punekar, *Social Insurance*, p. 73.
- (39) Report of the Health Survey and Development Committee (Bhore Committee) (Calcutta, 1946), vol. 1, p. 77.
- (40) B.P. Adarkar, "A Social Security Plan for India", in *The Labour Forum, Delhi* (ed.), *Planning for Labour. A Symposium* (Srirampuram [etc.], 1947), p. 14.
- (41) P.S. Lokanathan, *Industrial Welfare in India* (Madras, 1929), pp. 107ff.; Punekar, *Social Insurance*, pp. 74ff.
- (42) B.P. Adarkar, *Report on Health Insurance for Industrial Workers* (Simla, 1945), pp. 10ff.
- (43) Labour Investigation Committee, *Main Report* (New Delhi, 1946), p. 57.
- (44) H.C. Prior, Secretary to the Government of India, to all Provincial Governments, 4 May 1945 ("Subject: Health Insurance Scheme"), BL: IOR/L/E/8/4948 ("Health Insurance for Industrial Workers, incl. Sickness Statistics").
- (45) RCLI, Report, pp. 11-13.



(46) Ibid., p. 19.

(47) Ibid., p. 265.

(48) Ibid., pp. 265-269.

(49) ILOrep 3/1932, p. 65 (citing *The Hindu*, 1 March 1932). राउंड टेबल कांफ्रेंसों ने 1935 का Government of India Act of 1935 तैयार किया, जो कि आजादी से पहले औपनिवेशिक शासन का अंतिम अर्द्ध-संवैधानिक कानूनी ढांचा था।

(50) "Industrial Reform in Presidency", ToI, 18 August 1937, p. 6.

(51) National Planning Committee. Being an Abstract of the Proceedings and Other Particulars Relating to the National Planning Committee, vol. 2 (Bombay, 1940), p. 55.

(52) "Industrial Reform in Presidency", ToI, 18 August 1937, p. 6

(53) *Bombay Chronicle*, 15 November 1937, p. 8 ("Sickness Leave with Pay for Industrial Labour") and p. 6 ("An Essential Reform"); see also: ILOrep 11/1937, pp. 18ff.

(54) Jasmien Van Daele, "Writing ILO Histories. A State of the Art", in J. Van Daele, M. Rodriguez Garcia, G. van Goethem, and M. van der Linden (eds), *ILO Histories. Essays on the International Labour Organization and its Impact on the World during the Twentieth Century* (Bern [etc.], 2010), p. 33.

(55) Sabyasachi Bhattacharya, "Labour Laws and the Global Economy. The Discourse of Labour Control and Welfare in India, 1919-1947", in S. Sen and M.C. Marcuzzo, *The Changing Face of Imperialism. Colonialism to Contemporary Capitalism* (Abingdon [etc.], 2018), pp. 247-264. इस लेख में आई एल ओ के प्रयासों के परिप्रेक्ष्य पर, जो कि मेट्रोपोलिटन पूंजी के हितों पर आधारित था, जोर दिया गया है।

(56) Cf. P.P. Pillai, *India and the International Labour Organisation* (Patna, 1931), pp. 160ff.;

Gerry Rodgers, "India, the ILO and the Quest for Social Justice since 1919", *EPW*, XLIV:10, p. 47.

(57) Pillai, *India and the ILO*, pp. 158-162; Madeleine Herren, "Global Corporatism after the First World War: The Indian Case", in S. Kott and J. Droux (eds), *Globalizing Social Rights*.

*The International Labour Organization and Beyond* (Basingstoke [etc.], 2013), pp. 137-152. See also: Rodgers, "India, the ILO", p. 47.

(58) Pillai, *India and the ILO*, pp. 156ff.; Rodgers, "India, the ILO", p. 47. See also: Sukomal Sen, *Working Class of India. History of Emergence and Movement, 1830-1970* (Calcutta, 1977), pp. 162-164.

(59) Rodgers, "India, the ILO", p. 48. See also: Susan Zimmermann, "'Special Circumstances' in Geneva: The ILO and the World of Non-Metropolitan Labour in the Interwar Years", in Van Daele et al., *ILO Histories*, pp. 221-250.

(60) Cf. Chris Pierson and Matthieu Leimgruber, "Intellectual Roots", in *Oxford Handbook of the Welfare State*, pp. 41-44.

(61) Daniel Maul, *Menschenrechte, Sozialpolitik und Dekolonisation. Die Internationale Arbeitsorganisation (IAO) 1940-1970* (Essen, 2007), pp. 391ff.; see also *ibid.*, pp. 108-121.

(62) Adarkar, *Report on Health*, p. 163; Punekar, *Social Insurance*, p. 82.

(63) Pillai, *India and the ILO*, p. 108.

(64) "Note on the Report prepared by Professor B.P. Adarkar on a Scheme of Health Insurance for Industrial Workers, by Mr. M. Stack and Mr. R. Rao of the International Labour Office", BL: IOR/L/E/8/4948 ("Health Insurance for Industrial Workers, incl. Sickness Statistics").

(65) RCLI, *Report*, pp. 268ff.

(66) हालांकि इतिहासकारों ने रॉयल कमीशन ऑफ लेबर के रिपोर्ट और प्रकाशित तथ्य खण्डों का भरपूर इस्तेमाल किया है, परन्तु कमीशन के कार्य के विवादस्पद राजनीतिक परिप्रेक्ष्य का गहरा परिक्षण नहीं किया। ऐसी पहली कोशिश के लिए

देखें: Amerdeep Panesar et al., "J.H. Whitley and the Royal Commission on Labour in India 1929 -1931", in J.A. Hargreaves, K. Laybourn, and R. Toye (eds), *Liberal Reform and Industrial Relations: J.H. Whitley (1866-1935), Halifax Radical and Speaker of the House of Commons* (London, 2017), pp. 129-142.

(67) इस विकास का अवलोकन आईएलओ की रिपोर्टों में मिलता है, जिसपर 11 मार्च 1947 को विधान सभा में श्रम सदस्य जगजीवन राम के भाषण में संक्षेप रूप में टिप्पणी की गयी थी। इस भाषण के सार के लिए देखें *Indian Labour Gazette* (ILG) IV:10 (4, 1947), pp. 461ff.

(68) ILOrep 3/1944, p. 2, quoted from a report on a cut motion in the Central Assembly on 16 March 1944 in *The Statesman*, 17 March 1944.

(69) Purshotamdas Thakurdas, J.R.D. Tata, G.D. Birla et al., *Memorandum Outlining a Plan of Economic Development for India, Parts I and II* (Harmondsworth, 1945), p. 71.

(70) S.P. Joshi, "Social Security Legislation in India", in K.D. Gangrade, *Social Legislation in India*, vol. II (Delhi, 2011 [1978]), p. 221.

(71) "Social Security Plan for India", *ToI*, 21 September 1945, p. 7; see also: ILOrep 10/1945, pp. 30, quoted from *The Hindu*, 15 October 1945.

(72) "Sir W. Beveridge's Visit Not Yet", *ToI*, 10 October 1945, p. 6; "Note left by Sir W. Beveridge at meeting... 19/9/[1945]", BL: IOR/L/E/8/2903 "Social Security in India. Proposed Visit by Sir W. Beveridge".

(73) W. Beveridge to D. Montearth, India Office, draft letter, 21 September 1945, BL: IOR/L/E/8/2903 "Social Security in India. Proposed Visit by Sir W. Beveridge".

(74) ILOrep 2/1940, p. 23, quoted from *Annual Public Health Report on Delhi Province for 1938*, (New Delhi, 1939), p. 105.

(75) ILOrep 2/1938, pp. 32-34 (summarizing the Government of India's *Indian Industries and Labour Bulletin* 63, on "Sickness Insurance").

(76) Cf. Indivar Kamtekar, "A Different War Dance: State and Class in India, 1939-1945", *Past and Present* 176 (2002), pp. 189-201.

(77) B.N. Datar and I.G. Patel, "Employment during the Second World War", *Indian Economic Review*, 3:1 (1956), p. 25.

(78) 1947 के "राज्य के संकट" पर सबसे बेहतरीन विश्लेषण है: Indivar Kamtekar, *The End of the Colonial State in India, 1942-1947* (Cambridge, 1998, unpublished Ph.D. thesis).

(79) Calculated from figures provided in: ILG I:8 (February 1944), p. 191; II:3 (September 1944), pp. 90-94; IV:4 (October 1946), pp. 123ff.

(80) Shreekant A. Palekar, *Problems of Wage Policy for Economic Development. With Special Reference to India* (London, 1962), p. 68.

(81) इस पर बृहत चर्चा के लिए देखें मेरा लेख: "Produce or Perish", *MAS* (forthcoming).

(82) इन फाइलों में बहस विस्तृत रूप से डाकुमेंटेड हैं: BL: IOR/L/E/8/2527 *Social Reform in India, 1942-1944*.

(83) BL: IOR/L/E/9/442 *Labour: Legislation - Programme for Labour Legislation in India and Government of India Policy* (Extract from Private Secret Letter from Lord Wavell to Lord Pethick-Lawrence, 5 December 1945).

(84) ILG III: 8 (February 1946), p. 238.

(85) द्वितीय विश्व युद्ध के अंत में, भारतीय कारखानों की पुरानी और घिसीपिटी मशीनों को भारत के औद्योगिक उत्पादन का एक प्रमुख रुकावट माना गया Cf. C.D. Deshmukh, *Economic Developments in India, 1946-1956. A Personal Retrospect* (Bombay [etc.], 1957), p. 36.

(86) Anna Sailer, "Workplace Matters. The Bengal Jute Industry between the 1870s and the 1930s" (University of Göttingen, 2016, unpublished Ph.D. dissertation).

(87) Report of the Indian Industrial Commission, pp. 179-181, 190-192.

(88) Cf. Sailer, "Workplace Matters", esp. chapter 3. See also: Report of the Textile Labour Inquiry Committee, vol. 2 (final report) (Bombay, 1940), pp. 162-179; Labour Investigation Committee, Main Report, pp. 155-157.

(89) Datar and Patel, "Employment during the Second World War", p. 21.

(90) Labour Investigation Committee, Main Report, pp. 101-108. See also the note by Kanji Dwarkadas, a Bombay Labour Welfare Officer, on absenteeism, dated 5 February 1945, p. 2, in CSAS, 1945-49, reel 5.

(91) Labour Investigation Committee, Main Report, p. 101.

(92) Indian Labour Yearbook 1946 (Delhi, 1948), pp. 22-27; Indian Labour Yearbook 1948-49 (Simla, 1950), pp. 39-45.

(93) E. Lloyd Jones, "Sickness Absenteeism and Recording in Indian Industrial Establishments", *The Indian Medical Gazette*, 82:2 (1947), pp. 88-91.

(94) इस प्रकाशन में, "बीमारी और दुर्घटना" पहली बार शायद "अनुपस्थिति" की श्रेणी में गिना गया है in ILG V:3 (August 1947), p. 214. See also: *ibid.*, V:6 (December 1947), pp. 432ff.; *ibid.*, V:6 (January 1948), pp. 516ff.; *ibid.*, V:8 (February 1948), pp. 590ff.; *ibid.*, V:9 (March 1948), pp. 670ff.; *ibid.*, V:10 (April 1948), pp. 755ff.; *ibid.*, V:11 (May 1948), pp. 853ff.

(95) K.L. Basu Mallik and S.D.S. Greval, "Labour Absenteeism", *The Indian Medical Gazette*, 83:5 (1948), pp. 242-243. शायद क्योंकि कंपनी अमरीकी थी ?

(96) B. Natarajan, "Absenteeism in Organized Industries in the Madras Province", *Labour Law Journal*, vol. I (1949), p. 284.

(97) Rajnarayan Chandavarkar, "Industrialization in India before : Conventional Approaches and Alternative Perspectives", *MAS*, 19:3 (1985), pp. 655-657; *idem*, *The Origins of Industrial Capitalism in India. Business Strategies and the Working Classes in Bombay, 1900-1940* (Cambridge, 1994), pp. 263-265, 271-273; Basudev Chatterji, *Trade, Tariffs, and Empire. Lancashire and British Policy in India, 1919-1939* (Delhi, 1992), pp. 377-381 and *passim*; Pillai, *India and the ILO*, pp. 98-100.

(98) Chandavarkar, *The Origins of Industrial Capitalism*, pp. 389-396.

(99) *Idem*, "The Decline and Fall of the Jobber System in the Bombay Cotton Textile Industry, 1870-1955", *MAS*, 42:1 (2008), pp. 187, 201.

(100) Bishnupriya Gupta, "Wages, Unions, and Labour Productivity: Evidence from Indian Cotton Mills", *The Economic History Review*, 64:S1 (2011), pp. 76-98.

(101) Chandavarkar, "The Decline and Fall of the Jobber System", pp. 138-140, 185, 201-203.

(102) Labour Investigation Committee, Main Report, pp. 69-78.

(103) *Bulletins of Indian Industries and Labour* 63: "Sickness Insurance" (New Delhi, 1937), p. 82.

(104) Chandavarkar, "Decline and Fall of the Jobber System", pp. 187-189.

(105) Cf. Dhiraj Nite, "Work, Family and the Reproduction of Life: The Phase of Early Industrialisation in the Jharia Coalfields 1890-1940s", in M. van der Linden and P.P. Mohapatra (eds), *Labour Matters: Towards Global Histories. Studies in Honour of Sabyasachi Bhattacharya* (New Delhi, 2009), pp. 82-105.

(106) Labour Investigation Committee, Main Report, p. 349.

(107) Cf. *ibid.*, pp. 349-351; for medical services, maternity arrangements and provident funds at the company level see: *ibid.*, pp. 357-361.

(108) Cf. ILOrep 1/1943, pp. 12ff. (summarizing from the "Abstract of the Proceedings for the months September, October and November 1942, issued by the Bengal Chamber of Commerce").

(109) ILOrep 6/1946, p. 18 (citing the Employer Federation of India's *Industrial Bulletin* 481, 10 June 1946).

- (110) Labour Bureau, Ministry of Labour, Government of India, *Economic and Social Status of Women Workers in India* (Simla, 1953), pp. 12, 14ff. See also: Samita Sen, "Gender and Class: Women in Indian Industry, 1890-1990", *MAS*, 42:1 (2008), pp. 75-116.
- (111) Chandavarkar, "The Decline and Fall of the Jobber System", p. 209.
- (112) See the "model standing orders" for public sector enterprises that were published in ILG IV:8 (February 1947), pp. 328-330.
- (113) Cf. Sen, "Gender and Class".
- (114) Cf. Ahuja, "Produce and Perish".
- (115) B.P. Adarkar, *Report on an Enquiry into Conditions of Labour in the Engineering and Minerals and Metals Industries in India* (Simla, 1946), p. 2.
- (116) BL: IOR/L/E/8/2527 Social Reform in India, 1942-1944 (Memorandum by D.T. Jack "on Indian Labour Policy", forwarded by Ernest Bevin to Winston Churchill on 24 July 1943, p. 1).
- (117) "Technical Training Scheme", ILG III:7, p. 205.
- (118) BL: IOR/L/E/9/442 Collection 76/6 Labour: Legislation - Programme for Labour Legislation in India and Government of India Policy, 1945-1950 ("III. Summary of the Activities of the DGRE" [Director General of Resettlement and Employment], 24 February 1947, p. 2).
- (119) See above.
- (120) Ralph C. James, "The Casual Labor Problem in Indian Manufacturing", *The Quarterly Journal of Economics*, 74:1 (1960), p. 100. Morris D. Morris, *The Emergence of an Industrial Labor Force in India* (Berkeley, CA [etc.], 1965), pp. 84-100. इस चर्चा के संक्षिप्त स्रोतों के लिए देखें: Jan Breman, "The Study of Industrial Labour in Post-colonial India - the Formal Sector: An Introductory Review", in J. Parry, J. Breman, and K. Kapadia (eds), *The Worlds of Indian Industrial Labour* (New Delhi, 1999), pp. 4-12. यह विचार कि भारत के सूती वस्त्र उद्योग में कम उत्पादकता का कारण 'प्रति श्रमिक कम श्रम निवेश' या संभवतः उनकी 'काम में प्रयास के प्रति अनिच्छा' था हाल के दिनों में फिर से उठा है. देखें: Susan Wolcott and Gregory Clark, "Why Nations Fail: Managerial Decisions and Performance in Indian Cotton Textiles, 1890-1938", *The Journal of Economic History*, 59: 2 (1999), p. 420.
- (121) Tulsi Ram Sharma, *Location of Industry in India* (Bombay, 1948 [1946], p. 204.
- (122) ILOrep 1/1942, pp. 4-6 (special reports produced on the basis of participants' minutes and papers distributed at the 3rd Labour Ministers' Conference).
- (123) BL: IOR/L/E/8/2527 Social Reform in India, 1942-1944. See also above.
- (124) ILOrep 10/1942, p. 5 (cites *The Statesman*, 14 October 1942).
- (125) ILOrep 10/1944, pp. 24ff. (cites "Unofficial Note issued by the Bureau of Public Information, Government of India", n.d.).
- (126) Adarkar, *Report on Health*, pp. 14-16.
- (127) ILOrep 7/1945, p. 18 (referring to ILG 6, 1945).
- (128) ILG V:10 (April 1948 ), pp. 698-701; ILOrep 4/1948, pp. 90-93 (cites *The Statesman*, 2 and 3 April 1948).
- (129) "Employees' State Insurance Corporation", *ToI*, 30 August 1949, p. 11.
- (130) ILOrep 5/1951, pp. 16-18 (cites *Hindustan Times*, 17 May 1951).
- (131) "State Insurance Scheme. Employers' Opposition", *ToI*, 18 August 1950, p. 5; "A Sorry State", *ToI*, 20 September 1950, p. 6. See also: V.M. Albuquerque, "Employees' State Insurance Scheme in India", ILG 16/2 (1958), pp. 108ff.
- (132) ILOrep 2/1952, pp. 94ff. (cites *The Statesman* and *National Herald*, 25 February 1952).

- (133) Report of the Study Group on Social Security, New Delhi: Government of India, Ministry of Labour and employment, 1958, p. 25. स्टडी ग्रुप की अध्यक्षता आई एल ओ की भारतीय शाखा के निर्देशक वी के आर मेनन कर रहे थे। जबकि अन्य सभी सदस्य सरकारी अधिकारी थे। एस ए डेग्रे के प्रस्तावना एवं अतिरिक्त परिशिष्टों के साथ एटक ने यह रिपोर्ट प्रकाशित भी की था: A Question to Trade Unions: On ESI, PF and Pension Schemes. Report of the Study Group on Social Security (New Delhi, 1959), p. 23.
- (134) Punekar, Social Insurance, pp. 3f., 9f.; Adarkar, Report on Health, pp. 24ff.; "Memorandum submitted by the All-India Trade Union Congress in connection with Prof. Adarkar's Report on Health Insurance for Industrial Workers", Trade Union Record, IV/5-6 (1-2/1945), pp. 38ff. (copy preserved in CSAS: US State Department Central Files, India Internal Affairs, reel 5).
- (135) ILO rep 8/1940, pp. 35ff. (cites Circular no. 146, dated 8 August 1940, of the Employers' Association of Northern India in Kanpur); ILOrep 6/1943, p. 12 (citing Proceedings of Bombay Chamber of Commerce for May 1943).
- (136) ILO rep 11/1935, p. 12 ("Abstract of Proceedings of the Committee of the Bengal Chamber of Commerce for Sept. 1935").
- (137) ILO rep 6/1943, p. 12 (excerpted from Proceedings of the Bombay Chamber of Commerce, May 1943).
- (138) ILO rep 12/1940, pp. 18-20 (excerpted from Proceedings of the Committee of the Bombay Chamber of Commerce, October 1940); see also: ILOrep 11/1939, pp. 34ff. (excerpted from Proceedings of the Committee of the Millowners' Association, Bombay, October 1939).
- (139) "Memorandum submitted by the All-India Trade Union Congress...", Trade Union Record, IV: 5-6 (January-February 1945), p. 39.
- (140) Adarkar, Report on Health, p. 186.
- (141) "Fixing of Labour Conditions by Employers", ToI, 13 April 1946, p. 8.
- (142) ILOrep 1/1942, pp. 4-6 (special reports on the 3rd Labour Ministers' Conference and the preceding meeting of the Labour Ministers with employer and worker representatives in January 1942).
- (143) Adarkar, Report on Health, p. 164. See also: "Health Insurance Plan for Workers. Provincial Govt.'s Attitude", ToI, 31 October 1944, p. 4.
- (144) Adarkar, Report on Health, pp. 38-45, 105-109.
- (145) Ibid., pp. 63ff.
- (146) ILOrep 7/1947, pp. 28ff. (cites proceedings of the Committee of the BMOA for January to March 1947).
- (147) Punekar, Social Insurance, pp. 194ff.
- (148) "Health Insurance Scheme. Central Act Likely to be Amended", Bombay Chronicle, 5 December 1950, p. 1; Report of the Study Group on Social Security, pp. 24ff.
- (149) A Question to Trade Unions: On ESI, PF and Pension Schemes, p. 107.
- (150) Albuquerque, "Employees' State Insurance Scheme", pp. 108ff.
- (151) Cf. ibid., p. 108; Punekar, Social Insurance, pp. 148-150, 158ff.
- (152) See above.
- (153) Adarkar, "A Social Security Plan for India", p. 14; see also: pp. 11-17, 23; idem, Report on Health, p. 12.
- (154) आदरकर ने इस संबंध में एक प्रस्ताव का हवाला दिया, जो एम्प्लोयेर्स फेडरेशन ऑफ इंडिया (प्रवासी अंग्रेज के संगठन) और आल इंडिया आर्गनाइजेशन ऑफ इंडस्ट्रियल एम्प्लोयेर्स (भारतीय बिग बिजनेस द्वारा नियंत्रित) के एक संयुक्त सम्मलेन में सितम्बर 1940 में पारित हुआ था. Adarkar, Report on Health, p. 164. ये भी देखें ILO rep 8/1940, p. 37 (summarizing a "Letter to the Superintendent of Industries, Delhi, sent by the Secretary, All-India Organisation of Industrial Employers, on 15 August 1940, copy

of which was forwarded to this Office"). बॉम्बे मिल ओनर्स एसोसिएशन और कलकत्ता चौबर ऑफ कॉमर्स ने भी इस तर्क को स्वीकार किया। . Cf. ILOrep 9/1940, p. 26 and *ibid.*, 10/1940, p. 15. 1943 में अदारकर की रिपोर्ट तैयार करने की प्रक्रिया में बांटे गए प्रश्नावली के जवाब में इस तर्क को फिर से उठाया गया। Cf. ILOrep 6/1943, p. 12 (excerpted from Proceedings of the Bombay Chamber of Commerce, May 1943).

(155) "Scheme for Sickness Insurance. 'Should be on All-India Basis'", ToI, 30 June 1943, p. 6. See also: ILOrep 6/1943, p. 12 (excerpted from Proceedings of the Bombay Chamber of Commerce, May 1943).

(156) "Employers' Federation Pledge Support to Government", Bombay Chronicle, 20 December 1947, p. 3. See also: ILOrep 7/1943, p. 12 (cites Journal of the Indian Merchants' Chamber, July 1943).

(157) Adarkar, Report on Health, pp. 29, 159.

(158) ILOrep 10/1944, pp. 24ff. (cites "Unofficial Note issued by the Bureau of Public Information, Government of India", n.d.).

(159) "Memorandum submitted by the All-India Trade Union Congress ...", Trade Union Record, IV: 5-6 (January-February 1945), pp. 38, 40; see also: ILOrep 3/1945, pp. 24ff.

(160) "Note on the Report prepared by Professor B.P. Adarkar on a Scheme of Health Insurance for Industrial Workers, by Mr.M. Stack and Mr. R. Rao of the International Labour Office", p. 3, BL: IOR/L/E/8/4948 ("Health Insurance for Industrial Workers, including Sickness Statistics").

(161) ILG V: 10 (April 1948), pp. 698-701; ILO rep 4/1948, pp. 90-93 (referring to The Statesman, 2 and 3 April 1948). अधिनियम के एक समकालीन विश्लेषण के लिए देखें confidential report by K.D. Jones, Labour Adviser to the High Commissioner for the UK in New Delhi, to Secretary, Ministry of Labour and National Service, Overseas Department, London, 18 May 1948, in BL: IOR/L/E/8/6222.

(162) Punekar, Social Insurance, p. 84.

(163) RCLI, Evidence, Vol. VII, part 1: Railways (London: 1931), pp. 53-69; Dilip Subramaniam, "No Room for Class Struggle in These National Undertakings': Providing Social Welfare for Indian State Sector Industrial Workers (circa 1950-2000)," MAS, 49 (2015), pp. 1526-1579.

(164) ILO, Labour Legislation in India, pp. 95, 104. See also: Punekar, Social Insurance, pp. 54-57, 154-158.

(165) इस मुद्दे को कहीं और व्यवस्थित रूप से जांचा जाएगा। दक्षिण भारत में "मजदूर" और "कर्मचारी" की कानूनी स्थिति संबंधी टकरावों के विषय पर एक उत्तम अध्ययन के लिए देखें: D.W. Karuna, "The Emergence of the Informal Sector. Labour Legislation and Politics in South India, 1940-1970", MAS (forthcoming).

(166) P.S. Narasimhan, "Labour Reforms in Contemporary India", Pacific Affairs 26: 1 (1953), p. 49.

(167) "Speech by the Minister of Labour, Jagjivan Ram, at the inaugural ceremony of the Employees' State Insurance Corporation", 6 October 1948, BL: IOR/L/E/8/6222 "The Employees' State Insurance Act 1948". See also: "India Has Turned the Corner Now", ToI, 7 October 1948, p. 3.

(168) ILOrep 4/1949, pp. 71ff. (citing Hindustan Times, 22 April 1949).

(169) Government of India, Films Division, "Dawn of Social Security" (1952).

(170) V.V. Giri, Labour Problems in Indian Industry, Bombay et al.: Asia Publishing House, 1965 [1959], p. 267. See also: Albuquerque, "Employees' State Insurance Scheme", p. 108.

(171) Ravi Duggal, "Saving the Employees' State Insurance Scheme", EPW, 25 April 2015, p. 19.

(172) W. Beveridge to D. Monteath, India Office, draft letter, 21 September 1945, BL: IOR/L/E/8/2903 "Social Security in India. Proposed Visit by Sir W. Beveridge".

(173) Cf. Gabriele Dietrich, "Tamil Nadu: Construction Workers at Crossroads", EPW, 12 September 1992, pp. 1970-72; Rina Agarwala, Informal Labor, Formal Politics, and Dignified Discontent in India (Cambridge, 2013), pp. 4, 47-49.

(174) निर्माण मजदूरों के एक मामले के लिए देखें: "Road Roko: Police Remove Construction Workers", The Hindu, 10 February 2011. पावरलूम मजदूरों के एक मामले में: "Over, Powerlooms Fall Silent in Chennimalai", The Hindu, 28 October 2007. कॉन्ट्रैक्ट मजदूरों का ईएसआई में शामिल होने की मांग के हाल के मामलों के लिए देखें: "Workers Rampage at DLF Site, Seek Better Work Conditions", The Hindu, 22 July 2017; "Contract Power Staff on Strike to Seek Service Regularisation", The Hindu, 25 July 2018. कर्मचारियों के नए समूहों के लिए ईएसआई के प्रेषण का विस्तार करने की मांगों की लोकप्रियता भारत की वर्तमान बिजनेस पक्षधर सरकार की नीतियों में भी परिलक्षित है, जो राज्य बीमा के सिद्धांत से समग्र स्वास्थ्य नीति को हटाती रही है तब भी ईएसआई विस्तार की पायलट योजनाओं पर विचार कर रही है। देखें: "Pilot Project for ESI Cover to Construction Workers in Haryana: Gangwar", Tol, 18 April 2018.



# सामाजिक सुरक्षा के विचार की ऐतिहासिक जड़ें 'भविष्य की संभावनाएं'

प्रभु महापात्रा

इस लेख में मैं एक ऐसी रूपरेखा पेश करने जा रहा हूँ जो सामाजिक सुरक्षा के सवाल पर हमारी प्रचलित सोच से कुछ अलग है।

सामाजिक सुरक्षा का सवाल 'अधिकारों के विमर्श' से पैदा नहीं होता। ऐसा नहीं है कि पहले लोगों ने अधिकारों के लिए मांग उठाई और फिर सामाजिक सुरक्षा के लिए आवाज उठाने लगे। बल्कि सामाजिक सुरक्षा का सवाल एक बिल्कुल अलग कोण से सामने आया है। इसकी जड़ें उन्नीसवीं सदी में सामने आए एक और प्रश्न में गुंथी हुई हैं। इसे 'सामाजिक प्रश्न' के नाम से जाना जाता है। सामाजिक प्रश्न — इस शब्दावली के बहुत सारे अर्थ हैं और लिहाजा इसका प्रयोग समाज के व्यापक दरिद्रीकरण, ग्राम समुदाय की परंपरागत सामाजिक सहायता से वंचित शहरी समुदायों की दयनीय जीवन परिस्थितियों, तीव्र औद्योगिकीकरण और बेलगाम पूंजीवाद की वजह से होने वाले शारीरिक और 'नैतिक' पतन जैसे अलग-अलग अर्थों में किया जाता रहा है। इसके अलावा मेहनतकश गरीबों, निराश्रित और बेरोजगार लोगों के 'खतरनाक वर्गों' के प्रति पैदा होने वाले भय के लिए भी इसका इस्तेमाल किया जाता था।

जैसे-जैसे मजदूर वर्ग संगठित हुआ वैसे-वैसे मजदूरों की तरफ से और अभिजात्य वर्गों की तरफ से भी सामाजिक प्रश्न पर अलग-अलग प्रतिक्रियाएं आने लगीं। लिहाजा, सामाजिक प्रश्न का दूसरा पहलू यह है कि यह एक ऐसी रूपरेखा का केंद्रीय हिस्सा है जिसमें 'वर्ग संघर्ष' के बारे में अब हम ज्यादा बात करना पसंद नहीं करते। यहां वर्ग संघर्ष से आशय सिर्फ मजदूरों और पूंजी के वर्ग संघर्ष से नहीं है बल्कि औपनिवेशिक शोषित जन और भूतपूर्व सत्ताकेंद्रों के बीच के संघर्षों से भी है। सामाजिक प्रश्न को मजदूर प्रश्न के समकक्ष और तत्पश्चात मजदूर अधिकारों के बरक्स रख देने पर हमें 'सामाजिक सुरक्षा' की जड़ें दिखाई देने लगती हैं।

ये दोनों आयाम बहुत महत्वपूर्ण हैं और हमें सामाजिक सुरक्षा के सवाल पर इसी संदर्भ में बात करनी चाहिए। इस मुद्दे को सिर्फ अधिकारों के अभाव के मुद्दे के रूप में देखना बेहद संकुचित समझदारी होगी।

यान ब्रेमन और मार्सल वनडेरलिनडेन ने हाल ही में 'इक्कीसवीं शताब्दी में सामाजिक प्रश्न की वापसी' का जिक्र किया है। इस प्रसंग में वे इक्कीसवीं शताब्दी में सामाजिक प्रश्न के स्वरूप पर भी बात करते हैं।

यह प्रश्न दोबारा क्यों उभरा है? बहुत सारे अर्थशास्त्री भी सामाजिक प्रश्न पर गौर करने लगे हैं। वे पूंजीवाद के संकट को टालने के इरादे से इस बात पर गौर कर रहे हैं। इसे सिर्फ अधिकार प्रदान करने की प्रणाली के रूप में नहीं बल्कि संकटों को टालने की पद्धति



के रूप में भी देखा जा रहा है। बहुत सारे विद्वानों और बुद्धिजीवियों ने इस बात का जिक्र किया है कि बहुत बार सामाजिक सुरक्षा संकट के समय में सामने आई हैं, हमेशा सिर्फ प्राचुर्य और तरक्की के समय सामने नहीं आईं। सामाजिक सुरक्षा की व्यापक व्यवस्था से कई बार अर्थव्यवस्था में प्रगति तेज भी हुई है। उदाहरण के लिए, दूसरे विश्वयुद्ध के बाद सार्वभौमिक सामाजिक सुरक्षा पर जोर दिया गया था। इस सार्वभौमिक सामाजिक सुरक्षा की शुरुआत महामंदी के दौरान पूंजीवाद के भयानक संकट से निपटने के लिए अमेरिका में राष्ट्रपति रूजवेल्ट द्वारा पेश की गई न्यू डील व्यवस्था से हुई थी और जब अस्सी के दशक के बाद सार्वभौमिक सामाजिक सुरक्षा में उत्तरोत्तर कटौती की जाने लगी तो 2008 का वैश्विक संकट सामने आया। चूंकि, सवाल ये है कि आज हम सार्वभौमिक सामाजिक सुरक्षा के मुद्दे पर क्यों चर्चा कर रहे हैं – क्या इसलिए क्योंकि बहुत सारे 'प्रेसर ग्रुप' इसे उठा रहे हैं? या इसलिए कि यह वर्तमान संकट की समस्या के केंद्र में है? सच सिर्फ इतना नहीं है कि 2008 से शुरू हुई संकट के कारण गैर-बराबरी और सामाजिक असुरक्षा बढ़ गई है। यह भी सच है कि गैर-बराबरी और सामाजिक असुरक्षा स्वयं आर्थिक संकट का प्रमुख कारण थी।

आइये सामाजिक सुरक्षा के प्रश्न के नए उभार की वजहों पर गौर करें। देखें कि इसका इतिहास क्या रहा है और उसके इर्द-गिर्द कौन से केंद्रीय अवधारणात्मक सवाल हैं।

पहला सवाल यह है कि इसे नागरिकता अधिकारों का या मजदूर अधिकारों का प्रश्न माना जाए। सामाजिक सुरक्षा का सवाल शुरुआत में मजदूर अधिकारों की मांगों के जवाब में सामने आया था। बल्कि हमें कहना चाहिए कि सामाजिक प्रश्न का संबंध मजदूरों से था – और वहीं से सार्वभौमिक अधिकारों की अभिव्यक्ति और व्याख्या शुरू हुई थी।

सन् 1948 की संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार घोषणा या 1944 की आईएलओ की फिलाडेलफिया घोषणा, इन सभी में मजदूर अधिकारों को एक सामाजिक प्रश्न के रूप में पेश किया गया है और क्रमशः सार्वभौमिक अधिकारों की बात की गई है, यह भेद बहुत महत्वपूर्ण है। इससे पता चलता है कि क्यों सामाजिक सुरक्षा का संबंध शुरुआत में सिर्फ रोजगार से था और इसमें बेरोजगारों के लिए, असंगठितों कामगारों के लिए कोई प्रावधान नहीं था। यह नागरिकता अधिकारों और मजदूर अधिकारों के बीच चले आ रहे तनाव की अभिव्यक्ति थी। नागरिकता अधिकार और श्रम अधिकार एक दूसरे से खिलाफ तो नहीं मगर दोनों में फर्क भी बहुत स्पष्ट है।

सामाजिक प्रश्न के इस रूपांतरण को एक व्यवस्थित ढंग से पेश किया जा सकता है। यूरोप में सामाजिक प्रश्न 1840 के दशक में सामने आ चुका था मगर उस पर गंभीरता से विचार-विमर्श उन्नीसवीं शताब्दी के आखिरी दशकों में जाकर शुरू हुआ।

सन् 1946 में कार्ल पोलांन्यी ने अपनी ऐतिहासिक रचना 'दि ग्रेट ट्रांसफॉर्मेशन' में इस बात पर विचार किया है कि पूंजीपति भी सामाजिक सुरक्षा के मुद्दे पर क्यों विचार करने लगे थे जबकि सौ साल से वे इसे नजरअंदाज करते आ रहे थे। उदाहरण के लिए, 1830 के दशक में इंग्लैंड में गरीबों, बेरोजगारों और वृद्धों को मामूली सामाजिक सुरक्षा का

आश्वासन देने वाले 'पुराने गरीब-कानूनों' में जबरदस्त बदलाव किए गए। वर्क हाउसेज और पूअर होम्स पर आधारित अभावों की एक ऐसी कठोर व्यवस्था सामने आई जिसको चार्ल्स डिकेंस के उपन्यासों में हम बार-बार देखते हैं। एक तरफ तो सामाजिक सुरक्षा की पुरानी व्यवस्था को तहस-नहस किया गया और दूसरी तरफ एक स्वायत्त बाजार का विचार मजबूत होने लगा जिससे औद्योगिकीकरण का तेजी से विस्तार हुआ। क्रमशः इसी से, बकौल पोलान्थी इस बेलगाम पूंजीवाद के जवाब में समाज की स्वतःस्फूर्त प्रतिक्रिया के तौर पर यूरोप के बहुत सारे भागों में एक संगठित ट्रेड यूनियन आंदोलन सामने आया। जैसा कि पोलान्थी की मशहूर उक्ति में कहा गया है, समाज का बल राज्य को बदल देता है। हालात इतने खस्ता थे कि सामाजिक ताना-बाना तहस-नहस हो रहा था और वर्ग संघर्ष इतना तीखा हो चुका था कि एक मजबूत संगठित मजदूर आंदोलन पैदा हो गया और मजदूरों का प्रतिनिधित्व करने वाले राजनीतिक दल अस्तित्व में आ गए। उन्नीसवीं शताब्दी के इस सामाजिक और राजनीतिक संकट के संदर्भ में ही हमें राज्य और पूंजीपतियों द्वारा सामाजिक प्रश्न पर सोचने और मजदूरों के लिए सामाजिक सुरक्षा मुहैया कराने की पहली चेष्टाएं दिखाई पड़ती हैं।

इस पर सबसे मशहूर पहलकदमी बिस्मार्क की दिखाई देती है। यानी सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था पहली बार किसी उदार सरकार की तरफ से नहीं बल्कि एक तानाशाह, एक निरंकुश सत्ता की तरफ से जर्मनी में पेश की गई। यह हमारे इतिहास की बड़ी अजीबोगरीब बात है। बिस्मार्क ने सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी पर पाबंदी लगा दी और दूसरी उदार पार्टियों पर भी तरह-तरह की बंदिशें थोप दीं इसके बावजूद 1871 के बाद उसी ने पहली बार बेरोजगारी बीमा, पेंशन और ऐसी ही अन्य सुविधाएं देना शुरू किया।

मजदूरों के लिए सुधार सामाजिक सुरक्षा का यह रुझान पहले विश्वयुद्ध के बाद आईएलओ के गठन के रूप में और रूसी क्रांति की प्रतिक्रिया में और स्पष्ट रूप से सामने आया। यहीं से हम 'औपचारिक क्षेत्र मजदूर' और 'मानक रोजगार संबंध' के उदय को देख सकते हैं, जिनसे रोजगार और सामाजिक सुरक्षा का एक निश्चित स्तर तय हुआ।

तीस के दशक की महामंदी के भयानक सामाजिक नतीजों की बदौलत 'न्यू डील' की जरूरत पैदा हुई और दूसरे महायुद्ध के बाद उन्नत पूंजीवादी देशों को अपने नागरिकों को एक कल्याणकारी व्यवस्था मुहैया कराने के लिए सोवियत संघ के साथ कड़ी प्रतिस्पर्धा में उतरना पड़ा। संयुक्त राष्ट्र की सार्वभौमिक मानवाधिकार घोषणा तथा 1944 की आईएलओ की फिलाडेल्फिया घोषणा (श्रम कोई माल नहीं है) में मजदूरों के अधिकारों को सूत्रबद्ध किया गया और नागरिकों को एक सम्मानजनक जीवन प्रदान करने के लिए सामाजिक सुरक्षा को एक सार्वभौमिक मानवाधिकार का दर्जा दिया गया। विश्व युद्ध के बाद से लेकर सत्तर के दशक तक के लगभग तीन दशक उन्नत पूंजीवादी देशों में लगभग पूर्ण रोजगार के दशक माने जाते हैं और इसीलिए इस दौर को 'पूंजीवाद का स्वर्ण युग' भी कहा जाता है। इसी दौर में यूरोप में संगठित और शक्तिशाली ट्रेड यूनियन और मजदूर आंदोलन का भी भीषण विकास हुआ। ट्रेड यूनियनों की सघनता और सक्रियता अस्सी के दशक तक आते-आते अपने शिखर पर पहुंच चुकी थी। इसी दौर में ज्यादातर उन्नत पूंजीवादी देशों में

मजदूर अधिकारों, खासतौर से पेंशन, सामाजिक बीमा और स्वास्थ्य जैसे सामाजिक सुरक्षा प्रावधानों को 'सामाजिक नागरिकता' की अवधारणा में समाहित किया गया।

मगर, सत्तर के दशक में आए पूंजीवादी संकट का नया चक्र और उसके बाद लागू की गई नवउदारवादी नीतियों के साथ पूरा दृश्य नाटकीय रूप से बदल गया। वैश्वीकरण तथा श्रम की नई अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था ने संगठित मजदूर आंदोलन और मानक रोजगार संबंधों को तहस-नहस कर दिया जिसके चलते बहुत सारी औद्योगिक मैन्युफैक्चरिंग गतिविधियां लैटिन अमेरिका और सुदूर-पूर्व के विकासशील देशों में स्थानांतरित होने लगीं। सोवियत संघ के पतन से 'स्वतंत्र विश्व' (पूंजीवादी देश अपने आपको इसी नाम से संबोधित करते थे) के सामने पूर्ण रोजगार और कल्याणकारी राज्य के मुखौटे को पहन कर रखने की एक बड़ी राजनीतिक मजबूरी भी खत्म हो गई। इसके बाद सामाजिक सुरक्षा को मजदूर अधिकारों के साथ जोड़कर देखने की प्रक्रिया भी अस्त-व्यस्त होती चली गई, जिसे सौ सालों के संघर्ष ने संभव बनाया था। मजदूर अधिकार कमजोर होते गए और मजदूरी गिरती चली गई। सामाजिक असमानताओं में जबरदस्त इजाफा हुआ।

यह देखने लायक बात है कि भारत में सामाजिक सुरक्षा की कहानी किस तरह सामने आई? यहां हमें इस बात को याद रखना होगा कि औद्योगिक उजरती मजदूरों की वृद्धि और उनकी बढ़ती संगठन क्षमता तथा उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के जरिए दुनिया भर में पूंजीवाद के विस्तार – इन दोनों प्रक्रियाओं के बीच गहरा संबंध रहा है। इसे दुनिया भर में सामाजिक प्रश्न के उदय से अलग करके नहीं देखा जा सकता। यानी इसी आधार पर हम अपने समाज को सही ढंग से सूत्रबद्ध कर सकते हैं: एक ऐसा समाज जो पूरी तरह पूंजीवादी हो चुका है और पूरी तरह पण्यकृत हो चुका है, जहां समाज का कोई भी हिस्सा पूंजी की चपेट से बाहर नहीं है, जहां श्रम भी एक पण्य बन चुका है – ऐसी ही स्थिति में सामाजिक सुरक्षा के सार्वभौमिकीकरण को एक विकल्प के रूप में सोचा जा सकता है। इस प्रकार, यहां नागरिकता आधारित सार्वजनिक सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था और श्रम अधिकारों के प्रश्न के बीच एक अजीबो-गरीब संबंध दिखाई पड़ता है।

औपनिवेशिक देशों में 1920 के दशक से सामाजिक सुरक्षा की एक संकुचित अवधारणा क्यों और किस तरह विकसित हुई – उसका जवाब भी यही मिलेगा। इस बारे में खूब बहस की जा सकती है कि औपनिवेशिक शासकों ने सामाजिक सुरक्षा का प्रश्न सामने ही क्यों रखा? फिर भी, इससे तो इंकार नहीं किया जा सकता कि उन्होंने इस काम को हिचकिचाते हुए और बहुत सीमित ढंग से ही सही, पर लागू किया। साथ ही, यह भी सच है कि उन्होंने यह व्यवस्था औद्योगिक मजदूर वर्ग के बहुत छोटे तबके तक ही सीमित रखी। इसके फलस्वरूप जो दोहरी व्यवस्था पैदा हुई, उसमें हम खास तौर से औपनिवेशिक और उत्तर औपनिवेशिक प्रसंगों में, 'मजदूर अधिकार बनाम नागरिक अधिकार' की बहस को तलाश कर सकते हैं। सवाल उठता है कि मजदूरों के सारे तबकों को इस व्यवस्था में शामिल क्यों नहीं किया जा सकता था? औपनिवेशिक राज्य की कल्पना के हिसाब से आधुनिक उद्योग में मजदूरों की संख्या बहुत कम थी और साम्राज्यवाद की कार्यप्रणाली आधुनिक उद्योगों के विस्तार को सीमित रखती थी। उन्नीसवीं शताब्दी में सामाजिक सुरक्षा

का प्रश्न पूरी तरह मजदूरों और उनके परिवारों के ऊपर छोड़ दिया गया था। हालाँकि कुछ स्थानों पर मालिकों को भी ये जिम्मेदारी सौंपी गई थी। उन्नीसवीं शताब्दी की शुरुआत में औपनिवेशिक अधिकारी तो देश के बहुत सारे भागों में फैली दासता की स्थितियों को भी 'गरीब कानून का भारतीय संस्करण' यानी सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था मानते थे। जब आधुनिक उद्योग और बागान स्थापित किए गए तो सरकार दलाल (जॉबर), सरदारों और मुकद्दमों जैसे बिचौलियों और कठोर कानूनी अनुबंधों (जैसे चाय बगानों और बहुत सारे छोटे उद्योगों में मजदूर प्रतिरोध को अपराध घोषित कर देना) के जरिए मजदूरों की भर्ती और नियंत्रण करने लगी। 1920 के दशक में, जब भारत भी आईएलओ का सदस्य बन गया तो सामाजिक सुरक्षा के कुछ प्रावधानों को भारत में भी लागू करने की जरूरत महसूस की गई। इसके विरोध में अन्य साम्राज्यवादी देशों के साथ-साथ ब्रिटेन ने भी मांग की थी कि पिछड़े देशों के मामले में इन प्रावधानों में रियायतें दी जाएं। मिसाल के तौर पर, यह कहा गया कि काम के घंटों की संख्या, सुरक्षा प्रावधानों और बाल मजदूरी जैसे कानूनों को आईएलओ के सामाजिक सुरक्षा नियमों के दायरे से बाहर रखा जाए। जब रॉयल कमीशन ऑन लेबर (1931) ने भारतीय मजदूरों को दी जा रही सामाजिक सुरक्षा की मौजूदा स्थिति के बारे में लिखा तो उन्होंने भी यह सुझाव दिया कि सामाजिक सुरक्षा प्रावधानों को धीमी गति से ही सभी मजदूरों तक फैलाया जाए। आयोग का तर्क था कि भारतीय मजदूर अभी भी औद्योगिक जीवन के प्रति आंशिक रूप से ही प्रतिबद्ध हैं और वे अभी भी एक उभयचर जीवन जी रहे हैं। वे गांवों और अपने कुटुंब के साथ भी जुड़े हुए हैं जिससे उन्हें एक हद तक सामाजिक सुरक्षा मिल रही है। औपनिवेशिक राज्य के अधिकारियों को ये नहीं सूझा कि शहरों और फैक्टरियों में मजदूरों के जीवन और काम के हालात जिस कदर भयानक थे, उसके चलते ही मजदूरों को सामाजिक सुरक्षा के लिए अपने गांवों और कुटुंबों पर निर्भर रहना पड़ता था। अब ये कहा ही जा सकता है कि मजदूरों के पुनरुत्पादन की लागत गांव वहन करते रहे, मगर इसका पूरा हर्जाना राज्य या पूंजीपतियों ने अदा नहीं किया। अनौपचारिक क्षेत्र के मजदूरों को बहुत कम मजदूरी देने वाली अभ्यास की शुरुआत और लम्बी धारावाहिकता की जड़ को इसी संकीर्ण सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था में ढूंढा जा सकता है।

सामाजिक सुरक्षा की यह संकुचित व्यवस्था भूतपूर्व उपनिवेशों में विकास की प्रक्रिया से पैदा हुई थी। ये माना जा रहा था कि उन्नत पूंजीवादी समाजों ने जो रास्ता और तरीका अपनाया है, वह धीरे-धीरे दुनिया भर के उपनिवेशों को अपने दायरे में ले लेगा और सभी समाज एक जैसे हो जाएंगे। लिहाजा विभिन्न प्रकार के प्रेशर ग्रुप इत्यादि अपने-अपने ढंग से सामाजिक सुरक्षा के बारे में बात करते थे और आमतौर पर ये विश्वास व्याप्त था कि आजादी के बाद आधुनिक भारत में भी यह समरूपता अपने आप कायम हो जाएगी। अपेक्षा और वास्तविकता के इस फासले की वजह से साठ के दशक के बाद सामाजिक सुरक्षा की अवधारणा में एक समस्या दिखाई पड़ने लगी है।

फिलहाल हम एक नए चरण में हैं जहां 2008 के बाद नवउदारवादी पूंजीवादी व्यवस्था के स्थायी संकट ने एक बार फिर सार्वभौमिक सामाजिक सुरक्षा की मांग को स्वीकार्य और आवश्यक बना दिया है। अतीत में उन्नत पूंजीवादी देशों ने 'मानक रोजगार संबंध

सहित' पूर्ण रोजगार का जो रास्ता चुना था, वह अब दुनिया के ज्यादातर मजदूरों के लिए उपलब्ध नहीं है। इसकी वजह से पैदा हुई असमानता और आजीविका साधनों की दुर्लभता लोकतांत्रिक पूंजीवादी विश्व के अस्तित्व के लिए ही एक खतरा बनती जा रही है। एक बार फिर हम उन्नीसवीं शताब्दी के आखिरी दशकों से मिलते-जुलते दौर में पहुंच गए हैं जहां सभी के लिए सामाजिक सुरक्षा की मांग पर बात करना संकट को टालने के लिए जरूरी हो गया है। तब और अब में फर्क ये है कि आज संगठित मजदूर वर्ग और आंदोलन बहुत ही कमजोर हैं। जब हम मजदूर की परिभाषा को फैलाएंगे और स्थायी या अस्थायी, सभी तरह के मजदूरों को उसकी परिभाषा में शामिल करेंगे, बेरोजगार, अनौपचारिक रोजगारों में लगे असंख्य लोगों, गृहिणियों और घरेलू मजदूरी करने वाली महिलाओं को मजदूर की श्रेणी में शामिल करेंगे, तभी एक नया आंदोलन पैदा हो सकता है जो पूंजीपतियों और उनके हित में काम करने वाले राज्य को इसके लिए विवश करे कि वे अपना रास्ता बदलें और अनौपचारिकरण तथा रोजगारों की अस्थिरता पर अंकुश लगाएं।

वर्ग संघर्ष सिर्फ सड़कों पर नहीं होता यह विचारों के धरातल पर, प्रबंधन की दुनिया में और दूसरे क्षेत्रों में भी चलता रहता है। हमें इसी रोशनी में यह देखना चाहिए कि आज सार्वभौमिक सामाजिक सुरक्षा की मांग के लिए एक अनुकूल वातावरण बनता दिखाई दे रहा है। हमें इस बात पर सोचना चाहिए कि इसके लिए हमें कौन से तरीके और रणनीतियां इस्तेमाल करनी होंगी हमारी मांगें सार्वभौमिक अधिकारों की रूपरेखा से बंधी होंगी या तथाकथित नागरिक अधिकारों की रूपरेखा से बंधी होंगी या हमें मजदूर अधिकारों के आंदोलन को ही सार्वभौमिक विस्तार देने पर सोचना चाहिए।

# रोजगार एवं सामाजिक सुरक्षा: भारतीय संदर्भ में कुछ महत्वपूर्ण चिंताएं

बाबू पी. रमेश

रोजगार और सामाजिक सुरक्षा, ये दोनों अवधारणाएं एक-दूसरे से गहरे तौर पर जुड़ी होती हैं और एक-दूसरे को पुष्ट करती हैं। चाहे कोई रोजगार में हो, या बेरोजगार हो (यानी ऐसे लोग जो रोजगार की तलाश कर रहे हैं) या कोई स्वरोजगार करता हो, सामाजिक सुरक्षा सभी के लिए महत्वपूर्ण है। यहां हमें इस बात पर गौर करना चाहिए कि रोजगार के स्वरूप और सामाजिक सुरक्षा के बीच बहुत गहरा संबंध होता है। किसी मजदूर के रोजगार की हैसियत और स्थिति से इस बात पर बहुत फर्क पड़ता है। यानी वह दिहाड़ी मजदूर है या पक्का मजदूर है, परमानेंट है या टेंपरेरी, अल्पकालिक है या दीर्घकालिक, वेतनभोगी है या अवैतनिक, प्रवासी है या स्थानीय — इन सबके आधार पर मजदूर को मिलने वाली सामाजिक सुरक्षा में बहुत भारी अंतर आ जाता है। दूसरी तरफ, पक्की नौकरी (रोजगार सुरक्षा) के साथ मजदूर को मोलभाव की ज्यादा ताकत और बेहतर कार्य परिस्थितियां मिल जाती हैं।

सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था बेरोजगारों के लिए भी बहुत महत्वपूर्ण होती है। बेरोजगारी भत्ता, सामाजिक बीमा योजना, रोजगार गारंटी और वर्क फेंयर कार्यक्रम बेरोजगारों की जिंदगी में एक न्यूनतम सुरक्षा प्रदान करते हैं। मगर, भारत जैसे अल्पविकसित देशों के मामले में बेरोजगारी भत्ते के भुगतान जैसी व्यवस्था बहुत प्रभावी साबित नहीं होती क्योंकि ऐसे देशों में मजदूरों के लिए बेरोजगार रहना ही संभव नहीं होता। लिहाजा वे अकसर मामूली तनखाह वाले और कठोर कार्य परिस्थितियों वाले काम भी पकड़ लेते हैं। यह एक मुख्य वजह है जिसके चलते दुनिया के दक्षिणी देशों में निम्न श्रम मानकों वाली असुरक्षित, खस्ता रोजगार की अद्भुत बढ़ोत्तरी हुई है।

हमारे देश की श्रमशक्ति का एक बड़ा हिस्सा स्व-नियोजित है। स्वनियोजन या स्व-रोजगार शब्द सुनने में तो बहुत अच्छा लगता है मगर वास्तव में मजदूरों के लिए यह एक जाल होता है। स्वरोजगार में लगे मजदूरों को अकसर कोई सामाजिक सुरक्षा लाभ नहीं मिलते और वे अपना ही शोषण करने की स्थिति में पहुंच जाते हैं। ऐसे घरखाता मजदूर अकसर लंबी-लंबी पालियों में काम करते हैं। वे अपने आपको छुट्टी नहीं दे पाते और परिवार के सभी सदस्यों को काम में लगाए रखते हैं। स्वरोजगार करने वाले लोगों का एक बहुत छोटा तबका काफी संपन्न है मगर ज्यादातर स्वरोजगार मजदूरों की हालत बेहद खराब है। लिहाजा, हमें स्वरोजगार की श्रेणी में आने वाले मजदूरों को अलग-अलग करके देखना चाहिए तभी हमें पता चलेगा कि इनमें स्वरोजगार नियोक्ताओं की संख्या कितनी कम है और घर खाता मजदूरों और अवैतनिक सहायक मजदूरों की संख्या कितनी विशाल है (खासतौर से ग्रामीण इलाकों में)।

जब रोजगारशुदा लोगों के लिए सामाजिक सुरक्षा का सवाल आता है तो अनौपचारिक

और औपचारिक क्षेत्र की विभाजन का महत्व दिखायी देने लगता है। ऐतिहासिक रूप से सामाजिक सुरक्षा और औपचारिक रोजगार, ये दोनों स्थितियां लगभग एक साथ चलती रही हैं। हमारे देश में मजदूरों के लिए उपलब्ध सामाजिक सुरक्षा प्रावधान और योजनाएं मुख्य रूप से औपचारिक क्षेत्र के मजदूरों के पक्ष में ही बनाई जाती रही हैं। क्योंकि हमारे देश में असंगठित/अनौपचारिक क्षेत्र के रोजगारों की संख्या 90 प्रतिशत से भी ज्यादा है इसलिए ज्यादातर मजदूर सामाजिक सुरक्षा की इन योजनाओं और प्रावधानों से बाहर छूट जाते हैं। इसके साथ-साथ 'औपचारिक क्षेत्र के भीतर अनौपचारिकीकरण' की प्रक्रिया भी तेज होती जा रही है। यानी, सार्वजनिक क्षेत्र में भी बहुत सारे कामों के लिए लोगों को पक्की नौकरी पर रखने की बजाय ठेके पर रखा जाने लगा है।

पिछले कुछ सालों के दौरान औपचारिक और सार्वजनिक क्षेत्र के संस्थान भी लागतों में कटौती की गलाकाट प्रतिस्पर्धा में कूद पड़े हैं। इसका परिणाम ये है कि अब औपचारिक और सार्वजनिक क्षेत्र की कंपनियों में भी प्रोजेक्ट वर्कर्स की श्रेणी बहुत बड़ी हो चुकी है। ये मजदूर आमतौर पर स्थायी रूप से टेंपरेरी मजदूरों के तौर पर काम करते हैं। काम के कम महत्वपूर्ण हिस्सों के आउटसोर्सिंग, लेक्सी स्टाफिंग, एजेंसी-वर्कर को काम में रखना जैसी नई उत्पादन पद्धतियों के आने से इन कंपनियों में असुरक्षित मजदूरों की श्रेणी तेजी से बढ़ती जा रही है।

औपचारिक क्षेत्र में ऐसे बहुत सारे ठेका और असुरक्षित मजदूर अपनी नौकरी के साथ-साथ कोई दूसरा काम-धंधा भी करते पाए जाते हैं। वे अपने परिवारों का गुजारा चलाने के लिए बहुत मामूली कमाई पर बसर करते हैं। इसके अलावा 'स्वैच्छिक' (वोलंटरी) और 'अवैतनिक' (आनरेरी) मजदूरों की संख्या भी तेजी से बढ़ती जा रही है। यह भी हाल के सालों में सरकारी संस्थानों में अनौपचारिक मजदूरों की एक बहुत बड़ी श्रेणी बन गई है। इसके साथ-साथ, बीते कुछ दशकों के दौरान मजदूरों को काम पर रखने और निकालने की शर्तों को लचीला बनाने के नाम पर श्रम कानूनों के 'सुधार' एवं सामाजिक सुरक्षा में कटौती की जो हवा चली है उसने औपचारिक क्षेत्र में असुरक्षित मजदूरों की स्थिति और ज्यादा खराब कर दी है। यही कारण है कि अब सार्वजनिक क्षेत्र में भी जो नौकरियां मिल रही हैं वे भी युवाओं को आकर्षित नहीं करतीं।

पुराने औपचारिक क्षेत्र प्रतिष्ठानों में भी ठेका मजदूरी एक आम बात बन चुकी है। सरकारी और निजी क्षेत्र के बहुत सारे औपचारिक क्षेत्र प्रतिष्ठानों में ज्यादातर मजदूर ठेका मजदूर या एप्रेंटिस ही होते हैं। इसके अलावा पीस रेट वर्क और टारगेट आधारित नौकरियों की संख्या में भी चौतरफा इजाफा हो रहा है।

## उभरती चुनौतियां

आउटसोर्सिंग, ऑफशोरिंग, ग्लोबल प्रोडक्शन नेटवर्क, इस तरह की नए किस्म की उत्पादन पद्धतियों के आने से भूतपूर्व औपचारिक व सुरक्षित क्षेत्र की नौकरियां भी अब असुरक्षित होती जा रही हैं। इनमें काम करने वाले मजदूर भी अब सरकारी सुरक्षा और यूनियनों के माध्यम से सुरक्षा, दोनों तरह की सुरक्षा से वंचित होते जा रहे हैं।



इन नए प्रकार की उत्पादन पद्धतियों में मजदूरों की गोलबंदी और सामूहिकीकरण बहुत मुश्किल हो गई है। गिग इकोनोमी यानी तात्कालिक अनुबंधों में नौकरियों के उभार और औद्योगिक मंदी के माहौल में मजदूरों की छंटनी के हमेशा बने रहने वाले डर की वजह से उनको संगठित करना बहुत ही कठिन चुनौती बन चुका है।

इस बात पर दुनिया भर में सहमति है कि अल्पविकसित देशों में नवउदारवादी राज्य के तेजी से फैलाव और उभार ने इन देशों में असुरक्षित रोजगारों को तेजी से बढ़ाया है और सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रमों को कमजोर किया है। 'नवउदारवादी राज्य' शब्द ऐसी प्रवृत्ति के लिए इस्तेमाल किया जाता है जिसमें सरकार निजी पूंजी को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहायता दे रही होती है। इस आधार पर अब श्रम बाजार में लचीलेपन और श्रम कानूनों में मालिकों के अनुकूल सुधारों पर बहुत ज्यादा जोर दिया जाने लगा है। इस तरह की पूंजी-हितैषी सरकार के और भी कई लक्षण होते हैं, जैसे तनखाहों में कटौती और मजदूरों की यूनियनों को तोड़ने के प्रति एक खुला और आक्रामक रवैया, सार्वजनिक व्यय में कटौती, गरीबों के लिए सुरक्षा प्रावधानों में कमी, अधिकार आधारित समझ से बीमा योजना/डायरेक्ट ट्रांसफर/व्यक्तिगत व्यवस्थाओं की तरफ बढ़ना, सामाजिक सुरक्षा प्रावधानों को वापस लेना वगैरह। अधूरे डेटा मुहैया कराना (या डेटा इकट्ठा करने वाली व्यवस्थाओं के प्रति उदासीनता) भी नवउदारवादी सरकारों की एक और विशेषता है क्योंकि वे ऐसे लोगों की परवाह नहीं करती जो असुरक्षित नौकरियों में फंसे हुए हैं।

भारत के मौजूदा संदर्भ और 'ग्लोबल साउथ' के दूसरे अल्पविकसित देशों में अलग-अलग श्रेणियों के मजदूरों (जैसे - कृषि मजदूर, फेरीवाले, सरकारी प्रतिष्ठानों में टेंपरेरी स्टाफ, निर्माण स्थलों पर प्रवासी मजदूर, फ्रीलांस पत्रकार और स्टिंगर, घरेलू कामगार, सूचना प्रौद्योगिकी या आईटी मजदूर, बड़ी कंपनियों या एग्रीगेटर्स के साथ काम करने वाले कैब ड्राइवर, ऐप आधारित डिलीवरी कर्मचारी) के साझा पहलुओं को एक साथ रखने पर कुल मिलाकर जो दृश्य सामने आता है उसके लिए सिर्फ एक ही शब्द दिखाई पड़ता है - सामाजिक (अ)सुरक्षा।

## आगे का रास्ता

दुनिया भर में ये साबित हो चुका है कि बेरोजगारी से सुरक्षा की प्रभावी व्यवस्था लोगों की लाचारी को कम करती है और वे अमानवीय या घटिया नौकरियों से बच पाते हैं। सामाजिक सुरक्षा से मजदूरों की 'आरक्षित आय' में इजाफा होता है और वे अपना श्रम कम दर पर तथा हानिकारक शर्तों पर बेचने से बच सकते हैं।

सामाजिक सुरक्षा की सुरक्षात्मक और प्रोत्साहक, दोनों पद्धतियों का क्रियान्वयन मजदूरों की आरक्षित आय को बढ़ाने के लिए जरूरी है। बेरोजगारी भत्ता सुरक्षात्मक किस्म का उपाय है जबकि भूमि सुधार प्रोत्साहन किस्म का उपाय है, क्योंकि इससे किसी को सीधे सामाजिक सुरक्षा तो नहीं मिलती मगर बेहतर सामाजिक सुरक्षा की परिस्थितियां जरूर पैदा होती हैं।

इस प्रसंग में सबसे गरीब लोगों को मदद देने की कीन्सवादी पद्धति काफी मायने रखती है। हम देख सकते हैं कि हमारे देश और हमारे जैसे दूसरे देशों में चलाए जा रहे कई

सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रम मांग पैदा करने के लिए सबसे निर्धन तबके को सहायता देने के कीन्सवादी दर्शन पर आधारित हैं (जैसे काम के बदले भोजन कार्यक्रम, मनरेगा आदि)। यूनिवर्सल बेसिक इनकम और न्यूनतम आय योजना – न्याय – पर चल रही मौजूदा चर्चा को भी इसी नजरिये से देखा जाना चाहिए।

महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना (मनरेगा) हाल के वर्षों में शुरू किए गए सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रमों में से सबसे महत्वपूर्ण है, जिस पर विशेष रूप से बात की जानी चाहिए। इसे आईएलओ की संबंधित सिफारिशों के अनुसार एक प्रभावी सामाजिक संरक्षण लोर के रूप में देखा गया है (आईएलओ की संबंधित सिफारिश मनरेगा के लागू होने के बाद ही पारित की गई थी)। रोजगार गारंटी के जरिए न्यूनतम सामाजिक सुरक्षा का प्रावधान (यानी आरक्षित वेतन में वृद्धि) पर भी इस कार्यक्रम के तहत सफलतापूर्वक प्रयोग किया गया है।

इस योजना के दो फायदों का अकसर जिक्र होता है – एक तो मजदूरी में फासला कम हुआ (जैसे औरतों और मर्दों की मजदूरी में) और दूसरा – गांवों से लाचारी में होने वाले पलायन में कमी आई। इसके अलावा मनरेगा से कुछ और भी फायदे हुए – जैसे, औरतों को नकद आय मिलने लगी, स्कूलों में ज्यादा दाखिले हुए, लोगों के पोषण में सुधार आया, आर्थिक समावेशन हुआ वगैरह। इस योजना को इसलिए भी बहुत प्रभावी माना जाता है क्योंकि यह अधिकार आधारित है और कानून के माध्यम से मान्यता प्राप्त है। फिलहाल सामाजिक क्षेत्र में चलाई जा रही योजनाओं में इसके लिए सबसे ज्यादा आवंटन किया गया है।

लंबी दृष्टि से देखें तो सवाल सिर्फ बेरोजगारी से बचने और सामाजिक सुरक्षा सुनिश्चित करने के असरदार और किफायती आर्थिक तरीके ढूंढने का ही नहीं है, बल्कि एक समग्र सामाजिक कार्यक्रम विकसित करने का है, जो उचित और रचनात्मक रणनीतियों व नारों के माध्यम से मजदूरों के विभिन्न तबकों को नवउदारवादी पूंजी के खिलाफ एक साथ संगठित कर सके।

# सामाजिक सुरक्षा और वित्तीय संसाधन का सवाल

प्रो. विश्वजीत धर

तीन दशक पहले हमने जो नवउदारवादी एजेंडा अपनाया था, उसके असर अब स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगे हैं। चौतरफा बेरोजगारी, मैन्युफैक्चरिंग में गिरावट, वैल्यू एडिशन में मजदूरी की कम होती हिस्सेदारी, घरेलू उद्योग की उपेक्षा, औद्योगिक और खेतिहर मजदूरों के अधिकारों की अवहेलना, रोजगारों का अनौपचारिकरण, स्थायी कृषि संकट, ट्रिप्स समझौतों की बढौलत जरूरी दवाइयों की कीमतों में इजाफा, खाद्य सुरक्षा कानून पर डब्ल्यूटीओ की कड़ी निगरानी और अपनी जनता को सब्सिडी देने में सरकार की कमजोर होती क्षमता। ये ऐसे संकट हैं जो पूरी अर्थव्यवस्था को तबाह कर रहे हैं।

दूसरी तरफ, बेतहाशा नव-उदारवाद ने मौजूदा सामाजिक कार्यक्रमों को भी तहस-नहस कर डाला है। मनरेगा कार्यक्रम के लिए पैसे का भारी संकट पैदा हो चुका है। शिक्षा अधिकार कानून की डिलीवरी और क्रियान्वयन में भारी समस्याएं पैदा हो गई हैं। इसके लिए पर्याप्त मात्रा में अनुदानों का भी संकट पैदा हो गया है जिसकी वजह से ये अधिकार खतरे में पड़ता जा रहा है। कमजोर क्रियान्वयन की वजह से स्वास्थ्य क्षेत्र निजी बीमा कंपनियों और निजी अस्पतालों पर आश्रित होता जा रहा है।

इन सारी चिंताजनक समस्याओं को उलटने के लिए हमें विकास की पूरी समझ और प्रक्रिया को उलट कर खड़ा करना होगा। इस तरह के पुनर्निर्धारण के लिए हमें राष्ट्रीय असंगठित क्षेत्र उद्यम आयोग (एनसीईयुएस) द्वारा सुझाए गए निम्नलिखित प्रावधानों पर जरूर गौर करना चाहिए। गौरतलब है कि आयोग ने ये सुझाव मौजूदा गहन संकट से काफी पहले पेश किए थे मगर अभी भी समस्याओं की टोह लेने के लिए उनकी उपयोगिता कम नहीं हुई है।

## आयोग के सुझाव-

- एक 'सोशल फ्लोर' तय किया जाए जिसके जरिए सभी देशवासियों को राष्ट्रीय न्यूनतम सामाजिक सुरक्षा का आश्वासन दिया जाए, सभी के लिए राष्ट्रीय न्यूनतम वेतन निर्धारित किया जाए और किसी भी व्यवसाय क्षेत्र में उससे कम तनखाह तय न की जाए साथ ही न्यूनतम कार्य परिस्थितियां तय की जाएं।
- गैर-कृषि क्षेत्र में सूक्ष्म उद्यमों को तेजी से बढ़ावा दिया जाए। इसके लिए क्लस्टर और ग्रोथ पोल्ट्स के विकास पर ध्यान केंद्रित किया जाए।
- अनौपचारिक क्षेत्र मजदूरों की उत्पादकता और फलस्वरूप आमदनी बढ़ाने के लिए उनकी क्षमताओं और कौशल को बढ़ाया जाए।
- ग्रामीण क्षेत्रों के लिए चलाई जा रही मनरेगा योजना को मजबूती दी जाए और उसे शहरी पुनःनवीकरण के कार्यक्रमों से भी जोड़ा जाए।

●सीमांत और छोटे किसानों के लिए विशेष कार्यक्रमों के माध्यम से कृषि क्षेत्र को पुनर्जीवित किया जाए।

यही पर संसाधन का सवाल खड़ा होता है, यानी— यह सवाल कि सामाजिक कार्यक्रमों को चलाने के लिए पैसे का इंतजाम कहां से किया जाएगा? साल-दर-साल हम देख रहे हैं कि सामाजिक सुरक्षा से जुड़े प्रमुख कार्यक्रमों के लिए अनुदानों या आर्थिक संसाधनों का संकट हर साल गिनाया जाता रहा है। अक्सर ये कहा जाता है कि हमारे पास बड़े सामाजिक कार्यक्रमों के वित्तपोषण के लिए पर्याप्त संसाधन और पैसा नहीं है। दिलचस्प बात यह है कि एक के बाद एक आई सरकारों के वित्त मंत्रियों ने अपने बजट भाषणों में सामाजिक क्षेत्र में चलाए जाने वाले कार्यक्रमों के लिए बड़े-बड़े वायदे करते आये हैं उदाहरण के लिए इन भाषणों के अंशों को देखें:

●1991-92: पिछले दो सालों के दौरान खर्चों में कटौती से जो पैसा जमा हुआ है उसे 1993-94 में विकास के क्षेत्र में इस्तेमाल किया जाएगा। यह धन मुख्य रूप से गरीबी उन्मूलन, ग्रामीण विकास और शिक्षा व स्वास्थ्य जैसी सामाजिक सेवाओं पर खर्च किया जाएगा।

●2000-01: विनिवेश से जो पैसा आएगा उसका सामाजिक क्षेत्र में चलाए जा रहे कार्यक्रमों, सीपीएस के पुनर्गठन और सरकारी कर्ज के भुगतान के लिए इस्तेमाल किया जाएगा।

●2010-11: 2009-10 का बजट पेश करते हुए मैंने लोगों से आह्वान किया था कि वे सरकार के विनिवेश कार्यक्रम में हिस्सा लें ताकि केंद्रीय पब्लिक सेक्टर उपक्रमोंकी संपदा और संपन्नता का लाभ ले सकें। इस विनिवेश से जो पैसा आएगा उसके आधार पर नई संपदाओं की रचना के लिए सामाजिक क्षेत्र की योजना के पूंजीगत व्यय की भरपाई की जा सकेगी।

तथाकथित संसाधन संकट के पीछे असली कारण ये है कि बीते दशकों के दौरान हमारी सरकारों ने कारपोरेट सेक्टर से टैक्स वसूली के लिए वैसी कोशिशें नहीं की हैं जैसी करनी चाहिए थीं। भारत में *कर बनाम जीडीपी अनुपात* अभी भी ज्यादातर उभरती अर्थव्यवस्थाओं के मुकाबले कम है। हमारे देश के लगभग तमाम बड़े कारपोरेट घराने या तो कोई टैक्स अदा नहीं करते या बहुत नाममात्र का कारपोरेट टैक्स चुकाते हैं। इसके अलावा बड़े-बड़े कारपोरेट घरानों को करों में भारी-भरकम रियायतें भी दी गई हैं जिसके कारण उनसे वसूल किए जाने वाले टैक्स की दर बहुत कम रह जाती है।

आइए भारत में कानूनन की जा रही टैक्स चोरी के कुछ आंकड़े देखें। 2017 में हमारे देश का टैक्स-जीडीपी अनुपात ब्रिक्स समूह के सदस्य देशों में चीन के अलावा बाकी सारे देशों से कम था (भारत - 17 प्रतिशत से कम, रूस - 20 प्रतिशत से कम, ब्राजील 23.1 प्रतिशत, दक्षिण अफ्रीका - 29 प्रतिशत से अधिक)। इससे भी ज्यादा अचंभे की बात ये है कि हमारे देश के 42 प्रतिशत कारपोरेट घरानों ने 2016-17 में अपना मुनाफा शून्य से भी कम दिखाया था! इसका मतलब ये है कि उन्होंने संबंधित वित्त वर्ष के दौरान एक पैसा भी टैक्स के रूप में नहीं चुकाया। 2005-06 में ऐसे कारपोरेट्स की संख्या 33 प्रतिशत थी,

2010-11 में वह बढ़कर 35 प्रतिशत हो गई थी। हम सभी जानते हैं कि ये बड़े-बड़े घराने अपने बही-खातों में खूब धांधली करते हैं और अपनी आमदनी असली आमदनी से कम करके दिखाते हैं ताकि उन्हें टैक्स न चुकाना पड़े। ऊपर से सरकार भी उन्हें तथाकथित रियायतों और इंसेंटिव के नाम पर बेहिसाब छूट दे देती है। इन इंसेंटिव को 'डूबा हुआ राजस्व' कहा जा सकता है यानी ऐसी आमदनी, जो हो सकती थी, मगर जिसे सरकार ने वसूल नहीं किया। बीते सालों के दौरान 'डूबे हुए राजस्व' की रकम में जबरदस्त इजाफा हुआ है। 2005-06 में यह रकम 34,618 करोड़ रुपये के आसपास बैठती थी जो 2013-14 में बढ़कर 57,793 करोड़ रुपये हो चुकी थी। 2016-17 में यह रकम लगभग 86,145 करोड़ रुपये थी। अगर आप इसकी तुलनात्मक तस्वीर देखें तो इस बात पर गौर कर सकते हैं कि 2016-17 में 'स्कूली शिक्षा एवं साक्षरता विभाग' का कुल खर्चा 63,628 करोड़ रुपये था!

Profile of sample companies across range of profits before taxes

| Profit Before Taxes (in crores) | 2010-11             |                    | 2013-14             |                    | 2016-17             |                    | 2017-18             |                    |
|---------------------------------|---------------------|--------------------|---------------------|--------------------|---------------------|--------------------|---------------------|--------------------|
|                                 | Number of Companies | Share in Total (%) | Number of Companies | Share in Total (%) | Number of Companies | Share in Total (%) | Number of Companies | Share in Total (%) |
| Less than Zero                  | 1,61,596            | 35.2               | 2,28,447            | 40.4               | 2,60,194            | 42.7               | 3,62,829            | 43.1               |
| Zero                            | 31,327              | 6.8                | 25,624              | 4.5                | 17,912              | 2.9                | 88,214              | 10.5               |
| 0-1                             | 2,37,580            | 51.7               | 2,78,515            | 49.3               | 2,90,250            | 47.7               | 3,45,458            | 41.0               |
| 1-10                            | 22,627              | 4.9                | 25,613              | 4.5                | 31,941              | 5.2                | 33,745              | 4.0                |
| 10-50                           | 4,403               | 1.0                | 4,664               | 0.8                | 5,997               | 1.0                | 6,670               | 0.8                |
| 50-100                          | 735                 | 0.2                | 853                 | 0.2                | 1,110               | 0.2                | 1,162               | 0.1                |
| 100-500 Crore                   | 763                 | 0.2                | 808                 | 0.1                | 1,097               | 0.2                | 1,236               | 0.1                |
| More than 500                   | 239                 | 0.1                | 263                 | 0.0                | 335                 | 0.1                | 373                 | 0.0                |
| All Companies                   | 4,59,270            | 100.0              | 5,64,787            | 100.0              | 6,08,836            | 100.0              | 8,41,687            | 100.0              |

जैसा कि इस टेबल को देखकर समझा जा सकता है, आधे से ज्यादा कारपोरेटों ने कारपोरेट टैक्स के नाम पर सरकारी खजाने में कोई योगदान नहीं दिया है क्योंकि उनकी घोषणा के हिसाब से उन्हें कोई मुनाफा ही नहीं हुआ था। इसके बावजूद केंद्र सरकार ने सितंबर 2019 में इन कारपोरेट्स को 8-10 प्रतिशत की अतिरिक्त रियायत देने का ऐलान कर दिया। कहा गया कि ऐसा इसलिए किया गया, ताकि ये कारपोरेट घराने अर्थव्यवस्था को मजबूत करने के लिए अपना निवेश बढ़ा सकें: कारपोरेट घरानों को टैक्स में इस तरह की रियायतों से निवेश बढ़ेगा और अर्थव्यवस्था में उछाल आएगा। लेकिन हकीकत यह है कि ये सभी उम्मीदें निराधार हैं। कुछ इसी तरह की नीति का कार्यान्वयन अमेरिका के राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप ने भी शुरुआती दिनों में लागू किया था, ताकि अमेरिकी अर्थव्यवस्था में निवेश बढ़े मगर नतीजा सोच अनुसार नहीं निकला। लिहाजा, आश्चर्य की बात नहीं है कि जब से भारत सरकार ने कारपोरेट टैक्स में कटौती की है, तब से देश की अर्थव्यवस्था में सुधार के कोई लक्षण दिखाई नहीं दे रहे हैं। बल्कि कई संकेतकों से तो ये पता चल रहा है कि इस बीच आर्थिक मंदी और ज्यादा घनी हो गई है। अब वक्त आ गया है कि सप्लाई साइड पर जोर देने के इन तरीकों को छोड़ दिया जाए। अल्पकालिक या मध्यम अवधि में भी इस तरह के उपायों से कोई फायदा नहीं हो रहा है क्योंकि हमारी बीमारियों का असली कारण ज्यादा संरचनात्मक किस्म का रहा है। लगातार बेरोजगारी में इजाफे की वजह से अर्थव्यवस्था में उपभोक्ता मांग लगातार कम होती जा रही है। इसका एक फौरी संकेत ये है कि थोक मुद्रास्फीति कम है। इससे पता चलता है कि अर्थव्यवस्था में मांग चक्र पैदा करने

के लिए सरकारी खर्च में उल्लेखनीय बढ़ोतरी करनी होगी। इसके लिए सरकार को भौतिक और सामाजिक बुनियादी ढांचे के स्तर पर और ज्यादा संसाधन मुहैया कराने होंगे। ऐसे में मजदूरों की विशाल आबादी के लिए सामाजिक सुरक्षा और सामाजिक कार्यक्रमों को लागू करना एकमात्र जरिया है, जिसके सहारे अर्थव्यवस्था में लगातार गिरती मांग पर अंकुश लगाया जा सकता है। इससे मांग में इजाफा होगा और फलस्वरूप कारपोरेट क्षेत्र को भी निवेश की वजह मिलेगी।

उपरोक्त रणनीति को लागू करना सरकार के लिए पूरी तरह संभव है क्योंकि इसके लिए वह पर्याप्त वित्तीय संसाधन आसानी से जुटा सकती है, बशर्ते उसके पास कारपोरेट सेक्टर से टैक्स वसूल करने के लिए इच्छाशक्ति हो। इस तरह की टैक्स व्यवस्था प्रसिद्ध अर्थशास्त्री थॉमस पिकेटी द्वारा सुझाई गई प्रगतिशील कर व्यवस्था के जैसी होगी, जिससे गैरबराबरी पर भी अंकुश लगेगा। हाल के सालों में अतिधनाढ्य लोगों पर 'वेल्थ टैक्स' लगाने जैसे इसी तरह के दूसरे सुझावों पर एलिजाबेथ वारेन और बर्नी सैंडर्स जैसे मुख्यधारा के बहुत सारे राजनेताओं ने भी जोर दिया है। अब वक्त आ गया है कि हम भी आय पुनर्वितरण की नीतियों को लागू करें ताकि नवउदारवाद के दुष्परिणामों को उलटा जा सके, गैरबराबरी पर अंकुश लगे तथा आर्थिक वृद्धि में सुधार आए और सामाजिक सुरक्षा की मजबूत व्यवस्था लागू की जा सके।

# भारत में सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में ताजा प्रयास

ज्याँ ट्रेज और रीतिका खेड़ा

## 1. भूमिका

कुछ समय पहले तक भारत की सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था मोटे तौर पर औपचारिक अर्थव्यवस्था तक ही सीमित थी। सार्वजनिक क्षेत्र के बाहर खड़े लोगों को वृद्धावस्था पेंशन, स्वास्थ्य बीमा और मातृत्व लाभ जैसे सामाजिक फायदे नहीं मिलते थे। असंगठित श्रम शक्ति – जो कि कुल श्रम शक्ति का 90 प्रतिशत से ज्यादा बैठती है – मोटे तौर पर इन अधिकारों से वंचित थी (राष्ट्रीय असंगठित क्षेत्र उद्यम आयोग, 2006)।

मगर, पिछले 15 साल के दौरान एक ज्यादा समावेशी सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था लागू करने के लिए कई महत्वपूर्ण कोशिशों की गई हैं। आज भारत में पांच ऐसे प्रमुख कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं जिनको एक व्यापक सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था की आंशिक आधारशिला के रूप में देखा जा सकता है। ये कार्यक्रम हैं: स्कूलों में बच्चों को मिलने वाला भोजन समेकित बाल विकास सेवा (आईसीडीएस) योजना, राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी कानून (नरेगा), सार्वजनिक वितरण व्यवस्था (राशन व्यवस्था), तथा विधवाओं, वृद्धों और विकलांगों के लिए सामाजिक सुरक्षा पेंशन। सार्वजनिक वितरण व्यवस्था जैसी कुछ योजनाएं पहले भी मौजूद थीं मगर उनका दायरा सीमित और व्यवस्था बेधार थी। जैसा कि आगे चर्चा की गई है, इन अलग-अलग कार्यक्रमों में परस्पर पूरकता का भाव दिखाई देता है। वे जिन जरूरतों को पूरा करती हैं, उनके लिहाज से भी और जो मदद दी जा रही है, उनके लिहाज से भी इन कार्यक्रमों में एक दूसरे के साथ समन्वय दिखाई देता है। इसके अलावा, मातृत्व लाभ जैसे अन्य पहलुओं को भी एक ज्यादा औपचारिक शकल दी जा रही है<sup>1</sup>। सामाजिक सुरक्षा के नाम पर होने वाला ज्यादातर व्यय फिलहाल इन्हीं पांच कार्यक्रमों पर खर्च किया जा रहा है। इस समीक्षा में हम पाठकों को इस बात का आभास दिलाने की कोशिश करेंगे कि इन कार्यक्रमों की शुरुआत कैसे हुई, अभी तक उनके जरिए क्या हासिल हुआ है और उनको लेकर किस तरह की बहसें चलती रही हैं। इस लेख के व्यापक दायरे को देखते हुए हमारे लिए सारे मुद्दों के ब्यौरों में जाना संभव नहीं होगा मगर जो पाठक दिलचस्पी रखते हैं, उन्हें आगे के अध्ययन के लिए कुछ दिशा-निर्देश जरूर दे सकते हैं।

इन सभी कार्यक्रमों की एक-एक करके पड़ताल करने से पहले हम भारत के ताजा सामाजिक सुरक्षा प्रयासों के व्यापक स्वरूप पर रोशनी डालना चाहेंगे। यहां दो मुद्दे गौर करने वाले हैं। पहली बात यह है कि हम जिस दौर की पड़ताल कर रहे हैं, उसी दौर में विवेकाधीन लाभों के विपरीत कानूनी अधिकार के रूप में लाभों पर ज्यादा जोर दिया जाने लगा है। असल में, सामाजिक सुरक्षा पेंशनों के अलावा लगभग सारे बाकी कार्यक्रमों के तहत मिलने वाले लाभों को अब राष्ट्रीय कानूनों या सर्वोच्च न्यायालय के माध्यम से कानूनी अधिकार का दर्जा मिल चुका है। दूसरी बात, विभिन्न सामाजिक लाभों के लिए पात्रता रखने वाले परिवारों की परिभाषा तय करने और उन्हें चिन्हित करने के तरीकों में भी इस दौरान महत्वपूर्ण बदलाव आए हैं। खासतौर से, "गरीबी की रेखा से नीचे" वाले (बीपीएल) परिवारों



को लक्ष्य बनाने की बजाय अब कई वैकल्पिक तरीके भी अपनाए जा रहे हैं। इन मुद्दों पर अगले दो भागों में और चर्चा की गई है।

यह लेख न केवल अभी तक के शोध साहित्य पर आधारित है बल्कि विभिन्न भारतीय राज्यों में इन सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रमों की निगरानी से हमें जो अनुभव और अंतर्दृष्टि मिली है, उन पर भी आधारित है। खासतौर से हमने 2002 के बाद विद्यार्थी वालंटियरों के साथ मिलकर किए गए बहुत सारे फील्ड सर्वेक्षणों से काफी कुछ सीखा और समझा है। उदाहरण के लिए, इनमें 2011 का भी एक सर्वेक्षण था जिसमें भारत के 9 बड़े राज्यों में सार्वजनिक वितरण व्यवस्था का सर्वेक्षण किया गया था। इसी तरह 2013 में 10 राज्यों में उपरोक्त पांचों कार्यक्रमों का सर्वेक्षण किया गया था। इस अध्ययन में हम राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण, इंडिया ह्यूमन डेवलपमेंट सर्वे, और राष्ट्रीय पारिवारिक स्वास्थ्य सर्वेक्षण जैसे राष्ट्रीय सर्वेक्षणों के साथ-साथ अपने उपरोक्त सर्वेक्षणों के निष्कर्षों का भी इस्तेमाल करेंगे।

बिहार, छत्तीसगढ़, हिमाचल-प्रदेश, झारखंड, ओडिशा, राजस्थान, तमिलनाडु और उत्तर-प्रदेश, ये आठ राज्य ज्यादातर सर्वेक्षणों में शामिल थे। सारे भारतीय राज्यों के बहुत सारे जटिल आंकड़े दिए बिना देश भर में सामाजिक नीतियों की विविधता से पाठकों को परिचित कराने के लिए हम बीच-बीच में इन आठ राज्यों ("संदर्भ राज्यों") को एक संदर्भ समूह के रूप में इस्तेमाल करेंगे। इन संदर्भ राज्यों में भारत की लगभग आधी आबादी बसती है और इनमें ऐसे राज्य शामिल हैं जिनका सामाजिक नीति के स्तर पर अलग-अलग किस्म का जुड़ाव रहा है। मगर यह समूह समूचे भारत का प्रतिनिधि समूह नहीं है और काफी हद तक वे तुलनात्मक रूप से गरीब और अकुशल तरीके से शासित राज्य रहे हैं।

इन आठ संदर्भ राज्यों में तमिलनाडु और हिमाचल प्रदेश, ये दो राज्य ऐसे हैं जहां जनसेवाओं के कुशल और समतापरक प्रसार का अच्छा रिकार्ड रहा है। इन राज्यों के सामाजिक संकेतक ज्यादातर भारतीय राज्यों के मुकाबले बेहतर रहे हैं। दूसरी तरफ इनमें बिहार, झारखंड, उत्तर प्रदेश जैसे कुछ अन्य राज्य भी हैं जिनका रिकार्ड इससे उलट रहा है। ये राज्य खराब शासन, भारी भ्रष्टाचार, बेहिसाब असमानता और शोचनीय सामाजिक संकेतकों के लिए जाने जाते रहे हैं? संदर्भ राज्यों के सापेक्ष आंकड़े पेश करते समय इन दोनों समूहों को हम सूची के ऊपरी और निचले छोर पर रखेंगे ताकि अंतर स्पष्ट दिखाई दे सकें। बीच में छत्तीसगढ़, ओडिशा और राजस्थान आएंगे जहां सामाजिक विकास का स्तर तो काफी खराब रहा है मगर हाल के सालों में उन्होंने इस दिशा में काफी प्रगति की है। जैसा कि आगे चर्चा की जाएगी, अभी तक पिछड़ते रहे राज्यों में भी सामाजिक नीति के क्षेत्र में सफल राज्यों में उपलब्धियों से सीखने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ने लगी है। इस प्रवृत्ति से आने वाले समय में सफलता की संभावनाओं पर काफी गहरा असर पड़ेगा।

## 2. सामाजिक सुरक्षा की अधिकार आधारित पद्धति

ऊपर जिन पांच सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रमों का जिक्र किया गया है, उनके दायरे में पिछले लगभग 15 साल के दौरान एक स्पष्ट विस्तार हुआ है। इस रुझान को आप टेबल 1 में देख सकते हैं जो इंडिया ह्यूमन डेवलपमेंट सर्वे 2004-05 और 2011-12 के नतीजों पर

आधारित है<sup>3</sup>। इन कार्यक्रमों का विस्तार “अधिकार आधारित पद्धति” के अपनाने से जुड़ा हुआ है। यह बात “केंद्र प्रायोजित” कार्यक्रमों में यानी केंद्र सरकार द्वारा शुरू किए गए कार्यक्रमों में खासतौर से दिखाई देती है। राज्यों के स्तर पर देखें तो कुछ राज्यों ने महत्वपूर्ण सामाजिक सुरक्षा कानून लागू किए हैं (जैसे छत्तीसगढ़ खाद्य सुरक्षा कानून, 2012), जबकि कुछ राज्यों में सामाजिक सुरक्षा योजनाओं का क्रियान्वयन अभी भी सरकार की मर्जी पर निर्भर दिखाई देता है।

सामाजिक सुरक्षा पेंशन के अलावा बाकी सारे लाभ अब राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा कानून, 2013 (एनएफएसए) और राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी कानून 2005 (नरेगा) के तहत कानूनी अधिकारों का दर्जा पा चुके हैं। कुछ अन्य लाभ (मुख्य रूप से मिड-डे मील और बाल विकास सेवाएं) भी अब सर्वोच्च न्यायालय के आदेशों के माध्यम से कानूनी अधिकार का दर्जा पा चुके हैं और बाद में एनएफएसए के तहत भी उन्हें अधिकार का दर्जा दिया गया<sup>4</sup>। इन दो सामाजिक सुरक्षा कानूनों के अलावा पिछले 15 सालों के दौरान नागरिकों को आर्थिक व सामाजिक अधिकारों का आश्वासन देने वाले कुछ अन्य महत्वपूर्ण कानून भी पारित किए गए हैं। इनमें सूचना अधिकार कानून 2005, शिक्षा अधिकार कानून, 2009 प्रमुख कानून हैं।

अधिकार आधारित पद्धति के हक में मुख्य दलील ये दी जाती है कि इससे वंचितों को एक हद तक क्षमता मिल जाती है (ट्रेज, 2004; जोशी, 2010)। यह बात निश्चय ही कई मायनों में महत्वपूर्ण है, मगर भारतीय लोकतंत्र वंचित तबकों की जरूरतों और मांगों को प्रायः ज्यादा महत्व नहीं देता<sup>5</sup>। सामाजिक सुरक्षा कानूनों से उन्हें कुछ मूलभूत अधिकार सुनिश्चित करने में मदद मिलती है, जैसे – राज्य-नीति के निर्देशक सिद्धांतों के अंतर्गत भारतीय संविधान में उल्लेखित लाभ। अधिकार आधारित पद्धति से एक ऐसी निरंतरता और स्थिरता मिल जाती है जो अस्थायी योजनाओं में सिर से गायब रहती है।

वंचितों को कानूनी अधिकार मिलने से उनका कम से कम तीन तरह से सशक्तिकरण होता है (ट्रेज, 2004)। पहली बात, इससे कम से कम सिद्धांत के धरातल पर, उन्हें अदालत में अपने अधिकारों के लिए गुहार लगाने का अधिकार मिल जाता है। दूसरी बात, कानूनी अधिकार होने पर उसकी जिम्मेदारी सरकार के ऊपर आ जाती है और इससे अदालत का सहारा लिए बिना लोकतांत्रिक माध्यमों (जैसे चुनाव) से भी इन जिम्मेदारियों के लिए सरकार से जवाबदेही मांगी जा सकती है। तीसरी बात, कानूनी अधिकार जनता की धारणा और सामाजिक कायदे-कानूनों को प्रभावित कर सकते हैं। संगठित प्रयासों के अभाव में भी वे कुछ बदलाव ला सकते हैं। उदाहरण के लिए, भारत के सूचना अधिकार कानून ने न केवल सभी नागरिकों को सरकारी दस्तावेजों तक पहुंच का एक शक्तिशाली अधिकार दिया है बल्कि सरकारी तंत्र में भी पारदर्शिता की संस्कृति को बढ़ावा दिया है। इसका नतीजा यह है कि अब बहुत सारे सरकारी दस्तावेजों को सामान्य रूप से सार्वजनिक तौर पर जारी कर दिया जाता है और इसके लिए किसी को सूचना अधिकार कानून के तहत अर्जी भेजने की जरूरत नहीं पड़ती।

कहने का मतलब ये नहीं है कि अधिकार आधारित पद्धति में कोई समस्या नहीं है। एक व्यापक शासकीय, कानूनी और राजनीतिक सुधार के अभाव में यह पद्धति किस हद

तक सफल हो सकती है, इसकी सीमाएं भी स्पष्ट हैं (अय्यर एवं वाल्टन, 2014)। उदाहरण के लिए, जब विधि व्यवस्था मोटे तौर पर चरमरा जाती है तो कानूनी अधिकारों की धार भी भोथरी हो जाती है। इसका एक उदाहरण यह है कि आज भारतीय अदालतों में लाखों मुकदमे लंबित हैं<sup>6</sup>। कानून में संशोधन और काट-छांट करना मुश्किल होता है और इसलिए कोई सामाजिक सुरक्षा प्रावधान कानून में बदल जाने से उसको कमजोर करना या रद्द करना भी मुश्किल हो जाता है। इससे उस सेवा को संरक्षण मिलता है। मगर इससे सामाजिक नीति में कई बार अवांछित सख्ती और गैर-लचीलापन भी पैदा हो जाता है। इसके अलावा, राष्ट्रीय कानूनों की वजह से अक्सर बेइंतहा केंद्रीयकरण होता है। इनमें से कुछ मुद्दों पर हम आगे बात करेंगे।

### 3. लक्ष्य निर्धारण, सार्वभौमीकरण एवं स्वचयन

अधिकार आधारित पद्धति से सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रमों के एक सबसे कठिन आयाम पर सीधा असर पड़ता है। यह आयाम है – योग्य व्यक्तियों या परिवारों की पहचान किस आधार पर और किस तरह की जाए? इस बात को समझने के लिए किसी खास योजना के हवाले से बात करना बेहतर होगा। इसके लिए हम उदाहरण के तौर पर विधवाओं हेतु सामाजिक सुरक्षा पेंशन पर बात कर सकते हैं। हमारे देश में चलने वाली बहुत सारी दूसरी कल्याण योजनाओं की तरह पहले यह योजना भी केवल गरीब परिवारों तक ही सीमित थी। यानी, इस योजना के तहत भी केवल बीपीएल यानी गरीबी रेखा से नीचे आने वाली विधवाओं को ही पेंशन मिल सकती थी। इसका मतलब ये था कि अगर किसी संपन्न परिवार की विधवा महिला को पेंशन मिलती है तो ये “समावेशन संबंधी त्रुटि” का उदाहरण था। दूसरी तरफ, अगर किसी गरीब विधवा को पेंशन नहीं मिल पाती है तो वह “बहिष्कार संबंधी त्रुटि” की शिकार मानी जाएगी। मगर, बहिष्कार संबंधी भूल-चूक का महत्व ज्यादा नहीं था क्योंकि ये पहले ही मान लिया गया था कि इस योजना के तहत सब विधवाओं को नहीं बल्कि कुछ विधवाओं को ही मदद दी जाएगी (यहां तक कि बीपीएल श्रेणी के भीतर भी)। इसका कारण ये था कि योजना के लिए पर्याप्त राशि आवंटित नहीं की गई थी।

इसके विपरीत, एक अधिकार आधारित पद्धति के तहत ऐसी बहिष्कार संबंधी गलतियां एक बड़ी चिंता बन जाती हैं। अगर सभी गरीब विधवाओं को सामाजिक सहायता पाने का अधिकार है तो हमें ये सुनिश्चित करना होगा कि जहां तक हो सके ज्यादा से ज्यादा विधवा महिलाओं को इसका लाभ निश्चित रूप से मिलता रहे। इसे पात्रता की कसौटियों में ढिलाई देने की अपील कहा जा सकता है। दूसरी तरफ यह विधवा पेंशन के “सार्वभौमीकरण” की अपील भी सुनाई पड़ती है। कुल मिलाकर बीपीएल परिवारों को चिह्नित करने के मामले में हमारे अनुभव बहुत उत्साहजनक नहीं रहे हैं। आमतौर पर बीपीएल परिवारों को मकान की किस्म या जमीन के मालिकाने जैसी अप्रत्यक्ष कसौटियों के आधार पर ही चिह्नित किया जाता रहा है। इस प्रक्रिया में अवधारणात्मक ही नहीं बल्कि व्यावहारिक समस्याएं भी पैदा हो जाती हैं। कम से कम तीन स्वतंत्र राष्ट्रीय सर्वेक्षणों (राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण, तीसरा राष्ट्रीय पारिवारिक स्वास्थ्य सर्वेक्षण और पहला भारतीय मानव विकास सर्वेक्षण) में इस बात की तरफ इशारा किया गया है कि ग्रामीण इलाकों के सारे गरीब परिवारों में से लगभग

आधे परिवारों के पास 2005 में कोई बीपीएल कार्ड नहीं था<sup>7</sup>। ऐसी स्थिति में बहिष्कार संबंधी गलतियों को कम करने का एक तरीका ये है कि योजना के दायरे को फैलाया जाए और उसे संकुचित एवं अविश्वसनीय बीपीएल श्रेणी के आगे तक विस्तार दिया जाए या सभी विधवाओं को पेंशन के लिए योग्य माना जाए।

इसके अलावा, हम ये भी कह सकते हैं कि पेंशन को सिर्फ गरीब विधवाओं के लिए नहीं बल्कि सभी विधवाओं के लिए एक अधिकार के रूप में मान्यता दी जाए। हम सभी जानते हैं कि हमारे देश में तुलनात्मक रूप से संपन्न परिवारों में भी विधवाएं वंचनाओं वाला और कठोर जीवन जीती हैं (चेन, 1998, 2000)। अगर उनके पास मामूली आमदनी भी हो तो वे कठोर परिस्थितियों से बच सकती हैं और परिवार के भीतर एक ज्यादा बेहतर स्थिति हासिल कर सकती हैं। यह स्थिति सार्वभौमीकरण के लिए एक दबाव पैदा करती है।

सार्वभौमीकरण के पक्ष में एक और तर्क ये दिया जा सकता है कि इस योजना को निश्चित महिलाओं पर केंद्रित करने का तरीका विभाजनकारी है, चाहे यह निर्धारण बीपीएल श्रेणी के आधार पर हो या किसी और कसौटी के आधार पर हो। जब एक व्यवस्था में सभी के हित जुड़े होते हैं तो उसके काम करने की संभावना ज्यादा बढ़ जाती है। जैसा कि रिचर्ड टिटमस ने लंबे समय पहले कहा था, “केवल गरीबों को मिलने वाली सेवाएं हमेशा दयनीय सेवाएं बनी रहेंगी”<sup>8</sup>। बेशक सार्वभौमीकरण का विकल्प एक महंगा विकल्प है क्योंकि इसके लिए लक्ष्य केंद्रित योजना के मुकाबले काफी बड़े दायरे को कवर करना होगा। सन् 2005 में हमारे देश के लगभग एक तिहाई ग्रामीण परिवार बीपीएल श्रेणी में आते थे (ट्रेज एवं खेड़ा, 2010, टेबल 1)। इसका मतलब ये है कि यदि प्रति व्यक्ति लाभों को स्थिर रखा जाए तो सार्वभौमीकरण का खर्चा बीपीएल परिवारों को लाभ देने के मुकाबले तीन गुना बढ़ जाएगा। ये एक वजह है जिसके चलते भारत में लंबे समय तक इस सिद्धांत को ज्यादा मान्यता नहीं मिल पाई (सिवाय तमिलनाडु जैसे कुछ राज्यों को छोड़कर)। खैर, समय के साथ सार्वभौमीकरण की कल्पना ज्यादा संभव और स्वीकार्य बनती चली गई।

इस लेख में जिन पांच सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रमों की बात की गई है, उन सभी को किसी न किसी दौर में केवल बीपीएल परिवारों तक सीमित रखने की कोशिश की गई थी। और, हर प्रसंग में बीपीएल परिवारों को लक्ष्य बनाने की चेष्टा समस्याप्रद या अवांछनीय साबित हुई तथा बाद में इस पद्धति को छोड़ दिया गया। इसके बाद कुछ मामलों में “स्वचयन” का सिद्धांत सामने आया। उदाहरण के लिए, नरेगा कार्यक्रम स्वचयन के सिद्धांत पर ही आधारित है। इस योजना के तहत प्रत्येक ग्रामीण वयस्क नौकरी के लिए आवेदन दे सकता है। जैसा कि आगे चर्चा की गई है, इस मामले में स्वचयन की पद्धति कारगर दिखाई देती है क्योंकि भरण-पोषण के लिए शारीरिक श्रम करने के इच्छुक ज्यादातर लोग स्वाभाविक रूप से गरीब परिवारों के ही लोग होंगे। इसी तरह, मिड-डे मील कार्यक्रम में भी स्वचयन का पहलू बहुत मजबूत है क्योंकि इसमें भी सरकारी स्कूलों में आने वाले बच्चे प्रायः गरीब परिवारों के ही होते हैं जो इस योजना के

तहत खाना खाते हैं। सामाजिक सुरक्षा पेंशनों के मामले में अब कुल मिलाकर सरकार सार्वभौमीकरण की दिशा में बढ़ती दिखाई दे रही है।

लक्ष्य केंद्रित बनाम सार्वभौमिक, यह बहस सबसे ज्यादा सार्वजनिक वितरण व्यवस्था (पीडीएस) को लेकर चलती रही है। इस योजना के लिए लक्ष्य निर्धारण की वजह से बहुत बड़ी तादाद में ऐसे लोगों को भी योजना से बाहर छोड़ दिया गया जिन्हें इसके भीतर होना चाहिए था। मगर दूसरी तरफ अगर पीडीएस का सार्वभौमीकरण किया जाता है तो ये एक बहुत खर्चीली योजना साबित होगी। बीते सालों के दौरान बहुत सारे राज्य एक ज्यादा समावेशी पीडीएस व्यवस्था अपनाने की तरफ बढ़ रहे हैं हालांकि वे सार्वभौमीकरण से अभी भी दूर हैं। तमिलनाडु काफी समय पहले इस दिशा में कदम उठा चुका है और उसे कुछ सफलता भी मिली है। राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा कानून के अंतर्गत कुछ राज्य सरकारें “बहिष्करण पद्धति” (एक्सक्लूजन एप्रोच) के नाम से एक नया तरीका भी अपना रही हैं<sup>9</sup>। यह पद्धति इस सोच पर आधारित है कि गरीब परिवारों को निशाना बनाने की बजाय संपन्न परिवारों की शिनाख्त की जाए और उन्हें योजना के दायरे से बाहर रखा जाए। इसके लिए सरल और पारदर्शी बहिष्करण कसौटियों का इस्तेमाल किया जा सकता है। इस तरह संपन्न परिवारों के अलावा बाकी सभी को योजना के दायरे में रखा जा सकता है। इसकी वजह से बहिष्करण संबंधी गलतियों का खतरा कम हो जाता है और ये सार्वभौमीकरण जितना खर्चीला विकल्प भी नहीं है। बीपीएल लक्ष्य निर्धारण से बहिष्करण पद्धति की तरफ संक्रमण के फलस्वरूप कम से कम कुछ राज्यों में पीडीएस व्यवस्था में भारी सुधार भी आया है<sup>10</sup>। मगर, संपन्न परिवारों को योजना के बाहर रखना कोई साधारण काम नहीं है। इससे संपन्न परिवारों का एक ऐसा ताकतवर दायरा पैदा हो जाता है जिसका पीडीएस व्यवस्था में कोई हित नहीं है और वे इसे धराशायी करने के लिए भी कोशिश कर सकते हैं।

दूसरे देशों की तरह भारत में भी लक्ष्य केंद्रित योजना बनाम सार्वभौमिक योजना की बहस के खत्म होने के आसार दिखाई नहीं देते। दोनों तरीकों के फायदे—नुकसान पर उसके खास संदर्भ में ही बात की जानी चाहिए। मिसाल के तौर पर, सार्वभौमिक पेंशन का संदर्भ, सार्वभौमिक पीडीएस के संदर्भ से भिन्न होता है। संदर्भ में ये बात भी शामिल है कि सरकार परिवारों से संबंधित डेटा को इकट्ठा करने और संभालने की कैसी और कितनी क्षमता रखती है। इस दिशा में निश्चित रूप से काफी प्रगति हुई है, मसलन 2011 में सामाजिक—आर्थिक एवं जाति जनगणना हुई (पहले की बीपीएल जनगणनाओं के मुकाबले कहीं ज्यादा व्यवस्थित और पेशेवर ढंग से) तथा दूसरी तरफ सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रमों के लिए अलग—अलग राज्यों ने भी ज्यादा विश्वसनीय डेटाबेस तैयार करने की संजीदा कोशिशें की हैं। मगर, अभी इन प्रयोगों का विस्तृत अध्ययन होना बाकी है।

अंत में इस बात का जिक्र करना भी जरूरी है कि सार्वभौमीकरण का मतलब किसी लाभ की “समरूपता” से नहीं है। बुनियादी सिद्धांत ये है कि सभी को व्यवस्था में शामिल किया जाना चाहिए मगर इसका मतलब ये नहीं है कि जो सबसे कमजोर तबके हैं उनके लिए विशेष प्रावधान न किए जाएं। उदाहरण के लिए, भारत की पीडीएस व्यवस्था में

सबसे निर्धन परिवारों के लिए विशेष खाद्यान्न योजना चलाई जा रही है और ऐसे परिवारों को “अंत्योदय” परिवारों की श्रेणी में रखा जाता है। यह विशेष प्रावधान सार्वभौमिकरण के सिद्धांत का विलोम नहीं है।

#### 4. स्कूल में भोजन

आइए अब अलग-अलग कार्यक्रमों के बारे में बात करें। इस मद में सबसे पहले हम स्कूलों में बच्चों को मिलने वाले भोजन के बारे में बात करेंगे जो कि पीछे उल्लेखित पांचों कार्यक्रमों में सबसे सरल और संभवतः सबसे सफल कार्यक्रम रहा है। इस योजना के पीछे जो सोच है वह नई नहीं है। तमिलनाडु और गुजरात सहित देश के कुछ राज्यों में लंबे समय से स्कूलों में बच्चों को भोजन देने की व्यवस्था चली आ रही है। 1995 में केंद्र सरकार ने राष्ट्रीय प्राथमिक शिक्षा पोषण सहायता कार्यक्रम (नेशनल प्रोग्राम ऑफ न्यूट्रीशनल सपोर्ट फॉर प्राइमरी एजुकेशन – एनपीएनएसपीई) शुरू किया था जिसके तहत स्कूलों में भोजन की व्यवस्था को पूरे देश में फैलाया जाना था। मगर, कई साल तक इस कार्यक्रम के तहत स्कूली बच्चों को सिर्फ सूखा आहार ही मिलता रहा। उन्हें माहवार गेहूं या चावल का एक निश्चित कोटा दे दिया जाता था। बाद में, भोजन के अधिकार पर सर्वोच्च न्यायालय में दायर की गई एक जनहित याचिका के जवाब में 28 नवंबर 2001 को न्यायालय ने सभी राज्य सरकारों को निर्देश दिया कि वे प्राथमिक पाठशालाओं में सभी बच्चों को पका हुआ ताजा खाना दें<sup>11</sup>।

मिड-डे मील के बारे में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए इस फैसले को फौरन लागू नहीं किया गया। शुरुआत में बहुत सारे राज्यों ने निर्धनता का रोना भी रोया। कुछ राज्यों में इस योजना को अध्यापकों और ऊंची जातियों के माता-पिता का विरोध भी झेलना पड़ा। मगर, सर्वोच्च न्यायालय इस योजना की प्रगति पर लगातार नजर रखे हुए था। अदालत ने इसके लिए “आयुक्तों” की नियुक्ति की थी। इसके अलावा “भोजन अधिकार अभियान” और मीडिया के लोग भी इस पर नजर रखे हुए थे। फलस्वरूप, लगभग तीन साल के भीतर पूरे देश में स्कूलों में भोजन मिलने लगा था। शुरुआत में बहुत साधारण भोजन मिलता था (कई दफे सिर्फ चावल और हल्दी का पानी भर) मगर धीरे-धीरे इसके मेन्यू में भी सुधार आता गया।

इस योजना को 2004 में केंद्र सरकार के बदलने पर एक और बल मिला जब संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (यूपीए) की पहली सरकार के राष्ट्रीय साझा न्यूनतम कार्यक्रम को लागू करते हुए सरकार ने “राष्ट्रीय स्तर पर पके हुए पोषक मिड-डे मील की योजना” के प्रति एक दृढ़ प्रतिबद्धता व्यक्त की। इस प्रतिबद्धता को पूरा करते हुए सरकार ने 2005-06 के केंद्रीय बजट में मिड-डे मील के आर्थिक आवंटन में भारी इजाफा किया (देखें चित्र 1)। इससे राज्य सरकारों को मिड-डे मील की गुणवत्ता को लगातार सुधारने में मदद मिली। 2008-09 में मिड-डे मील के तहत मिलने वाली केंद्रीय सहायता को उच्च प्राइमरी कक्षाओं (कक्षा 6-8) के लिए भी बढ़ा दिया गया। आज भारत की मिड-डे मील योजना के तहत 10 करोड़ से ज्यादा बच्चों को खाना मिलता है और इस पर सालाना 97 अरब रुपये का खर्चा होता है (जो जीडीपी के 0.1 प्रतिशत से भी कम बैठता है)<sup>12</sup>।



बहुत सारे राज्यों में मिड-डे मील के तहत दालों और सब्जियों के अलावा हफ्ते में कम से कम एक बार अंडे भी दिए जाने लगे हैं। तमिलनाडु में हफ्ते में पांच बार तक अंडे खिलाए जाते हैं। इससे भी मिड-डे मील की पोषण गुणवत्ता में सुधार आया है। अंडा न केवल बढ़ते बच्चों के लिए प्रोटीन का बेहतरीन स्रोत है बल्कि यह विटामिन 'ए', वसा और कैल्शियम जैसे अन्य पोषक तत्वों का भी एक अच्छा साधन है। अंडे में विटामिन 'सी' के अलावा लगभग सारे महत्वपूर्ण पोषक तत्व मिलते हैं (अमेरिकन काउंसिल ऑफ साईंस एण्ड हेल्थ 2002; ऐप्पलगेट, 2000)। इस आहार का लघु रूप बहुत मायने रखता है क्योंकि छोटे बच्चों का पेट भी छोटा होता है और लिहाजा उन्हें ऐसा भोजन मिलना चाहिए जिसकी मात्रा कम हो मगर उसमें पोषण बहुत ज्यादा हो। इस लिहाज से अंडों के मामले में एक फायदा यह है कि उन्हें दूध या केले जैसे दूसरे साधनों के मुकाबले ज्यादा समय तक संभाल कर रखा जा सकता है। उनमें मिलावट या कमी-बेशी भी नहीं हो सकती। उनकी मात्रा को मापना आसान होता है जिससे भ्रष्टाचार की आशंका भी कम हो जाती है। मगर कुछ राज्य सरकारें स्कूली आहार में अंडे खिलाए जाने का विरोध कर रही हैं। इसके पीछे मुख्य रूप से सवर्ण शाकाहारी परिवारों को खुश रखने की इच्छा ज्यादा दिखाई देती है।

स्कूली भोजन के कम से कम चार संभावित सामाजिक लाभ देखे जा सकते हैं। पहली बात, इससे कक्षा में बच्चों को भूख कम लगती है और अगर भोजन पोषक हो तो बच्चों की बढ़त में मदद मिलती है। दूसरी बात, स्कूल में मिलने वाले भोजन से स्कूल में बच्चों की हाजिरी भी बढ़ी है और संभवतः बच्चों की सफलता और सीखने के स्तर में भी सुधार आया है क्योंकि जब बच्चों की भूख का ईलाज हो जाता है तो वे पढ़ाई पर ज्यादा अच्छी तरह मन लगा सकते हैं। तीसरी बात, स्कूल में मिलने वाला भोजन सामाजिक समानता की दिशा में भी एक महत्वपूर्ण कदम होता है। उदाहरण के लिए, इस भोजन के माध्यम से आप जातिगत पूर्वाग्रहों को चुनौती दे सकते हैं क्योंकि बच्चों को इसके लिए एक दूसरे के साथ बैठना होता है और एक जैसा भोजन करना होता है। वर्गीय असमानताओं पर भी अंकुश लगता है क्योंकि मिड-डे मील के माध्यम से स्कूल में गरीब बच्चों की हाजिरी और हिस्सेदारी बढ़ जाती है। चौथी बात ये है कि स्कूल में मिलने वाले भोजन से महत्वपूर्ण जेंडर संबंधी लाभ भी मिलते हैं। उदाहरण के लिए, इस योजना की वजह से बहुत सारी महिलाओं को आमदनी का एक जरिया मिला है। गौरतलब है कि आज पूरे भारत में मिड-डे मील कार्यक्रम के तहत 24 लाख महिलाएं रसोइया अथवा हेल्पर की नौकरी कर रही हैं<sup>13</sup>। इसके अलावा, स्कूल में मिलने वाले भोजन से औरतों को भी दोपहर को अपने बच्चों के लिए खाना बनाने के बोझ से छुटकारा मिल जाता है। जो महिलाएं घर से बाहर काम करती हैं उनके लिए ये बड़ी राहत की बात है।

इनमें से कुछ लाभों के बारे में किसी तरह के शुभहे की गुंजाइश नहीं है। मिड-डे मील से हाजिरी में इजाफा, बच्चों की उत्तीर्णता/सफलता में सुधार, खाद्य सुरक्षा और पोषण संबंधी फायदों के बारे में पर्याप्त साक्ष्य मौजूद हैं (ट्रेज एवं किंगडन, 2001; ट्रेज एवं गोयल 2003; खेड़ा, 2006, 2013; ट्रेज एवं खेड़ा 2009; अफरीदी, 2010, 2011; अफरीदी, बरुआ एवं



सोमानाथन, 2013; आफरीदी, मुखोपाध्याय एवं साहू, 2013; सिंह, पार्क एवं डेरकान, 2014; जयरामन एवं सिमरोथ, 2015; चक्रवर्ती एवं जयरामन, 2016)। उदाहरण के लिए, मध्य प्रदेश में स्कूल की छुट्टी और पढ़ाई वाले दिनों के बीच डायटरी रिकॉल के बारे में किए गए एक शुरुआती अध्ययन (अफरीदी एवं अन्य, 2010) में पाया गया था कि स्कूल में मिलने वाले भोजन से बच्चों में दैनिक कैलोरी अभाव में 30 प्रतिशत और प्रोटीन के अभाव में 100 प्रतिशत कमी आई है। इसी तरह, मिड-डे मील वाले स्कूलों और बिना मिड-डे मील वाले स्कूलों के बीच तुलना तथा निजी और सरकारी स्कूलों के बीच तुलना की "भिन्नताओं में भिन्नता" पद्धति का सहारा लेते हुए जयरामन एवं सिमरोथ (2015) ने पाया कि स्कूल में दाखिले, खासतौर से कक्षा एक में दाखिलों के स्तर पर स्कूल में मिलने वाले भोजन से बहुत गहरा असर पड़ता है। कमोबेश इसी पद्धति को अपनाते हुए चक्रवर्ती एवं जयरामन (2016) ने पाया कि "मिड-डे मील से सीखने में सफलता की संभावनाओं पर नाटकीय रूप से सकारात्मक असर पड़ा है।" इन तीनों अध्ययनों से पता चला है कि भारत का स्कूल-भोजन कार्यक्रम लागतों के हिसाब से बहुत ही किफायती साबित हुआ है (इससे पोषण में सुधार आया है, बच्चों की हाजिरी बढ़ी है, बच्चों के सीखने के स्तर में सुधार आया है)।

मगर, बच्चों के बेहतर समाजीकरण के हिसाब से स्कूली भोजन के फायदों के बारे में इतने विश्वास से नहीं कहा जा सकता। मिल-बांट कर खाने (या "इंटर डाइनिंग") पर लगी पाबंदियां जाति व्यवस्था को लागू करने में एक अहम भूमिका अदा करती है इसलिए मिड-डे मील ने संभवतः जाति की इन सीमाओं को तोड़ने में कुछ योगदान तो दिया होगा। दूसरी तरफ, देखने में आया है कि खुद मिड-डे मील भी जातिगत भेदभाव का माध्यम बन जाता है। उदाहरण के लिए, कई बार सवर्ण जाति के माता-पिता इस बात पर आपत्ति उठाने लगते हैं कि भोजन पकाने के लिए किसी दलित महिला को काम पर नहीं रखा जाए (रामचंद्रन एवं नाओरेम, 2003; थोराट एवं ली, 2005)। सामाजिक समानता को बढ़ावा देने के लिए मिड-डे मील का महत्व इस पर निर्भर करता है कि स्कूली अधिकारी या स्थानीय समुदाय इन पूर्वाग्रहों को किस तरह संबोधित करते हैं।

भारत की मिड-डे मील योजना अभी भी संतोषजनक गुणवत्ता मानकों को हासिल करने से दूर है। खासतौर से खराब शासन वाले राज्यों में ये बात साफ दिखाई देती है। 16 जुलाई 2013 को बिहार के एक स्कूल में पढ़ने वाले 23 बच्चों की मृत्यु हो गई क्योंकि उनका खाना पकाने के लिए जो तेल इस्तेमाल किया गया था वह एक ऐसी बोतल में रखा गया था जिसमें पहले कीटनाशक दवाएं रखी जाती थीं (खेड़ा, 2013)। फूड प्वाइजनिंग की छोटी-मोटी घटनाएं तो समय-समय पर सभी राज्यों से सुनाई पड़ती हैं। ऐसी प्रत्येक घटना इस योजना के लिए एक झटका साबित होती है मगर ये एक चेतावनी भी है जिससे हमें अपनी कसौटियों और निगरानी व्यवस्था को मजबूत बनाने का मौका मिलता है। भारत की मिड-डे मील योजना को रद्द किए जाने की संभावना तो काफी कम है क्योंकि अब यह राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा कानून के तहत स्कूली बच्चों का स्थायी कानूनी अधिकार बन चुका है। अभी तक के अनुभवों के आधार पर आंकें तो यह योजना बच्चों के पोषण, शिक्षा और

खुशहाली में लगातार योगदान देती रहेगी।

## 5. समेकित बाल विकास सेवाएं (आईसीडीएस)

भारत की समेकित बाल विकास सेवा (आईसीडीएस) कार्यक्रम के तहत 6 साल से कम उम्र के बच्चों को पोषण, स्वास्थ्य और स्कूल-पूर्व शिक्षा जैसी सुविधाएं मिलती हैं। ये सेवाएं मुहैया कराने के लिए समुदाय के भीतर आँगनवाड़ियाँ खोली गई हैं जहां आँगनवाड़ी वर्कर और हेल्पर के तौर पर प्रशिक्षित स्थानीय महिलाओं को तैनात किया जाता है<sup>14</sup>। 3-6 साल की उम्र के बच्चे रोजाना भोजन, खेलकूद, स्वास्थ्य जांच आदि के लिए आँगनवाड़ी जाते हैं। इससे कम उम्र के बच्चों के लिए मां-बाप को हर महीने या हर हफ्ते "टेक होम राशन" (टीएचआर) यानी घर पर ले जाने के लिए राशन मिलता है। यहां छोटे बच्चों को टीके भी लगाए जाते हैं। आईसीडीएस कार्यक्रम के तहत गर्भवती और दूध पिलाने वाली महिलाओं तथा किशोरियों को भी पोषण एवं स्वास्थ्य संबंधी सहायता मिलती है।

हालांकि आईसीडीएस की शुरुआत मिड-डे मील योजना से पहले (1975 में) हो गई थी मगर इसकी जड़ें जमने में थोड़ा समय लगा। मिड-डे मील पर 2001 के सर्वोच्च न्यायालय के जिस फैसले का हमने पीछे जिक्र किया था, उसमें आईसीडीएस के तहत 6 साल तक के सभी बच्चों को पोषाहार देने का भी निर्देश दिया गया था। दिसंबर 2006 में अदालत ने ऐलान किया कि 6 साल से कम उम्र के सभी बच्चों (और सभी गर्भवती महिलाओं, दूध पिलाने वाली माँओं और किशोरियों को भी) आईसीडीएस सेवाएं एक अधिकार के रूप में मिलेंगी। इन आदेशों के फलस्वरूप आईसीडीएस सेवाओं के दायरे में जबर्दस्त फैलाव आया। इसी का परिणाम है कि आज पूरे भारत में लगभग 14 लाख आँगनवाड़ियाँ हैं जो नौ करोड़ से ज्यादा बच्चों की जरूरतों को पूरा कर रही हैं। इसकी लागत भारत के जीडीपी के 0.1 प्रतिशत के आसपास बैठती है। मगर, आईसीडीएस कार्यक्रम के तहत मिलने वाली सेवाओं की गुणवत्ता में सुधार की दर उतनी तेज नहीं रही है।

फोकस ऑन चिल्ड्रेन अंडर सिक्स (फोकस) की रिपोर्ट में 2004 में आईसीडीएस की एक विस्तृत तस्वीर मिलती है। यह रिपोर्ट 6 राज्यों की 200 आँगनवाड़ियों के सर्वेक्षण के आधार पर तैयार की गई थी<sup>15</sup>। बाकी योजनाओं की तरह इस योजना के मामले में भी अलग-अलग राज्यों के बीच जबर्दस्त फर्क दिखाई देता है। जिन छह राज्यों की आँगनवाड़ियों में सर्वेक्षण किए गए, उनमें से तीन राज्यों (हिमाचल प्रदेश, महाराष्ट्र और तमिलनाडु) को आईसीडीएस सेवाओं के हालात के लिहाज से "सक्रिय" श्रेणी में रखा गया और शेष तीन राज्यों (छत्तीसगढ़, राजस्थान और उत्तर प्रदेश) को "सुस्त" (डरमेंट) श्रेणी में रखा गया था। सक्रिय राज्यों में आँगनवाड़ियों की स्थिति मोटे तौर पर बढ़िया थी और वहां बच्चों को ज्यादातर निर्धारित सेवाएँ मिल रही थीं। दूसरी तरफ, सुस्त राज्यों में आँगनवाड़ियाँ सिर्फ बच्चों को खाना खिलाने का टिकाना बनकर रह गई थीं। बच्चों को जो खाना खिलाया जा रहा था, उसमें भी सुधार की भारी गुंजाइश थी। खासतौर से उत्तर प्रदेश जैसे राज्यों में, जहां बच्चों को पका हुआ ताजा खाना खिलाने की बजाय भ्रष्ट ठेकेदारों की मार्फत भेजे गए "रेडी टू ईट" यानी पकाए बिना खाए जा सकने वाले घटिया खाद्य पदार्थ बच्चों को दिए जा रहे थे। इसके बावजूद, सुस्त राज्यों में भी ज्यादातर माँओं ने इस कार्यक्रम की संभावनाओं

को लेकर एक उत्साह जताया।

दस साल बाद उन्हीं जिलों में फिर से सर्वेक्षण किया गया जिससे पता चला कि इस बीच गुणवत्ता में उल्लेखनीय सुधार आ चुके हैं (सेंटर फार इक्विटी स्टडीज, 2016)। उदाहरण के लिए, पिछले सर्वेक्षण में छत्तीसगढ़ और राजस्थान को सुस्त राज्यों की श्रेणी में रखा गया था मगर 2014 में यहां आईसीडीएस कार्यक्रम काफी बेहतर और सक्रिय हो चुका था। यदि सभी 6 राज्यों को मिलाकर देखें तो सुधारों की गति (पूरक खाद्य पदार्थों की मात्रा और गुणवत्ता, शारीरिक वृद्धि संबंधी चार्ट के रिकार्ड रखने, बच्चों की हाजिरी में नियमितता आदि के हिसाब से) औसत दिखाई देती है। यह ब्यौरा आप टेबल 2 में देख सकते हैं। संतोष की बात है कि जिस दौरान कार्यक्रम का तेजी से मात्रात्मक विस्तार हो रहा था उसी दौरान उसकी गुणवत्ता में भी कुछ सुधार आया है। उम्मीद की जा सकती है कि जब मात्रात्मक विस्तार का लक्ष्य एक हद तक हासिल कर लिया जाएगा तो निकट भविष्य में कार्यक्रम के गुणात्मक सुधार पर भी जोर दिया जाएगा।

आईसीडीएस के प्रदर्शन में धीमी मगर निरंतर प्रगति का एक और सबूत रेपिड सर्वे ओन चिल्ड्रेन 2013–14 की रिपोर्ट में मिलता है। नीचे दी गई टेबल 3 में इस सर्वेक्षण के आधार पर संदर्भ राज्यों में आईसीडीएस संबंधी संकेतकों का एक नमूना पेश किया गया है। जहां संभव हो सका, वहां 2005–06 के भी तत्संबंधी आंकड़े दिए गए हैं। यहां अलग-अलग राज्यों के बीच एक बार फिर जबरदस्त फर्क दिखाई देता है। उदाहरण के लिए, आँगनवाड़ियों की सक्रियता का एक अच्छा संकेतक यह है कि वहां तीन साल से कम उम्र के बच्चों के शारीरिक विकास से संबंधित चार्ट संभाले जाते हैं या नहीं। तमिलनाडु और हिमाचल प्रदेश में ही नहीं बल्कि छत्तीसगढ़ और ओडिशा जैसे बहुत सारे राज्यों में भी अब ऐसा करना एक नियम बन चुका है। दूसरी तरफ, बिहार, झारखंड और उत्तर प्रदेश आदि कई राज्यों में शारीरिक विकास से संबंधी चार्ट कहीं-कहीं ही संभाल कर रखे जा रहे हैं।

समय के साथ आए बदलावों को देखते हुए, 2005–06 से 2013–14 के आठ सालों में इस कार्यक्रम की सेवाओं में सुधार तुलनात्मक रूप से औसत दिखाई देता है। फिर भी यह एक उल्लेखनीय उपलब्धि है क्योंकि यह सुधार आईसीडीएस कार्यक्रम के तेज मात्रात्मक विकास के दौर में हासिल किया गया है। इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण बात शायद यह है कि कुछ ऐसे राज्यों में भी काफी सुधार आया है जहां आईसीडीएस कार्यक्रम पहले लगभग ठप्प हुआ करता था। बिहार इसका एक अच्छा उदाहरण है। सभी बड़े राज्यों में बच्चों के टीकाकरण में सबसे ज्यादा सुधार बिहार में ही आया है। इसी दौरान शिशुओं की देखभाल का कवरेज भी तेजी से बढ़ा है जो बिहार के लिए एक उपलब्धि है (ट्रेज एवं खेरा 2015, बी)। कहने का मतलब ये है कि समय के साथ सभी प्रमुख राज्य एक जैसे स्तर की ओर पहुंचने के लिए प्रयास कर रहे हैं। कमोबेश इसी तरह का रुझान मिड-डे मील के संदर्भ में भी दिखाई देता है। 15 साल पहले मिड-डे मील योजना तमिलनाडु और गुजरात जैसे कुछ ही राज्यों तक सीमित था मगर आज यह कार्यक्रम पूरे देश में फैल चुका है और इसकी गुणवत्ता में भी सभी जगह सुधार आया है।

सफल राज्यों का अनुकरण करने के लिहाज से ओडिशा का अनुभव भी गौरतलब है। यह भारत के सबसे गरीब राज्यों में से एक है और बढिया शासन के लिए विख्यात नहीं रहा है। मगर, ओडिशा के चार जिलों में आईसीडीएस सेवाओं के एक ताजा सर्वेक्षण में पाया गया कि यहां आंगनवाड़ियां नियमित रूप से खुलती हैं और उनमें ज्यादातर निर्धारित सेवाएं मिल रही हैं। वहां पूरक पोषाहार दैनिक कार्यक्रम का हिस्सा है। खाने के मेन्यू यानी खाने की सूची में सुधार आया है (हफ्ते में दो-तीन बार अंडे भी दिए जाने लगे हैं)। आंगनवाड़ियों के माध्यम से स्कूल-पूर्व शिक्षा भी दी जा रही है। तीन चौथाई से ज्यादा आंगनवाड़ियों में यह शिक्षा मिल रही है और पूछने पर बच्चे कविताएं भी सुनाने में सक्षम थे। शारीरिक विकास की निगरानी, टीकाकरण और प्रसवोपरांत देखभाल जैसी स्वास्थ्य सेवाएँ भी नियमित रूप से दी जा रही हैं। इसके लिए औक्सिलिअरी नर्स मिडवाइफ (एनएनएम) और एंक्रेडिटेड सोशल हेल्थ एक्टिविस्ट (आशा दीदी) से भी मदद ली जाती है जो स्थानीय स्तर पर हमारे देश के सबसे मुख्य स्वास्थ्यकर्मी की भूमिका निभाते हैं। ओडिशा में महिलाओं के स्वयं सहायता समूहों के माध्यम से विकेंद्रीकृत टीएचआर प्रोडक्शन का भी एक काफी सफल मॉडल सामने आया है। ओडिशा में टीएचआर के तहत तीन साल से कम उम्र के बच्चों और गर्भवती व दूध पिलाने वाली माँओं को अंडे भी खिलाए जाते हैं। यह एक महत्वपूर्ण सुधार है; तीन साल से कम उम्र के बच्चों का आयु वर्ग सबसे नाजुक होता है और इसके बावजूद आईसीडीएस कार्यक्रम मुख्य रूप से 3-6 साल के बच्चों पर ज्यादा केंद्रित रहा है (ग्रेगनोलाती, ब्रेडेन्केम्प, दासगुप्ता, ली एवं शेखर, 2006)।

यदि प्रक्रियाओं से परिणामों पर आए तो हाल के सालों में बच्चों के पोषण और संबंधित संकेतकों पर आईसीडीएस के सकारात्मक असर दिखाई देने लगे हैं। आईसीडीएस के दायरे में पिछले 10 साल के दौरान जिस तरह फैलाव हुआ है, उसी दौरान बच्चों के पोषण के संकेतकों और आईसीडीएस से संबंधित दूसरे नतीजों में भी सुधार दिखाई देने लगा है, जैसे बच्चों के टीकाकरण और स्वास्थ्य केंद्रों व अस्पतालों में प्रसव के स्तर में इजाफा (ट्रेज, 2015; नारायण, 2016, सिन्हा, 2015)। पारिवारिक सर्वेक्षणों के आंकड़ों पर आधारित कई इकनोमीट्रिक अध्ययनों में भी बच्चों के पोषण पर आईसीडीएस के सकारात्मक प्रभावों के साक्ष्य दर्ज किए गए हैं (हजारिका एवं वीरेन, 2013; जैन, 2015; कांडपाल, 2011; मित्तल, 2015; नंदी, अशोक, किनरा, बेहरमन, एवं लक्ष्मी नारायण, 2016; नंदी एवं लक्ष्मी नारायण, 2016)। उदाहरण के लिए, कांडपाल (2011) ने पाया कि आईसीडीएस कार्यक्रम से बच्चों की आयु अनुकूल औसत लंबाई में 6 प्रतिशत इजाफा हुआ है। दो साल से कम उम्र के बच्चों में रोजाना स्तनपान की स्थिति का अध्ययन करते हुए मोनिका जैन (2015) ने भी ये पाया है कि आईसीडीएस के तहत मिलने वाले पूरक पोषाहार से बच्चों की लंबाई, खासतौर से लड़कियों की लंबाई में उल्लेखनीय सुधार आया है। अनुमानित लागत-लाभ गणनाओं के आधार पर दोनों अध्ययनों में ये कहा गया है कि आईसीडीएस से उल्लेखनीय आर्थिक लाभ मिलने लगे हैं। इस बात पर भी गौर करें कि ये दोनों अध्ययन 2005-06 में किए गए तीसरे राष्ट्रीय पारिवारिक स्वास्थ्य सर्वेक्षण के आंकड़ों पर आधारित हैं जबकि उस समय आईसीडीएस को विस्तार देने और सुधारने की कोशिशें अभी शुरुआती दौर में

ही थीं। अगर ऐसा लगता है कि उस समय भी इस कार्यक्रम से बच्चों के पोषण में सुधार हुआ था और आर्थिक लाभ का स्तर ऊंचा था तो यह कार्यक्रम आज और भी ज्यादा महत्वपूर्ण माना जाना चाहिए।

## 6. राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी कानून

भारत और अन्य देशों में सामाजिक सुरक्षा के साधन के तौर पर, खासतौर से सूखा राहत जैसे कठिन हालात में सामाजिक सुरक्षा के साधन के तौर पर सार्वजनिक योजनाओं और संपदाओं का निर्माण लंबे समय से किया जाता रहा है (ट्रेज, 1990; सुब्बाराव, डेल नीनो, एंड्रयूज एवं रोड्रिग्स-एलास 2013)। दूसरी पद्धतियों से तुलना करें तो जन-कार्यों में दो उपयोगी विशेषताएं होती हैं: आत्मचयन यानी लोग खुद ये तय करते हैं कि उन्हें सामाजिक सहायता की जरूरत है या नहीं और उत्पादक संपदाओं की सृष्टि या निर्माण। सत्तर के दशक की शुरुआत में महाराष्ट्र में लंबे समय तक पड़े अकाल के दौरान राहत कार्य अभूतपूर्व स्तर तक पहुँच गए थे। इसी के चलते 1977 में वहाँ रोजगार गारंटी कानून पारित किया गया था। तदनुरूप, महाराष्ट्र की "रोजगार गारंटी योजना" में सत्तर के दशक के आखिरी सालों और अस्सी के दशक के दौरान औसतन हर रोज लगभग पाँच लाख लोगों को काम पर रखा जाता था। नब्बे के दशक में यह संख्या तेजी से गिरती चली गई (महेंद्र देव एव रानाडे, 2001)<sup>16</sup>।

महाराष्ट्र रोजगार गारंटी योजना की तर्ज पर अगस्त 2005 में भारतीय संसद ने राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी कानून (नरेगा) सर्वसम्मति से पारित किया<sup>17</sup>। यह कानून 2 फरवरी 2006 को भारत के 200 सबसे गरीब जिलों में लागू किया गया। 1 अप्रैल 2008 से इसे पूरे देश में लागू कर दिया गया। इस कानून के तहत ग्रामीण इलाकों में रहने वाला कोई भी वयस्क व्यक्ति यदि काम की मांग करता है तो उसे 15 दिन के भीतर किसी न किसी स्थानीय जन-कार्य में नौकरी दी जाएगी। अगर ऐसा नहीं होता है तो उसे बेरोजगारी भत्ता पाने का अधिकार होगा। इस कानून के तहत दूसरे महत्वपूर्ण प्रावधानों में से एक यह था कि सभी मजदूरों को प्रत्येक 15 दिन में उनकी मजदूरी का भुगतान किया जाएगा, कार्यस्थल पर न्यूनतम सुविधाएँ जरूर होंगी और मजदूरों को न्यूनतम मजदूरी दर के हिसाब से भुगतान किया जाएगा। मगर 2009 में न्यूनतम मजदूरी दर गारंटी का प्रावधान वापस ले लिया गया और केंद्र सरकार ने प्रत्येक राज्य में न्यूनतम मजदूरी की दर को मानने की बजाय अलग-अलग राज्यों में नरेगा की भुगतान दरें तय करना शुरू किया। तभी से अलग-अलग राज्यों के मूल्य सूचकांकों के आधार पर नरेगा के तहत मिलने वाली मजदूरी की दरों में इजाफा किया जाता रहा है।

नरेगा कानून में कई ऐसे प्रावधान किए गए हैं जिनके जरिये स्थानीय शासन को ग्रामीण मजदूरों के प्रति जवाबदेह ठहराया जा सकता है। उदाहरण के लिए, बेरोजगारी भत्ते के भुगतान का प्रावधान इसी जवाबदेही को तय करने के लिए जोड़ा गया है। इसी तरह, अगर किसी मजदूर को 15 दिन के भीतर भुगतान नहीं मिलता है तो उसे भी मुआवजे का अधिकार दिया गया है। अगर नरेगा के तहत कोई कर्मचारी अपनी जिम्मेदारियों का पालन नहीं करता है तो उस पर जुर्माना भी लगाया जा सकता है। मगर राज्य सरकारें ही नहीं

बल्कि केंद्र सरकार ने भी समय-समय पर जवाबदेही साबित करने वाले इन प्रावधानों का विरोध किया है। इसका परिणाम ये होता है कि अगर नरेगा के तहत मजदूरों के साथ कोई नाइंसाफी होती है तो उनके पास अदालत में जाने के अलावा आमतौर पर कोई चारा नहीं बचता और अदालत में जाना कोई आसान व सस्ता विकल्प नहीं है। इसका नतीजा यह हुआ है कि नरेगा कार्यक्रम में शुरू से ही प्रशासकीय जवाबदेही की कमी बहुत बड़े पैमाने पर रही है (अग्रवाल, 2016; अंबास्ता, विजय शंकर, एवं शाह, 2008; खेड़ा 2011ए)।

कुछ उदाहरणों से इस बात को ज्यादा अच्छी तरह समझा जा सकता है। नरेगा के तहत जारी होने वाले अनुदानों के सदुपयोग के रास्ते में भ्रष्टाचार एक बड़ी रुकावट है। शुरुआत में भ्रष्ट अधिकारी या बिचौलिए नरेगा अनुदानों में घपला करने के लिए मजदूरों की हाजिरी के रजिस्ट्रों में झूठे ब्यौरे जोड़ दिया करते थे। बाद में, इस समस्या पर अंकुश लगाने के लिए नरेगा कार्यो के "सामाजिक ऑडिट" जैसी अनिवार्य व्यवस्था शुरू की गई। इन प्रावधानों को भी वैसे लागू नहीं किया जाता है जैसे उम्मीद की गई थी मगर इससे भ्रष्टाचार पर अंकुश लगाने में जरूर मदद मिली है। इसके बावजूद, भ्रष्ट अधिकारियों के खिलाफ कार्यवाही करने में राज्य सरकारों की हिचकिचाहट ने इन प्रावधानों को बहुत कमजोर कर दिया है<sup>18</sup>।

एक और उदाहरण मजदूरी के समयबद्ध भुगतान के मामले में सामने आया है। नरेगा कार्यक्रमों में मजदूरी के भुगतान में विलंब की समस्या तभी से बनी हुई है जब से केंद्र सरकार ने आदेश दिया था कि मजदूरी का भुगतान बैंक या डाकखानों में मजदूरों के खातों के जरिए किया जाएगा। 2008 के मध्य में किए गए इस प्रावधान से काफी फायदा हुआ है। मजदूरी के सीधे बैंक खाते में जमा होने से भ्रष्टाचार पर तो अंकुश लगा है मगर इससे बहुत सारे अधिकारियों और कर्मचारियों की दिलचस्पी भी कम हो गई है। चूंकि भुगतान की प्रक्रिया में कई कदम होते हैं (हाजिरी डेटा भरना, काम की माप, भुगतान पर्ची तैयार करना वगैरह) इसलिए हर कदम पर विलंब की गुंजाइश पैदा हो जाती है जिससे बैंक भुगतान का प्रावधान होते हुए भी मजदूरों को सही समय पर पैसा नहीं मिल पाता। इसके अलावा बैंक की प्रक्रियाएं भी समय लेती हैं जिससे भुगतान में और देरी हो जाती है। यहाँ एक बार फिर प्रत्येक स्तर पर जवाबदेही का अभाव दिखाई देता है। नरेगा के तहत मजदूर हफ्ता-दर-हफ्ता (और कई बार महीनों तक) अपनी तनखाह के भुगतान का इंतजार करते रहते हैं। मगर इस लापरवाही के लिए किसी को जिम्मेदार नहीं ठहराया जाता है।

इन रुकावटों तथा इसी तरह की अन्य समस्याओं के बावजूद नरेगा कानून के माध्यम से कुछ बड़ी उपलब्धियाँ भी हासिल हुई हैं। सरकारी आंकड़ों के मुताबिक, इस कार्यक्रम से 2008-09 से 2013-14 तक हर साल दो अरब से ज्यादा श्रम दिवस पैदा हुए। 2009-10 में सबसे अधिक 2.8 अरब श्रम दिवस पैदा हुए, 5.3 करोड़ ग्रामीण परिवारों को औसतन 54 दिन का रोजगार मिला (टेबल 4 देखें)<sup>19</sup>। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण से मिले स्वतंत्र आंकड़ों के अनुसार ये संख्याएँ कुछ कम हैं मगर बीते सालों के दौरान दोनों स्रोतों में दिए गए आंकड़ों का फासला भी लगातार कम हुआ है। 2011-12 तक आते-आते नरेगा के तहत 68 से 78 प्रतिशत अधिकृत रोजगार राष्ट्रीय



नमूना सर्वेक्षण के आंकड़ों में भी दिखाई पड़ने लगे थे और दूसरे भारतीय मानव विकास सर्वेक्षण में यह आंकड़ा 90 प्रतिशत तक पहुंच गया था<sup>20</sup>। नरेगा के तहत काम करने वाले मजदूरों में लगभग आधी महिलाएं होती हैं (जो कि भारतीय श्रम शक्ति में महिलाओं की सीमित सहभागिता के व्यापक रुझान के विपरीत है)। इतना ही नहीं, आधे से ज्यादा मजदूर अनुसूचित जातियों या अनुसूचित जनजातियों के होते हैं। नरेगा कार्यक्रम में “सेल्फ टारगेटिंग” की पद्धति कारगर साबित हो चुकी है<sup>21</sup>। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के आंकड़ों पर आधारित टेबल 5 में संदर्भ राज्यों के लिए नरेगा के संकेतकों के लिए एक नमूना दिया गया है। जैसा कि एक पुराने अध्ययन में जिक्र किया गया था (दत्ता, मुरगई, रेवेलियन एवं वन डे वाल, 2012), विभिन्न राज्यों में नरेगा के तहत मिलने वाले रोजगारों और व्यय का गरीबी के स्तर से सीधा संबंध नहीं है। इसका मुख्य कारण यह है कि बिहार जैसे तुलनात्मक रूप से गरीब राज्यों में राजनीतिक निष्क्रियता और कमजोर शासकीय क्षमताओं की वजह से नरेगा के तहत उतने रोजगार पैदा नहीं हो रहे हैं जितने होने चाहिए थे। इसी तरह, नरेगा में महिलाओं की हिस्सेदारी यूं तो ज्यादातर राज्यों में काफी ऊंची है मगर बिहार और उत्तर प्रदेश जैसे कुछ सबसे गरीब राज्यों में उनकी हिस्सेदारी भी बहुत ही कम है (33 प्रतिशत की न्यूनतम शर्त से भी कम)। 2009-10 में नरेगा कार्यक्रम के तहत कई राज्यों में मजदूरी की दर बाजार की दरों से भी कम थी जबकि कुछ राज्यों में मजदूरी की दर बाजार की दरों से ऊंची थी। मगर अखिल भारतीय स्तर पर कार्यक्रम की मजदूरी दर और बाजार दरों में ज्यादा फर्क नहीं था।

जैसा कि हम उम्मीद कर सकते हैं, नरेगा के तहत सरकारी रोजगारों में इस विस्तार से कृषि मजदूरी के स्तर में भी कुछ सुधार आया है। कई साल के ठहराव के बाद साल 2000 वाले पहले दशक के उत्तरार्ध में कृषि मजदूरी की दरों में सलाना 3-4 प्रतिशत का इजाफा दिखाई देने लगा था (ट्रेज एवं सेन, 2013, टेबल 7.1)। यह बदलाव महिला मजदूरों के मामले में खासतौर से तीखा दिखाई दिया। अपने आप में यह बदलाव इस बात को साबित नहीं करता कि मजदूरी की दरों में इस इजाफे के पीछे नरेगा एक मुख्य चालक शक्ति रहा होगा मगर इकनोमेट्रिक अध्ययनों से इस बात की पुष्टि हुई है कि नरेगा कार्यक्रम से ग्रामीण तनखाहों के स्तर पर उल्लेखनीय असर पड़े हैं (आजम, 2011; बर्ग, भट्टाचार्य, दुर्गम एवं रामचंद्र, 2012; इम्बर्ट एवं पैप, 2015बी; मुरलीधरन एवं अन्य, 2016)। निजी क्षेत्र में मजदूरी के स्तर में इजाफा करके नरेगा ने ग्रामीण मजदूरों के लिए दूसरे चक्र में आय संवर्धन के अवसर भी पैदा की हैं (इम्बर्ट एवं पैप, 2015बी)। आंध्र प्रदेश में बड़े स्तर पर रेंडमाइज्ड कंट्रोल्ड ट्रायल (आरसीटी) पर आधारित एक ताजा अध्ययन में तो यह तक बताया गया है कि अल्पआय परिवारों की आमदनी पर नरेगा का सबसे ज्यादा असर दूसरे चक्र की आय में ही दिखाई दिया है (मुरलीधरन एवं अन्य, 2016)। कुछ इलाकों में निजी क्षेत्र की तनखाहों में इजाफे के बाद मालिकों की तरफ से नरेगा का कुछ विरोध भी सामने आया है। इसका विरोध करने वाले ऐसे लोगों में बड़े किसान और कॉरपोरेट क्षेत्र के लोग भी शामिल हैं।

बड़े पैमाने पर रोजगार, प्रभावी सेल्फ टारगेटिंग और दूसरे चक्र की आयवर्धक गतिविधियों में इजाफे से ग्रामीण गरीबों के लिए अच्छे-खासे फायदे पैदा हुए हैं। इन



लाभों का सबसे अच्छा ब्यौरा आंध्र प्रदेश (और कुछ हद तक तमिलनाडु) में मिलता है जहाँ सरकार ने नरेगा को बढ़-चढ़ कर प्रोत्साहन दिया है और वहाँ सर्वेक्षण के विस्तृत आँकड़े भी जमा किए जाते रहे हैं<sup>22</sup>। बाकी राज्यों में इस कार्यक्रम के प्रभावों से संबंधित साक्ष्य आधे-अधूरे हैं मगर वे भी इस धारणा को पुष्ट करते हैं कि नरेगा से ग्रामीण गरीबी पर अंकुश लगाने में उल्लेखनीय असर पड़ा है। उदाहरण के लिए, क्लोनेर एंड ओल्डिजीस (2014) का अनुमान है कि नरेगा ने कम काम वाले महीनों के दौरान अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति परिवारों की गरीबी को घटा कर आधा कर दिया है। मगर, जिन राज्यों में नरेगा के तहत ज्यादा रोजगार पैदा नहीं हुए हैं और भ्रष्टाचार ज्यादा है, जैसे बिहार वहाँ ग्रामीण गरीबी पर इस कार्यक्रम का असर भी बहुत सीमित दिखाई देता है (दत्ता, मुरगई, रेवेलियन एवं वन डे वाल, 2014)।

जहाँ तक नरेगा के तहत पैदा होने वाली संपदाओं के उत्पादक मूल्य का प्रश्न है तो इस मद में सूचनाओं में काफी फासला दिखाई देता है। मीडिया रिपोर्ट अक्सर अनकारात्मक खबरों पर ज्यादा केंद्रित होती हैं। उनको पढ़कर अक्सर यह अहसास होता है कि नरेगा के तहत जिन संपदाओं का निर्माण हो रहा है वे सब बेकार हैं। ताजा शोध इस धारणा की पुष्टि नहीं करते<sup>23</sup>। महाराष्ट्र के 100 से अधिक गाँवों में नरेगा के तहत निर्मित 4100 संपदाओं के विस्तृत सर्वेक्षण से पता चला है कि 87 प्रतिशत सम्पदाएँ चालू हालत में हैं और 75 प्रतिशत संपदाओं ने खेती को बेहतर बनाने में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से योगदान दिया है (रानावरे एवं अन्य, 2015)। इन नरेगा कार्यों के 90 प्रतिशत प्रयोक्ताओं ने इन कामों को बेहद उपयोगी या “कुछ हद तक उपयोगी” बताया। इसी तरह, झारखंड में नरेगा के तहत बनाए गए कुँओं में से 100 कुँओं का बेतरकीब ढंग से चयन और विश्लेषण करने पर पता चला कि इन कुँओं से अकेले कृषि उत्पादकता पर जो असर पड़ा है, और वह भी वास्तविक मूल्यों के लिहाज से, 6 प्रतिशत आर्थिक लाभ के बराबर है (भास्कर एवं अन्य, 2016)। मगर, इन सीमित साक्ष्यों के आधार पर कोई सामान्य तस्वीर खींचना मुश्किल है।

नरेगा का महत्व इन सामान्य आर्थिक फायदों से कहीं ज्यादा बढ़ा है। उदाहरण के लिए, इस कार्यक्रम ने ग्रामीण भारत में ग्राम पंचायत और ग्राम सभा जैसे स्थानीय लोकतंत्र के संस्थानों को पुनर्जीवित करने में अहम योगदान दिया है। ये संस्थाएँ नरेगा कार्यों की योजना बनाने से लेकर सामाजिक ऑडिट तक के कार्यक्रम के क्रियान्वयन में केंद्रीय भूमिका अदा करती हैं। इसी तरह, नरेगा ने महिलाओं के सशक्तिकरण और जेंडर समानता की दिशा में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया है। ये बात इसीलिए और महत्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि ग्रामीण भारत में अधिकांश महिलाओं के पास ऐसी नौकरियों के अवसर नहीं होते जिनसे उन्हें कुछ आर्थिक लाभ हो सके (ट्रेज एवं सेन, 2013; श्रीवास्तव एवं श्रीवास्तव, 2010)। एक सर्वेक्षण में पाया गया कि नरेगा के तहत काम करने वाली 30 प्रतिशत महिला मजदूरों के पास पिछले तीन महीनों में नरेगा से मिले भुगतान के अलावा और कोई नकद आमदनी नहीं थी। ज्यादातर महिलाएं खुद अपनी तनखाह लेने जाती थीं और उसे अपने पास रखती थीं। फिलहाल यह पैसा उनके बैंक खाते में आने लगा है<sup>24</sup>। इसके अलावा नरेगा से ग्रामीण मजदूरों को मुक्ति दिलाने में भी एक अहम मदद मिली है।

ने उन्हें भरण-पोषण के लिए स्थानीय जमींदारों पर निर्भरता से आजाद कर दिया है, निजी मालिकों के साथ वे ज्यादा बेहतर मोलभाव कर सकते हैं, वे सवर्णों के उत्पीड़न का मुकाबला कर सकते हैं और उन्हें साझा हितों पर संगठित होने का अवसर भी मिला है। जैसा कि इंद्रजीत रॉय (2014) का कहना है, नरेगा की मदद से मजदूर "अपने गांवों में जाति आधारित भेदभाव और उससे जुड़ी दासता की आदतों का पालन किए बिना गांव में रह सकते हैं और काम कर सकते हैं"<sup>25</sup>।

ये एक संतोष की बात है कि नरेगा के तहत लोगों को काम मिला है मगर "मांग के अनुसार काम" का बुनियादी सिद्धांत अभी भी पूरी तरह साकार नहीं हो पाया है। नरेगा के तहत रोजगार की मांग करने वालों की संख्या आज भी बहुत बड़ी है और सभी का मांग पूरी करना संभव नहीं हो पाया है (दत्ता एवं अन्य, 2012)। नरेगा के तहत तय किए गए दूसरे प्रावधानों का भी लगातार उल्लंघन हो रहा है। मसलन, कार्यस्थल पर जिन सुविधाओं का प्रावधान किया गया था वे उन्हें नहीं मिलतीं, मजदूरों को 15 दिन में भुगतान भी नहीं होता (खेरा, 2011)। जिन इलाकों में मजदूर पहले से ही तुलनात्मक रूप से संगठित रहे हैं या जहां नरेगा को ग्रामीण मजदूरों को संगठित करने के एक अवसर के तौर पर इस्तेमाल किया गया, वहां कार्यक्रम का प्रदर्शन बेहतर रहा है<sup>26</sup>। इस कानून ने ग्रामीण इलाकों में मजदूरों के संगठन खड़ा करने में भी मदद दी है मगर कुल मिलाकर इस दिशा में बहुत सीमित प्रगति ही हुई है।

नरेगा कार्यक्रम का भविष्य बहुत स्थिर दिखाई नहीं देता। 10 साल बाद भी इस सोच पर सवाल उठाने की हमें कोई वजह दिखाई नहीं देती कि जिन लोगों के पास आजीविका के साधन नहीं हैं, उन्हें स्थानीय जन परियोजनाओं में काम दिया जाना चाहिए। अब तक के अनुभवों से पता चलता है कि नरेगा के सही क्रियान्वयन से सिर्फ गरीबी उन्मूलन में ही मदद नहीं मिलती बल्कि इससे बहुत सारे दूसरे फायदे भी मिलते हैं। फिर भी, इस संभावना को साकार करने के लिए हमें बहुत सारी प्रशासकीय एवं राजनीतिक चुनौतियों से जूझना होगा (खासतौर से गरीब राज्यों में)। कुल मिलाकर नरेगा कानून के मूल उद्देश्यों को हासिल करने के लिए अभी हमें लंबा सफर तय करना है।

## 7. सार्वजनिक वितरण व्यवस्था

भारत की सार्वजनिक वितरण व्यवस्था (पीडीएस) की शुरुआत 1940 के दशक में की गई थी। इस योजना के तहत मुख्य रूप से सरकारी नियंत्रण में चलने वाली दुकानों (राशन की दुकानों) से रियायती दरों पर हर महीने चावल या गेहूं मिलता है। कुछ राज्यों में राशन की दुकानें दाल, तेल, चीनी और नमक जैसे दूसरे खाद्य पदार्थ भी रियायती दर पर बेचती हैं। हाल के समय में कुछ राज्यों में मक्का और जौ भी राशन की दुकानों पर मिलने लगा है। राशन की दुकानों पर रियायती दरों पर मिट्टी का तेल भी मिलता है मगर इस लेख में हमारे विश्लेषण का मुख्य जोर खाद्य पदार्थों, खासतौर से अनाज के वितरण की व्यवस्था पर रहेगा।

पीडीएस कार्यक्रम सार्वभौमिक होना चाहिए (कम से कम ग्रामीण इलाकों में) या यह

निश्चित तबकों पर केंद्रित होना चाहिए — ये एक लंबी-चौड़ी बहस का विषय रहा है। नब्बे के दशक तक पीडीएस कार्यक्रम सिद्धांततः सार्वभौमिक था मगर वास्तव में इसके क्रियान्वयन की स्थिति काफी उबड़-खाबड़ थी और शहरों में निश्चित रूप से इसका संचालन बेहतर हो रहा था (होवेज एवं झा, 1992; झा एवं रामास्वामी, 1992)। नब्बे के दशक के आखिर तक आते-आते निश्चित तबकों तक लाभ पहुंचाने का तर्क हावी होने लगा था इसलिए केंद्र सरकार ने पीडीएस योजना को केवल गरीब परिवारों पर सीमित कर दिया और गरीब परिवारों को चिह्नित करने का जिम्मा राज्य सरकारों को सौंप दिया। इस तरह टारगेटेड पीडीएस (टीपीडीएस) यानी खास तबकों पर केंद्रित पीडीएस व्यवस्था सामने आई। इस नई टीपीडीएस व्यवस्था में दो तरह के राशन कार्ड बनाए गए — गरीबी रेखा से नीचे (बीपीएल) और गरीबी रेखा से ऊपर (एपीएल)। इसके अलावा, वर्ष 2000 में अंत्योदय (निर्धनतम) श्रेणी भी सामने आई। 2001 में एपीएल राशन कार्ड पर मिलने वाली चीजों की कीमतें बढ़ा दी गईं और ज्यादातर राज्यों में ये कोशिश की गई कि एपीएल परिवार राशन की दुकानों पर जाना छोड़ दें हालांकि उन्हें रियायती दर पर मिट्टी का तेल मिलता रहा। बाद में, जब राशन की दुकानों पर मिलने वाली चीजों की कीमतों में इजाफा नहीं हुआ जबकि बाजार मूल्यों में इजाफा होता जा रहा था तब एपीएल श्रेणी के परिवार फिर से राशन की दुकानों पर लौटने लगे। कुछ राज्यों ने शुरू से टीपीडीएस व्यवस्था का विरोध किया और वे सार्वभौमिक पीडीएस व्यवस्था पर ही डटे रहे। इनमें तमिलनाडु एक प्रमुख उदाहरण था।

एपीएल-बीपीएल व्यवस्था शुरू से ही समस्याप्रद साबित हुई है। केंद्र सरकार ने बीपीएल कार्डों की ऊपरी संख्या सख्ती से तय की हुई थी जिसकी वजह से सभी गरीब परिवारों को बीपीएल कार्ड नहीं मिल पाते थे। इसके अलावा, योग्य परिवारों की शिनाख्त के लिए भी बड़ी संदिग्ध प्रक्रिया अपनाई गई जिससे समावेशन और बहिष्कार की बेहिसाब गलतियां सामने आईं (ट्रेज एवं खेरा, 2010, राम, मोहंती एवं राम, 2009)। बीपीएल कार्डों की अधिकतम संख्या भी मनमाने ढंग से तय की गई थी। यह संख्या गरीबी के जिन आंकड़ों के आधार पर तय की गई थी उनका खाद्य सुरक्षा से कोई खास संबंध नहीं था (ट्रेज 2010बी)। हाल के सालों में बहुत सारे राज्य खुद अपने संसाधनों के दम पर एक ज्यादा समावेशी (यहां तक कि लगभग सार्वभौमिक) पीडीएस कवरेज व्यवस्था अपनाने लगे हैं (देखें टेबल 1 एवं 7)। राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा कानून, 2013 लागू होने के बाद इस प्रक्रिया को और बल मिला है। राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा कानून में पीडीएस भी एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। इस कानून के लागू होने के बाद पीडीएस व्यवस्था का दायरा ग्रामीण इलाकों में 75 प्रतिशत और शहरी इलाकों में 50 प्रतिशत तक फैल गया है।

एक और महत्वपूर्ण बहस पीडीएस व्यवस्था में भ्रष्टाचार को लेकर चलती रही है। बाजार मूल्यों और पीडीएस की दुकानों पर मिलने वाले राशन की कीमतों में फर्क की वजह से बिचौलियों और दुकानदारों के लिए (खासतौर से पीडीएस की दुकानें चलाने वाले “दुकानदारों”) के लिए राशन के अनाज को खुले बाजार में बेचने का बड़ा लालच पैदा हो जाता है। अगर राशन की दुकानों से की गई खरीदारी के बारे में राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (एनएसएस) के तहत दर्ज किए गए आंकड़ों का पीडीएस के तहत जारी किए जाने वाले

अनाज के सरकारी आंकड़ों से मिलान किया जाए तो साफ पता चलता है कि “लीकेज” कितना ज्यादा है (खेड़ा, 2011 बी)। 1999–2000 से 2011–12 तक किए गए एनएसएस के सर्वेक्षणों से पता चलता है कि इस अवधि की शुरुआत में पूरे भारत में यह लीकेज 50 प्रतिशत के आसपास थी जो इस अवधि के आखिर तक आते-आते 40 प्रतिशत तक गिर गई थी। भारतीय मानव विकास सर्वेक्षणों पर आधारित अनुमानों से पीडीएस लीकेज में तुलनात्मक रूप से ज्यादा तेज गिरावट का संकेत मिलता है। इन आंकड़ों के मुताबिक 2004–05 में यह लीकेज 49 प्रतिशत थी जो 2011–12 में गिरकर 32 प्रतिशत रह गई थी (ट्रेज एवं खेड़ा, 2015ए)।

संदर्भ राज्यों में लीकेज के बारे में एनएसएस के आधार पर तैयार किए गए आंकड़े टेबल 6 में दिए गए हैं। 2004–05 में तमिलनाडु के अलावा इन सभी राज्यों में लीकेज बहुत ज्यादा थी। तमिलनाडु के अलावा हिमाचल प्रदेश में भी तुलनात्मक रूप से कम लीकेज पाई गई थी। 2011–12 तक आते-आते यह लीकेज कम हो चुकी थी मगर यह सुधार उन राज्यों में ज्यादा तेजी से आया जहां इस दौरान पीडीएस व्यवस्था में सुधार लागू किए गए थे। यहां भी हम ये देखते हैं कि अभी तक जो राज्य पिछड़ रहे थे वे अगर अग्रणी राज्यों की उपलब्धियों से सीखना चाहें तो काफी तेजी से आगे बढ़ सकते हैं।

पीडीएस व्यवस्था में सुधारों के लिहाज से छत्तीसगढ़ एक महत्वपूर्ण उदाहरण है जो बहुत सारे शोधों का विषय रहा है (ट्रेज एवं खेड़ा, 2010; गर्ग, 2013; जोशी, पटनायक एवं सिन्हा, 2016; कृष्णमूर्ति, पटानिया एवं टंडन, 2014, पुरी, 2012)। 2004–2005 में छत्तीसगढ़ में पीडीएस के तहत जारी किया गया लगभग आधा अनाज भ्रष्ट बिचौलियों की जब में चला गया था (टेबल 6)। उसी समय राजनीतिक नेतृत्व ने पीडीएस व्यवस्था की कमियों को दूर करने में दिलचस्पी लेना शुरू किया<sup>27</sup>। इसके लिए छत्तीसगढ़ ने तमिलनाडु की तुलनात्मक रूप से सफल पीडीएस व्यवस्था के दो पहलुओं का अनुसरण किया। एक तो कवरेज को बढ़ाया गया (हालांकि सार्वभौमीकरण की नीति नहीं अपनाई गई) और दूसरी तरफ ‘इश्यू प्राइस’ में कटौती की गई। इन दोनों फैसलों से व्यवस्था पर नीचे की तरफ से नया दबाव पैदा हुआ। इसके अलावा, लोगों की हकदारी में भी इजाफा किया गया। अब प्रति कार्ड तीन रुपये प्रति किलो के मामूली मूल्य पर प्रति माह 35 किलो अनाज दिया जाने लगा। इस सरलीकरण से लोगों में अपने हक के बारे में जागरूकता पैदा हुई और वे ज्यादा मुखर रूप से आवाज उठाने लगे। इसके अलावा कई और भी कदम उठाए गए जैसे, कार्डधारकों के घरों के बाहर उनकी हकदारी को दर्शाने वाले चिह्न बनाए गए।

राज्य सरकार ने आपूर्ति श्रृंखला को दुरुस्त करने के भी उपाय किये। जिस समय सुधारों का सिलसिला शुरू हुआ उस समय पीडीएस की दुकानें निजी डीलरों और नेताओं के भ्रष्ट गठजोड़ के कब्जे में थी। निजी डीलरों की इसी इजारेदारी को तोड़ने के लिए पीडीएस की दुकानों को ग्राम पंचायतों, सहकारी समाजों और महिलाओं के स्वयं सहायता समूहों जैसे समुदाय आधारित संगठनों को सौंप दिया गया। भ्रष्टाचार को कम करने के लिए दुकान चलाने के एवज में मिलने वाला कमीशन भी बढ़ा दिया गया। परिवहन एजेंसियों को वितरण एजेंसियों से अलग कर दिया गया ताकि वितरण एजेंसियां परिवहन एजेंसियों

पर नजर रख सकें। रिकार्ड्स का कंप्यूटरीकरण किया गया। खासतौर से खाते-बही का ब्यौरा कंप्यूटरों में दर्ज किया जाने लगा। इसके अलावा, शिकायतों के निपटारे की एक भरोसेमंद व्यवस्था विकसित की गई। दोषी पाए जाने वाले लोगों के खिलाफ कार्रवाई का बंदोबस्त किया गया। 2011-12 तक लीकेज का अनुमान घट कर 10 प्रतिशत रह गया था। छत्तीसगढ़ में 2011, 2013 और 2016 में किए गए तीन सर्वेक्षणों में हमने पाया कि अब कार्डधारकों को अपने हक के अनाज का 95 प्रतिशत से अधिक मिलने लगा था<sup>28</sup>।

छत्तीसगढ़ के अनुभव ने बाकी राज्यों – बिहार, झारखण्ड, मध्य प्रदेश और ओडिशा में भी पीडीएस के सुधार के लिए एक रोड-मैप तैयार किया। ओडिशा में 2004-05 और 2011-12 के बीच लीकेज 75 प्रतिशत से घटकर 25 प्रतिशत तक आ गया। बाकी राज्यों में, जहाँ सुधार कार्यक्रम आंशिक रूप से ही कार्यान्वित किया गया, परिणाम कम नाटकीय रहा। उदाहरण के लिए, झारखण्ड जहाँ सिर्फ आवाज वृद्धि का कदम उठाया गया, वहाँ लीकेज आधा कम हुआ (85 प्रतिशत से 44 प्रतिशत तक; देखें – टेबल 6)।

एनएसएस के 68वें चक्र के आसपास ही हमने आठों संदर्भ राज्यों सहित नौ राज्यों में पीडीएस व्यवस्था के बारे में सर्वेक्षण किया<sup>29</sup> (आगे से पीडीएस सर्वेक्षण 2011)। इस सर्वेक्षण के चुनिंदा नतीजे टेबल 7 में दिए गए हैं। इनके साथ ही 2013 के एक सर्वेक्षण के नतीजे भी दिए गए हैं। इस सर्वेक्षण को पब्लिक इवेल्यूवेशन ऑफ एनटाइटलमेंट प्रोग्राम (पीईईपी) के नाम से जाना जाता है। वैसे तो इस सर्वेक्षण का दायरा काफी बड़ा था मगर उसमें पीडीएस संबंधी आंकड़े भी जमा किए गए थे। कुल आंकड़ों से पता चलता है कि तब तक बीपीएल और अंत्योदय परिवारों को राशन की दुकानों से अपने हक का ज्यादातर अनाज मिलने लगा था। केवल तमिलनाडु और हिमाचल प्रदेश में ही नहीं बल्कि अन्य राज्यों में भी सुधार आया था हालांकि बिहार, झारखंड और उत्तर प्रदेश अभी भी काफी पीछे थे। एपीएल कोटा में बड़े पैमाने पर लीकेज अभी भी जारी थी। यह रुझान एनएसएस के आंकड़ों में भी दिखाई पड़ता है (ट्रेज एवं खेड़ा 2015 ए)।

राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा कानून 2013 से बहुत सारे राज्यों में पीडीएस सुधारों को और बल मिला है। इस कानून में तीन तरह की हकदारी पर जोर दिया गया है: मातृत्व लाभ के तौर पर नकद अदायगी, बच्चों के लिए पोषाहार (मिड डे मील और आईसीडीएस कार्यक्रमों के तहत) और पीडीएस के जरिये रियायती दरों पर अनाज। एनएसएस में पीडीएस व्यवस्था के संबंध में जो प्रावधान किए गए हैं उनसे पूरे देश में हकदारी की एक पारदर्शी व्यवस्था सामने आई है (प्रति माह 5 किलोग्राम प्रति व्यक्ति)। इस कानून के तहत कवरेज का दायरा बढ़ा है (ग्रामीण इलाकों में 75 प्रतिशत तक) और अनाज की कीमतें भी कम तय की गई हैं (चावल 3 रुपये प्रति किलोग्राम और गेहूं 2 रुपये प्रति किलोग्राम)<sup>30</sup>। इन प्रावधानों में छत्तीसगढ़ में कारगर साबित हो चुके कुछ सुधारों को भी शामिल किया गया है। पिछले एक दशक के दौरान पीडीएस व्यवस्था के संबंध में मिली सफलताओं को स्थायित्व और विस्तार देने के लिए एनएसएस को गंभीरता से लागू करना एक महत्वपूर्ण अवसर है जिसका लाभ उठाया जाना चाहिए। शुरुआती साक्ष्यों से पता चलता है कि कम से कम कुछ राज्य इस अवसर का सदुपयोग करने की कोशिश में लगे हैं। उदाहरण के लिए, अब मध्य प्रदेश और

पश्चिम बंगाल भी पीडीएस व्यवस्था में सुधार करने वाले राज्यों की सूची में आ गए हैं और देश के सबसे गरीब राज्यों में भी लगातार बदलाव और सुधार दिखाई दे रहे हैं (ट्रेज एवं अन्य, 2016)।

पोषण पर पीडीएस के सकारात्मक प्रभावों के साक्ष्य फिलहाल सीमित दिखाई देते हैं। कौल (2013) ने लोगों के प्रतिव्यक्ति कैलोरी उपभोग पर पीडीएस के प्रभावों का अध्ययन किया है और पता लगाया है कि निहित सब्सिडी में एक प्रतिशत इजाफे से लोगों के कैलोरी उपभोग में 0.14 प्रतिशत का इजाफा आता है। कृष्णमूर्ति, पटानिया एवं टंडन (2015) ने पाया है कि छत्तीसगढ़ में पीडीएस व्यवस्था से परिवारों को अपने आहार में विविधता लाने और अधिक प्रोटीन वाले खाद्य पदार्थों का उपभोग बढ़ाने में मदद मिली है। पीडीएस से पोषण के धरातल पर इसके अलावा ज्यादा फायदे दिखाई नहीं देते (कौशल एवं मुचौंबा, 2013; कोचर, 2005; नारायणन एवं गर्बर, 2016; रहमान, 2014; तारोजी, 2005)। पीडीएस से कैलोरी उपभोग पर पड़ने वाले प्रभावों को आंकने के लिए पद्धतिगत समस्याएं भी हैं। ये भी सच है कि पीडीएस व्यवस्था की दुर्दशा वर्ष 2000 के दशक के मध्य में शुरू किए गए सुधारों के बाद ही सही होने लगी थी, लेकिन वर्तमान के ज्यादातर अध्ययन सुधारों से पहले की अवधि पर ही केंद्रित हैं।

फिर भी, कुल मिलाकर ऐसा लगता है कि पीडीएस व्यवस्था से ग्रामीण गरीबी पर एक अच्छा-खासा असर पड़ा है। एनएसएस डेटा पर आधारित एक पुराने शोध (ट्रेज एवं खेड़ा, 2013) में हमने पाया था कि पीडीएस के माध्यम से होने वाले अंतर्निहित ट्रांसफरों से 2009-10 में अखिल भारतीय ग्रामीण "गरीबी फासला सूचकांक" में 1/5 या इसके आसपास तक की गिरावट आई थी (देखें टेबल 6)। ऐसे राज्यों में यह गिरावट काफी कम थी जहां उस वक्त पीडीएस व्यवस्था की हालत खस्ता थी (जैसे बिहार, 5 प्रतिशत से भी कम गिरावट) मगर उन राज्यों में काफी बेहतर थी जहां पीडीएस व्यवस्था बेहतर चल रही थी खासतौर से तमिलनाडु (61 प्रतिशत गिरावट) और छत्तीसगढ़ (39 प्रतिशत गिरावट) में<sup>31</sup>। इस बात की पूरी संभावना दिखाई देती है कि पिछड़ने वाले राज्यों में भी पीडीएस व्यवस्था में ताजा सुधारों से ग्रामीण गरीबी पर इस कार्यक्रम के प्रभाव और मजबूत हुए होंगे।

## 8. सामाजिक सुरक्षा पेंशन

केंद्र सरकार की तरफ से इंदिरा गांधी राष्ट्रीय विधवा पेंशन योजना (आई जी एन डब्ल्यू पी एस), इंदिरा गांधी राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेंशन योजना (आईजीएनओएपीएस) और इंदिरा गांधी राष्ट्रीय विकलांगता पेंशन योजना (आईजीएनडीपीएस) के तहत देश भर में विधवाओं, बुजुर्गों और विकलांगों को अंशदानमुक्त पेंशन दी जा रही है। ये तीनों योजनाएं राष्ट्रीय सामाजिक सहायता कार्यक्रम (एनएसएपी) का हिस्सा हैं जो 1995 में शुरू किया गया था<sup>32</sup>। बहुत सारी राज्य सरकारें इन कार्यक्रमों को केंद्र सरकार के दिशा-निर्देशों से आगे विस्तार देने के लिए अपने संसाधनों का भी प्रयोग करती हैं। कुछ राज्यों में स्थानीय स्तर पर भी पेंशन योजनाएं शुरू की गई हैं। 2016-17 के केंद्रीय बजट में एनएसएपी के तहत आर्थिक आवंटन देश के जीडीपी का लगभग 0.06 प्रतिशत था।



जिस तरह की स्थिति राष्ट्रीय खाद्य-सुरक्षा कानून से पहले पीडीएस की थी, उसी तरह आज भी सामाजिक सुरक्षा पेंशन के नाम पर केंद्र सरकार की सहायता सिर्फ बीपीएल परिवारों तक ही सीमित है। इससे लागतों पर अंकुश लगाने में तो मदद मिलती है मगर इसमें दो बड़ी समस्याएं हैं। पहली बात, जैसा कि पीछे चर्चा की गई थी, बीपीएल परिवारों की शिनाख्त की प्रक्रिया बहुत ही अविश्वसनीय और संदेहास्पद रही है। दूसरी बात, सामाजिक सुरक्षा पेंशन का मकसद गरीब परिवारों को मदद देना नहीं है बल्कि इसका मकसद है बेसहारा या संकटग्रस्त व्यक्तियों को मदद देना। बहुत सारे संपन्न या गरीबी की रेखा से ऊपर आने वाले परिवारों में भी विधवा, वृद्ध और विकलांग तरह-तरह के अभावों या असुरक्षा से जूझते हुए अपना जीवन बिताते हैं। यह बात विधवाओं के मामले में खातसौर से साफ दिखाई देती है क्योंकि भारतीय समाज में विधवा महिलाओं की हैसियत बहुत ही कमतर होती है (चेन 1998, 2000; चेन एवं ट्रेज 1995)। इसके अलावा, हमारे देश में गरीबी की रेखा वास्तव में बेसहारेपन और लाचारी की रेखा है; ये रेखा किसी भी अर्थ में एक सम्मानजनक जीवन के लिए आवश्यक न्यूनतम जरूरतों को पूरा करने के लिए भी पूरी नहीं होती (ट्रेज एवं सेन 2013)। इस तरह, यदि बीपीएल परिवारों की शिनाख्त बिल्कुल चाक-चौबंद हो और सभी घरों में विधवाओं के साथ सही बर्ताव होने लगे, तो भी सामाजिक सुरक्षा पेंशन की योजना को बीपीएल परिवारों से आगे बढ़ाने की जरूरत बनी रहेगी।

बीपीएल परिवारों को मिलने वाली सामाजिक सुरक्षा पेंशन में भी केंद्र सरकार का योगदान बहुत मामूली होता है। उदाहरण के लिए 2006 से वृद्धावस्था पेंशन 200 रुपये महीने पर ही अटकी हुई है जबकि इस दौरान महंगाई की वजह से रुपये की कीमत लगभग आधी रह गई है (आज 200 रुपये में 10 किलो चावल या न्यूनतम मजदूरी दर के हिसाब से एक दिन की आमदनी ही बैठती है)। सीमित कवरेज और पेंशन की बहुत मामूली रकम, इन दोनों समस्याओं को दूर करने के लिए बहुत सारी राज्य सरकारों ने अपने संसाधनों के आधार पर पेंशन के दायरे और रकम को बढ़ाने की कोशिशें की हैं (देखें टेबल 8)। मगर, पेंशन की राशि में इजाफे के बावजूद ज्यादातर पेंशन धारक अन्य स्रोतों के बिना सम्मानजनक ढंग से जीवनयापन नहीं कर सकते।

हमारे देश की पेंशन योजनाओं में क्रियान्वयन संबंधी समस्याएं भी बहुत ज्यादा हैं (भट्टाचार्य, जोस, मेहता एवं मुरगई, 2015; नायक, सक्सेना एवं फारिंगटन 2002)। पेंशनधारकों के चयन की प्रक्रिया धीमी और पेचीदा दिखाई देती है जिसकी वजह से आवेदकों की अर्जी अगर जमा भी हो जाती है तो उस पर मंजूरी में सालों लग जाते हैं। कुछ राज्यों में पेंशन का भुगतान नियमित रूप से नहीं होता और उसकी कोई तारीख या अवधि भी तय नहीं होती। कई जगह यह पेंशन हर महीने की जगह साल में एक बार या दो बार ही मिलती है। इसके अलावा, चूंकि देश के हर गांव में बैंक नहीं है इसलिए बहुत सारे लोगों के लिए पेंशन की रकम हासिल करना भी एक सजा से कम नहीं होता। खासतौर से अगर वे बहुत बूढ़े या बीमार हों। पेंशन भुगतान के लिए डाकघरों का भी इस्तेमाल किया जाता है जो कि निश्चित रूप से पेंशनधारकों के लिए ज्यादा नजदीक होते



हैं मगर इस सुविधा के बदले उन्हें एक और लागत चुकानी पड़ती है — कुछ राज्यों में डाकखाने के कर्मचारी पेंशन के भुगतान के बदले कमीशन वसूलने लगते हैं।

पेंशन भुगतान में होने वाले विलंब पर हमें खासतौर से ध्यान देना चाहिए क्योंकि इसकी वजह से पेंशनधारकों को सुरक्षा प्रदान करने का उद्देश्य ही धराशायी हो जाता है। नवंबर 2001 में सर्वोच्च न्यायालय ने राज्य सरकारों को ये सुनिश्चित करने का आदेश दिया था कि पेंशन की रकम हर महीने की सात तारीख तक पेंशनधारकों को अदा कर दी जानी चाहिए। यह लक्ष्य आज 15 साल बाद भी हासिल नहीं हो पाया है। इसे आप टेबल 8 से समझ सकते हैं। तमिलनाडु, छत्तीसगढ़ और ओडिशा, तीन राज्यों में पेंशन का भुगतान हमेशा लगभग उसी महीने में हो जाता है मगर दूसरे राज्यों में विलंब एक आम बात बन गई है। ओडिशा एकमात्र ऐसा राज्य है जहां पेंशन का भुगतान समय पर कर दिया जाता है। ओडिशा में हर महीने की 15 तारीख को स्थानीय ग्राम पंचायत के दफ्तरों में हर पेंशनधारक को नकद भुगतान कर किया जाता है। इस प्रक्रिया पर सख्ती से नजर रखी जाती है। प्रभावी भुगतान व्यवस्था ओडिशा में सामाजिक सुरक्षा पेंशन के प्रति सरकार की प्रतिबद्धता का एक पहलू है (चोपड़ा एवं पुदुसेरी, 2014)। छत्तीसगढ़ के पीडीएस सुधारों की तरह ओडिशा में भी सामाजिक सुरक्षा पेंशन के मामले में ताजा अनुभव इस बात का एक दिलचस्प उदाहरण पेश करता है कि कैसे सामाजिक कार्यक्रमों को सुधारा जा सकता है। इससे पता चलता है कि जिन राज्यों में शासन का अच्छा रिकार्ड नहीं रहा है, वहां भी राजनीतिक प्राथमिकता मिलने पर इन कार्यक्रमों को दुरुस्त किया जा सकता है।

भुगतान में विलंब तो एक बात है। कई ताजा अध्ययनों से ये भी पता चला है कि भारत की पेंशन योजनाएं कई दूसरे मामलों में भी कमजोर साबित हो रही हैं (भट्टाचार्य एवं अन्य, 2015; चोपड़ा एवं पुदुसेरी, 2014; द्रेज, खेड़ा तथा पीईईपी टीम, 2014; दत्ता, होवेस एवं मुरगई, 2010; गुप्ता 2013; कौशल 2013; मरुलसीडम्पा, राउनका, एवं सभिकी, 2014)। इन पेंशनों की रकम चाहे कितनी भी कम हो, ज्यादातर पेंशनधारकों के लिए इनका बहुत भारी महत्व होता है। ज्यादातर पेंशनधारक बहुत गहरी विपन्नता का जीवन जीते हैं और उनके लिए यह मासिक पेंशन भी जिंदगी की मामूली सुविधाओं को हासिल करने का बहुत महत्वपूर्ण जरिया होती है। इसके सहारे वे अपनी थोड़ी-बहुत दवाई खरीद सकते हैं, अपने जूते-चप्पल की मरम्मत करा सकते हैं या कम से कम भूखों मरने से बच सकते हैं। इस कार्यक्रम की प्रशासकीय लागत भी बहुत कम होती है। इस लेख में जिन दूसरी सामाजिक सुरक्षा योजनाओं की बात की गई है उनके मुकाबले इस योजना की प्रशासकीय लागत बहुत मामूली रहती है। ताजा सर्वेक्षणों में पेंशन योजनाओं में गंभीर भ्रष्टाचार के भी बहुत कम साक्ष्य सामने आए हैं। उदाहरण के लिए, 10 राज्यों में हमने पेंशन सूचियों में से लाभान्वितों का बेतरतीब ढंग से चयन करके उनसे पता लगाया कि उन्हें पेंशन मिलती है या नहीं। 2013 में किए गये इस सर्वेक्षण से पता चला कि सूची में लिए गए 3789 पेंशनधारकों में से 98 प्रतिशत जीवित थे और उन्हें पेंशन मिल रही थी (देखें टेबल 8, पहला कॉलम, संदर्भ राज्यों हेतु)<sup>33</sup>। कुछ जगह यहाँ-वहाँ लीकेज की समस्याएं जरूर दिखाई देती हैं; उदाहरण के लिए कई जगह डाक कर्मचारी पेंशन के भुगतान में अपना हिस्सा काट लेते हैं। फिर

भी, कुल मिलाकर कोई बड़ा घोटाला दिखाई नहीं देता जो बहुत सारी सरकारी योजनाओं में दिखाई पड़ता है।

इन नतीजों की रोशनी में विधवाओं, वृद्धों और विकलांग व्यक्तियों के लिए एक ज्यादा समावेशी और प्रभावी पेंशन योजना की ओर बढ़ने का समय आ गया है। मगर, केंद्र सरकार इस मामले में अलग नजरिया लेती हुई दिखाई पड़ रही है। 2010-11 से 2014-15 तक एनएसएपी के बजट में लगातार इजाफा हुआ मगर पिछले तीन साल से ये रकम (पैसे के स्तर पर) यथावत बनी हुई है। ऐसा लगता है कि अब एनएसएपी में केंद्र सरकार की दिलचस्पी नहीं है और वह प्रधानमंत्री अटल पेंशन योजना नामक एक नई पेंशन योजना पर ज्यादा जोर दे रही है जिसकी शुरुआत 2015 में की गई थी। यह लाभार्थियों के अंशदान पर आधारित मुख्यतः स्व-वित्तपोषित योजना है। इस योजना के तहत संभावित लाभार्थियों को कम से कम 20 साल तक नियमित रूप से अपना अंशदान जमा कराना होगा और यह अंशदान सीधे उनके बैंक अकाउंट से कट जाएगा। इस योजना के तौर-तरीके लाभार्थियों के लिए ज्यादा फायदेमंद नहीं हैं<sup>34</sup>। जो लोग बहुत ही प्राथमिक स्तर पर जीवनयापन कर रहे हैं, उनके लिए यह योजना और भी ज्यादा अनाकर्षक हो जाती है। इसी वजह से अभी तक इस योजना को अपनाने वालों की संख्या बहुत कम रही है। सरकारी आंकड़ों के मुताबिक एनएसएपी के तहत 3.2 करोड़ लाभार्थी थे जबकि इस योजना के तहत सिर्फ 24 लाख लोगों ने अपना पंजीकरण कराया है<sup>35</sup>।

फिलहाल केंद्र और राज्य सरकारें एक-दूसरे से उल्टी दिशा में जाती दिखाई दे रही हैं। एक तरफ राज्य सरकारें हैं जो एनएसएपी के तहत गैर-अंशदान आधारित पेंशन योजनाओं को मजबूती दे रही हैं जबकि इसमें उनके बजट का एक अच्छा-खासा हिस्सा जाता है। दूसरी तरफ केंद्र सरकार अंशदान आधारित पेंशन योजना पर जोर दे रही है जिसमें अभी तक उसे कोई खास कामयाबी नहीं मिल पाई है। जाहिर है कि सामाजिक सुरक्षा पेंशन के सवाल पर हमें एक स्पष्ट और प्रभावी राष्ट्रीय रणनीति तैयार करनी होगी।

## 9. लागतें

इस लेख में जिन सामाजिक कार्यक्रमों की चर्चा की गई है, उनकी लागतों पर भी बीच-बीच में जिक्र किया गया है। जीडीपी के अनुपात के तौर पर इन कार्यक्रमों की लागतों का एक ज्यादा स्पष्ट ब्यौरा मिड-डे मील, आईसीडीएस, नरेगा और सामाजिक सुरक्षा पेंशनों की लागतों पर केंद्रित चित्र 1 में देखा जा सकता है। इस चित्र के साथ हमें इस तथ्य पर भी गौर करना चाहिए कि भारत का जीडीपी इस दौरान 7.5 प्रतिशत वार्षिक की दर से बढ़ा है। यह चित्र केवल केंद्र सरकार के खर्च पर केंद्रित है। इन चारों कार्यक्रमों पर होने वाले सरकारी व्यय का बड़ा हिस्सा केंद्र सरकार के जिम्मे आता है क्योंकि राज्य सरकारों का हिस्सा काफी कम है। उदाहरण के लिए, नरेगा में राज्य सरकारों का हिस्सा 10 प्रतिशत या इसके आसपास रहा है और यह कार्यक्रम सारे अन्य कार्यक्रमों से अधिक महंगा है। मगर अलग-अलग कार्यक्रमों में राज्य सरकारें अतिरिक्त योगदान देती हैं। जैसे, स्कूल में मिलने वाले भोजन की 25 प्रतिशत लागत राज्य सरकारें भी वहन करती हैं (जिसे

हाल ही में बढ़ाकर 40 प्रतिशत कर दिया गया है)।

स्कूली भोजन, आईसीडीएस और सामाजिक सुरक्षा पेंशन योजनाओं की लागत तुलनात्मक रूप से कम बैठती है – प्रत्येक पर जीडीपी का लगभग 0.1 प्रतिशत। नरेगा कार्यक्रम के शुरुआती सालों में इस पर होने वाले खर्च में 2009–10 तक लगातार इजाफा हुआ। तब से इसका खर्च पैसे के तौर पर कमोबेश समान रहा है। इसका मतलब ये है कि वास्तविक मूल्य की दृष्टि से इस पर होने वाले खर्चों में कमी आई है, हालांकि पिछले केंद्रीय बजट में नरेगा के नाम पर व्यय में इजाफा किया गया था। सन् 2016–17 में इन चारों कार्यक्रमों पर केंद्र सरकार का कुल खर्च जीडीपी के लगभग 0.5 प्रतिशत के आसपास रहा है।

चित्र 1 में राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा कानून पर होने वाले खर्चों को शामिल नहीं किया गया है क्योंकि इस कानून के खर्चों का हिसाब लगाना मुश्किल है। भारत की “खाद्य सब्सिडी” काफी भारी बैठती है – जीडीपी का लगभग 1 प्रतिशत। इस रकम को अक्सर एनएफएसए की लागत के तौर पर पेश किया जाता है मगर यह भ्रामक बात है क्योंकि खाद्य सब्सिडी आंशिक रूप से किसान सब्सिडी होती है जबकि इसका कुछ हिस्सा उपभोक्ता सब्सिडी और कुछ हिस्सा मूल्य स्थिरीकरण पर खर्च होता है (डयूस एवं नारायणन, 2017)। अगर खाद्य सब्सिडी का सिर्फ आधा हिस्सा भी एनएफएसए की लागत माना जाए तो भी यह जीडीपी का 0.5 प्रतिशत बैठता है। यह राशि बाकी योजनाओं पर होने वाले कुल खर्चों के बराबर बैठती है।

सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रमों के नाम पर हमारे पास और कोई बड़े कार्यक्रम नहीं हैं। अंतर्राष्ट्रीय दृष्टि से देखें तो हमारी सरकार इस मद में बहुत कम खर्च कर रही है। एशियन डेवलपमेंट बैंक (2013) के अनुसार 2009 में भारत ने “सामाजिक संरक्षण” पर जीडीपी का 1.7 प्रतिशत खर्च किया था जबकि एशिया के निम्न मध्यम आय वाले देशों में यह खर्च औसत 3.4 प्रतिशत है (गौरतलब है कि भारत भी निम्न मध्यम आय वाले देशों की श्रेणी में ही आता है)। अगर चीन और जापान से तुलना करें तो वहां इस मद में काफी ज्यादा खर्च किया जा रहा है। सामाजिक सुरक्षा पर चीन में 5.4 प्रतिशत और जापान में 19.2 प्रतिशत खर्चा किया जा रहा है<sup>36</sup>। यहां तक कि एशिया के निम्न आय वाले देशों में भी सामाजिक सुरक्षा के मद में औसत खर्चा 2.6 प्रतिशत है जो कि भारत के खर्चों से काफी ज्यादा है। जाहिर है कि निकट भविष्य में हमें सामाजिक सुरक्षा के मद में और तेजी से आगे बढ़ना होगा।

## 10. नकद भुगतान की दुविधा

बहुत सारे लोग, खासतौर से अर्थशास्त्रियों का एक तबका ये मानता है कि सभी (या कुछ खास) सामाजिक कार्यक्रमों में लाभार्थियों को सिर्फ नकद भुगतान ही मिलना चाहिए। इस सोच के सबसे रेडिकल हिमायती मानते हैं कि इन सारे कार्यक्रमों की जगह एक सार्वभौमिक न्यूनतम आय (यूनिवर्सल बेसिक इनकम – यूबीआई) शुरू कर दी जानी चाहिए<sup>37</sup>। इस दलील से सहमत होना मुश्किल है क्योंकि इनमें से कुछ कार्यक्रम (जैसे कि स्कूल में मिलने वाले भोजन) से काफी फायदे हुए हैं और इनके बारे में दस्तावेजी अध्ययन भी मौजूद हैं जो नकद भुगतान से हासिल नहीं किए जा सकते। इसके मुकाबले एक ज्यादा

विश्वसनीय सुझाव यह है कि इनमें से कुछ कार्यक्रमों को यथावत चलाया जाए जबकि कुछ कार्यक्रमों के स्थान पर नकद भुगतान किया जाए।

हमारे देश के लिए यूबीआई वाला प्रस्ताव कमोबेश भविष्योन्मुखी दिखाई देता है क्योंकि ऐसी सूरत में सरकार को जीडीपी का 3.5 प्रतिशत से 10 प्रतिशत तक खर्च करना पड़ सकता है (वर्धन 2016; जोशी 2016)। नकद भुगतान के लिए इतने पैसों का बंदोबस्त करने में काफी समय लग जाएगा। बहरहाल, व्यावहारिक धरातल पर देखें तो नकद भुगतान का तर्क केवल पीडीएस के मामले में यानी राशन की दुकानों के संदर्भ में ही व्यावहारिक दिखाई देता है। राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा कानून में खाद्य सब्सिडी के स्थान पर “नकद खाद्य सुरक्षा भत्ते” के भुगतान का विकल्प भी रखा गया है। बहुत सारे अर्थशास्त्रियों को लगता है कि इससे लागतों में कमी आएगी क्योंकि पीडीएस व्यवस्था बेहतर राज्यों में भी बहुत खर्चीली साबित हो रही है (संचालन खर्चों और लीकेज के लिहाज से)। नारायणन (2011) ने इस बहस का एक बहुत सटीक सारांश पेश किया है और इस बात पर जोर दिया है कि इन सारे तर्कों को हमें संदर्भ से जोड़ कर ही देखना चाहिए।

पीडीएस सर्वेक्षण, 2011 और पीईईपी सर्वेक्षण, 2013 में हमने नकद भुगतान और वस्तु हस्तांतरण के फायदों पर गरीबों की राय का भी विश्लेषण किया था<sup>38</sup>। जो उत्तरदाता अनाज के मुकाबले नकद भुगतान को बेहतर मानते हैं उनका अनुपात 2011 में 28 प्रतिशत था जो 2013 में गिरकर केवल 18 प्रतिशत रह गया था (टेबल 7। अंतिम कॉलम)। इन दोनों सर्वेक्षणों में एक पैटर्न साफ दिखाई पड़ता था: जहां पीडीएस व्यवस्था दुरुस्त है वहां लोग नकद की बजाय अनाज चाहते हैं। अनाज को प्राथमिकता देने के पीछे एक मुख्य कारण ये था कि लोगों को इस बात का भरोसा नहीं है कि नकद भुगतान महंगाई और मुद्रास्फीति को ध्यान में रखकर किया जाएगा या वह स्थिर ही रहेगा। साथ ही उन्हें यह डर है कि नकद पद्धति का दुरुपयोग भी हो सकता है। सभी जगह बैंकों की शाखाएं भी नहीं हैं। बहुत सारे लोगों को लगता है कि अगर पीडीएस व्यवस्था खत्म कर दी गई तो अनाज की कीमतें बढ़ जाएगी और तब उन्हें नकद भुगतान से भी उतना फायदा नहीं होगा। ऐसा लगता है कि पीडीएस व्यवस्था के स्थान पर नकद भुगतान की व्यवस्था बहुत लोकप्रिय साबित नहीं होगी। अगर इसे कामयाब बनाना है तो जरूरी है कि खाद्य सब्सिडी के निहित मूल्य के मुकाबले काफी ज्यादा रकम लोगों को दी जाए मगर तब सरकार की बचत होने की बजाय उसका खर्चा और बढ़ जाएगा।

छत्तीसगढ़, दादर—नगर हवेली, दिल्ली और पुदुचेरी में प्रायोगिक स्तर पर नकद भुगतान की योजनाएं लागू की गई हैं। ये सभी छोटे शहरी इलाके हैं जहां इस तरह का बदलाव ज्यादा आसानी से किया जा सकता है। मीडिया में आई रिपोर्टों और एक सर्वेक्षण के मुताबिक अभी तक इन प्रायोगिक योजनाओं में काफी अस्त-व्यस्तता रही है और ये ज्यादा लोकप्रिय नहीं हो पाई हैं<sup>39</sup>। जे—पाल (2016) द्वारा भारत सरकार के लिए किए गए एक अंतरिम अध्ययन में भी उत्साहजनक निष्कर्ष सामने नहीं आया है। इस मूल्यांकन के दूसरे चरण (2016 के मध्य) में लगभग 20 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने बताया कि उन्हें कोई नकद भुगतान नहीं मिला है। पुदुचेरी में दूसरे चरण तक स्थिति और खराब हो गई थी। पहले

चरण में लगभग 25 प्रतिशत लोगों को नकद भुगतान नहीं मिला जबकि दूसरे चरण में ऐसे लोगों की संख्या 35 प्रतिशत तक पहुंच गई थी। हमारे अपने सर्वेक्षण की तरह जे-पाल मूल्यांकन में भी यही पाया गया कि ज्यादातर उत्तरदाता नकद के मुकाबले अनाज ही चाहते हैं। अगर ये प्रायोगिक योजनाएं अंततः कामयाब हो जाती हैं तो भी उन्हें देश के दूसरे भागों में फैलाने के सवाल पर बहुत सावधानीपूर्वक कदम उठाना होगा। खासतौर से ऐसे गरीब इलाकों में जहां सफलता के लिए जरूरी बुनियादी ढांचा भी नहीं है (जिसमें बैंकों का व्यापक प्रसार भी शामिल है)।

दूसरी तरफ ऐसी नकद भुगतान योजनाओं को फैलाने की संभावना पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया जा रहा है जो पहले ही प्रभावी साबित हो चुकी हैं। सामाजिक सुरक्षा पेंशन इसका एक उदाहरण है जिस पर हम पीछे चर्चा कर चुके हैं। मातृत्व लाभ योजना इसी तरह का एक और उदाहरण है। ओडिशा और तमिलनाडु, इन दोनों राज्यों में मातृत्व लाभ योजना काफी सफलतापूर्वक लागू की जा चुकी है (बालसुब्रमण्यन, सुंदरी-रवींद्रन, 2012; खेड़ा, 2015)। एनएफएसए के लिए सरकार को पूरे देश में मातृत्व लाभ की योजना भी लागू करनी थी मगर अभी तक ऐसा नहीं हो पाया है।

नकद बनाम वस्तु की बहस अभी खत्म नहीं हुई है मगर अब इस बारे में कमोबेश सहमति बन चुकी है कि भारत में नकद के तौर पर या वस्तु के माध्यम से गरीब परिवारों के लिए आय सहायता की एक प्रभावी व्यवस्था लागू करना संभव है। यह अपने आप में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

## 11. निष्कर्ष

आज दुनिया के ज्यादातर अमीर देशों में एक व्यापक सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था मौजूद है। इसके तहत लोगों को शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास, पेंशन और बेरोजगारी भत्ते जैसी बहुत सारी सुविधाएं मिलती हैं। यह व्यवस्था न केवल पश्चिमी यूरोप के देशों में मौजूद है बल्कि दूसरे ओईसीडी देशों (जैसे, आस्ट्रेलिया, कनाडा, आइसलैंड, इजराइल, जापान, न्यूजीलैंड) में भी यह सक्रिय हैं। हालांकि इसमें संयुक्त राज्य अमेरिका एक प्रधान अपवाद हैं। बहरहाल, इस ऐतिहासिक संक्रमण के साथ-साथ इन देशों ने “गरीब-कानून” की पुरानी सोच को भी खारिज किया, जिसके तहत सामाजिक सहायता की व्यवस्था केवल थोड़े से गरीब लोगों तक सीमित रहती थी और ये सहायता बहुत मामूली होती थी। जब आप गरीब-कानून का रास्ता अपनाते हैं तो उसमें ये उम्मीद की जाती है कि मुट्ठी भर अमीर लोग मुट्ठी भर गरीब लोगों को मदद करेंगे। इसके विपरीत, सामाजिक सुरक्षा की व्यापक पद्धति को अपनाते से उच्च कर की अवधारणा को भी स्वीकार्यता मिली। आधुनिक कल्याणकारी राज्य ने आबादी के विशाल तबकों के बीच पारस्परिकता और एकजुटता के सिद्धांत को आधार बनाया (हार्टन एवं ग्रेगरी, 2010; जुड 2010)।

बहुत सारे विकासशील देश, खासतौर से तुलनात्मक रूप से लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्थाओं वाले देश अब कमोबेश इसी दिशा में बढ़ रहे हैं। उदाहरण के लिए, ब्राजील के लोकतांत्रिक संविधान में नागरिकों के स्वास्थ्य और प्रारंभिक शिक्षा के मौलिक अधिकार को

मान्यता दी गई है और इन अधिकारों की विस्तार से व्याख्या की गई है। मगर हमारे देश में सामाजिक नीति के विषय में एक समग्र सोच अभी भी सार्वजनिक बहस का हिस्सा नहीं बन पाई है। हालांकि संविधान में, राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांतों में इसके कुछ अंश और इशारे मिलते हैं। इसका एक कारण ये है कि भारत अभी भी संसाधनों के संकट से जूझ रहा है। हमारा प्रति व्यक्ति जीडीपी आज भी बहुत कम है। आयकर वसूली अभी भी सीमित है (आबादी का लगभग 3 प्रतिशत ही कर चुकाता है जबकि ब्राजील व चीन में यह संख्या 7-8 प्रतिशत तक है) और अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से टैक्स-जीडीपी अनुपात भी कम है। फिर भी, बीते सालों के दौरान ऊंची विकास दर की वजह से संसाधन संकट पर काफी अंकुश लगा है। इसी का नतीजा है कि आज स्थिर मूल्यों के आधार पर देखें तो राजस्व वसूली 25 साल पहले की राजस्व वसूली के मुकाबले चार गुना से ज्यादा बढ़ चुकी है (ट्रेज एवं सेन, 2013)। अगर यह रुझान जारी रहता है तो समग्र सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था जल्दी ही और ज्यादा व्यावहारिक व संभवपर दिखाई देने लगेगी।

समय के साथ संसाधन संकट तो दूर हो रहा है मगर सकारात्मक सामाजिक नीतियों के लिए राजनीतिक समर्थन का समस्या अभी भी बना हुआ है। भारत एक गहरे रूप से विभाजित समाज है, जहां संपन्न समूह गरीब तबकों के प्रति अपनी जिम्मेदारी मानने को अक्सर तैयार नहीं होते। हमारे देश की जाति आधारित ऊंच-नीच व्यवस्था भी संपन्न और शेष समाज के बीच सामाजिक फासले को बार-बार सींचती जाती है (ट्रेज एवं सेन, 2013)। फिर भी, बीते सालों के दौरान एक ज्यादा व्यापक सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था की दिशा में कई उल्लेखनीय कदम उठाए गए हैं। फिलहाल इस बात की गारंटी देना मुश्किल है कि यह रुझान आगे भी जारी रहेगा मगर दूसरे लोकतांत्रिक देशों के ऐतिहासिक अनुभवों से यही पता चलता है कि निकट भविष्य में सामाजिक सुरक्षा प्रावधानों का विस्तार निश्चय ही एक ठोस संभावना है।

इस लेख में जिन आनुभविक ब्यौरों को लिया गया है, उनके आधार पर दो महत्वपूर्ण सबक सामने आते हैं। एक सबक ये है कि भारत में सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रमों के क्रियान्वयन का स्तर सुधारा जा सकता है और समय के साथ इसमें सुधार आया भी है। यह धारणा मुख्यधारा में प्रचलित निराशावादी सोच को चुनौती देती है। उदाहरण के लिए, मीडिया में फूड प्वाइजनिंग की घटनाओं को तो जगह मिल जाती है, लेकिन मिड-डे मील के सकारात्मक और लाभदायक पहलुओं पर विरले ही कभी चर्चा होती है। बेशक, किसी भी तरह के भ्रष्टाचार और संपदा की बर्बादी को लोगों की नजर में लाना मीडिया का फर्ज बनता है। विपक्षी दलों और नागरिक संगठनों के पास भी डिलीवरी में सुधार की मांग करने की अपनी वजहें हैं। मगर, हमें अपनी सफलताओं और प्रगति पर भी ध्यान देना चाहिए। चाहे वह पीडीएस में सुधार का सवाल हो या ऑगनवाड़ियों को सक्रिय करने की बात हो या मिड डे मील की गुणवत्ता में सुधार का सवाल हो। अनावश्यक निराशावादी रवैये की वजह से भावी सुधार की संभावनाएं कमजोर पड़ जाती हैं और सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रमों के लिए राजनीतिक समर्थन क्षीण पड़ने लगता है।

इसी से जुड़ा दूसरा सबक ये है कि जिन राज्यों में शासन का अनुभव खराब रहा है,



वे भी बेहतर राज्यों की उपलब्धियों का अनुसरण कर सकते हैं। अभी कुछ साल पहले तक मूलभूत जनसेवाओं की प्रभावी डिलीवरी के मामले में केरल भारत के सारे राज्यों में एक उदाहरण के तौर पर दिखाई पड़ता था। आज तमिलनाडु और हिमाचल प्रदेश भी कमोबेश उसी स्तर पर पहुंच चुके हैं। बहुत सारे दूसरे राज्यों ने भी इस दिशा में उल्लेखनीय उपलब्धियां हासिल की हैं। छत्तीसगढ़ में पीडीएस व्यवस्था का कार्यापलट हुआ है। ओडिशा में आँगनवाड़ियां बढ़िया ढंग से काम कर रही हैं। यहां तक कि बिहार ने भी बाल विकास के कई मामलों में लंबी छलांग लगाई है। समग्र रूप से हमारे देश के सबसे खराब शासन वाले राज्यों में जनसेवाओं की गुणवत्ता अभी भी बहुत खराब है, मगर ताजा अनुभवों से ऐसा लगता है कि इस दुर्दशा को दूर किया जा सकता है।

इस आधार पर हम सामाजिक सुरक्षा की अधिकार आधारित दृष्टिकोण की एक महत्वपूर्ण कमजोरी की तरफ भी ध्यान आकर्षित कराना चाहते हैं। जैसा कि पीछे जिक्र किया गया था, अधिकार आधारित दृष्टिकोण ने भारत में सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था के उदय में एक अहम भूमिका अदा की है। बहुत सारे सामाजिक लाभों को कानूनी अधिकारों का दर्जा मिलने से संबंधित सामाजिक कार्यक्रमों की कार्यप्रणाली और जवाबदेही में सुधार आया है जबकि पहले लोगों ने उनके सुधार की उम्मीद ही छोड़ दी थी। पीडीएस व्यवस्था में सुधार इसका एक अच्छा उदाहरण है। इसके बावजूद, अधिकार आधारित दृष्टिकोण से सामाजिक नीतियों के प्रति गैर-लचीलेपन और केंद्रीकरण की प्रवृत्ति भी पैदा हो जाती है। कानूनों और अदालती आदेशों में संशोधन की गुंजाइश तुलनात्मक रूप से कम रहती है। इससे सामाजिक लाभों व कार्यक्रमों को रद्द करने से बचाने में तो मदद मिलती है मगर ये एक कमजोरी भी बन जाती है। मसला ये है कि अकसर हमें स्थितियों और संदर्भ के अनुसार कार्यक्रम में बदलाव की जरूरत पड़ती है मगर कानूनी दायरे में बंधे होने की वजह से हम ऐसा नहीं कर पाते। राष्ट्रीय कानूनों की वजह से भी केंद्रीकरण की स्थिति पैदा होती है क्योंकि केंद्र सरकार को बहुत निर्णायक शक्तियां मिल जाती हैं। कभी-कभी इन्हीं शक्तियों का सदुपयोग भी होता है, जैसे केंद्र सरकार उदासीन या सुस्त राज्य सरकारों को सामाजिक नीतियों को ज्यादा सक्रिय ढंग से लागू करने के लिए टोक सकती है। मगर, कई बार इस अधिकार की आड़ में केंद्र सरकार राज्य सरकारों की सामाजिक कार्यक्रम तय करने की आजादी को भी कुंद कर देती है। उदाहरण के लिए, राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी कानून को एक ऐसे कानून के रूप में लागू किया गया था जो राज्य सरकारों को पहल लेने के लिए मदद देगा मगर बीते सालों के दौरान इसका तेजी से केंद्रीकरण हुआ है और फलस्वरूप केंद्र सरकार इस कार्यक्रम के तमाम छोटे-छोटे आयामों को नियंत्रित करने लगी है। बेशक, राज्य सरकारें अपने कानून लागू कर सकती हैं, जैसे कि छत्तीसगढ़ सरकार ने छत्तीसगढ़ खाद्य सुरक्षा कानून के नाम से अपना कानून लागू किया है मगर यहां केंद्र और राज्यों के बीच खींचतान की संभावना भी पैदा हो जाती है जो अभी खत्म नहीं हो पाई है<sup>40</sup>।

संक्षेप में, अभी भारत सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रमों के मामले में सफल नहीं हो पाया है। लेकिन फिर भी, पिछले 15-20 सालों के प्रयासों, अनुभवों और बहसों ने (तथा राजस्व वसूली में लगातार इजाफे ने) निकट भविष्य में नई संभावनाओं का रास्ता खोल दिया है। आज भारतीय लोकतंत्र के लिए इन संभावनाओं को साकार करना सबसे बड़ा कार्यभार है।



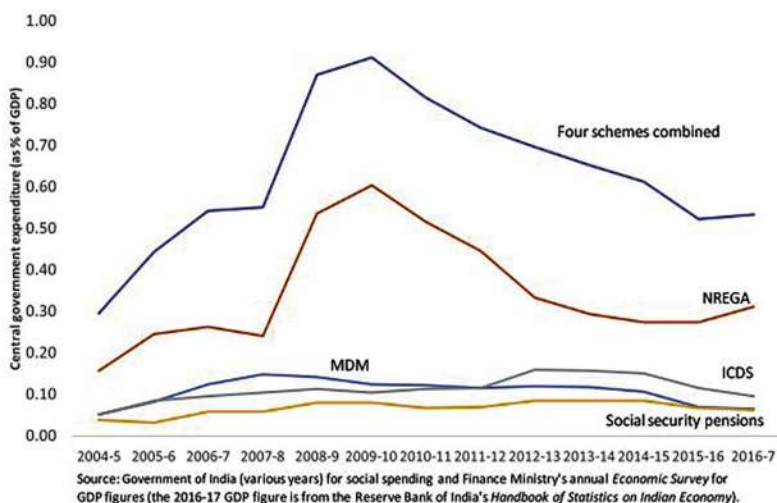


Table 1. Expansion of social security programs, 2004-12

|  | 2004-05          | 2011-12 |
|--|------------------|---------|
| <i>Midday meals:</i> Proportion of children aged 6-14 years who are receiving a midday meal at school (%)                                |                  |         |
| All children   | 37               | 50      |
| Children enrolled in government schools  | 62               | 81      |
| <i>Integrated Child Development Services:</i> Proportion of pregnant women and young children who receive any benefits from ICDS         |                  |         |
| Pregnant women <sup>a</sup>  | 20               | 53      |
| Young children   | 27               | 57      |
| <i>Employment guarantee:</i> Proportion of rural households that worked on NREGA or similar local public works in the past 12 months (%) | 0.5 <sup>b</sup> | 29      |
| <i>Public Distribution System:</i> Proportion of households that bought rice or wheat from the PDS in the past 30 days (%)               | 27               | 52      |
| <i>Social security pensions:</i> Proportion of widows and elderly persons (age 60+) receiving a social security pension (%)              |                  |         |
| Widows   | 7                | 22      |
| Elderly women  | 7                | 19      |
| Elderly men  | 6                | 22      |

Source: India Human Development Survey (IHDS-1 and IHDS-2), special tabulations.

<sup>a</sup> Proportion of women who received some benefit from ICDS during pregnancy, among those who gave birth during the preceding five years. The next row indicates whether the corresponding child received any benefits from ICDS.

<sup>b</sup> Under "Sampoorna Grameen Rozgar Yojana" and Food-for-Work programs.

Table 2. Small leap forward: India's anganwadis in 2004 and 2014

|   | 2004 | 2014 |
|---|------|------|
| Proportion (%) of sample AWCs with their own building   | 33   | 87   |
| <i>Perceptions of sample mothers</i>  |      |      |
| Proportion (%) who stated that their child attends the AWC "regularly"  | 50   | 80   |
| Proportion (%) who said that the following services were provided at the AWC:   |      |      |
| Supplementary nutrition   | 76   | 79   |
| Immunization  | 43   | 81   |
| Home visits   | 29   | 46   |
| Referral service  | 28   | 24   |
| Growth monitoring   | 63   | 70   |
| Pre-school education  | 45   | 53   |
| Proportion (%) who:   |      |      |
| Were dissatisfied with the quality of food provided at the AWC  | 24   | 12   |
| Felt that the quantity of food was adequate   | 59   | 79   |
| Reported that PSE activities are taking place at the AWC  | 45   | 53   |
| Felt that PSE activities benefit their child  | 54   | 82   |
| Felt that ICDS is important for their child's welfare   | 48   | 84   |
| <i>Perceptions of survey teams</i>  |      |      |
| Proportion (%) of sample AWCs whose overall functioning was rated as "poor" or "very poor"  | 34   | 23   |
| Proportion (%) of sample villages where the motivation of mothers to send their children to the AWC appears to be "high" or "very high" | 33   | 50   |

AWC = anganwadi center; PSE = pre-school education.

Table 3. ICDS in the reference states, 2013–14

|                               | Infrastructure indicators (% of anganwadis with specified facility) |                   |             | Proportion of AWCs where growth charts of children below 3 years were prepared (%) | Children aged 12–23 months who are fully immunized (%) | Pregnant women who had ante-natal checkups <sup>a</sup> (%) |               | Pregnant women who receive supplementary nutrition from the anganwadi (%) |
|-------------------------------|---|-------------------|-------------|--|--|---|---------------|---|
|                               | Functional baby weighing scale                                      | Toilet            | Electricity |  |  | At least one  | Three or more |   |
| Tamil Nadu                    | 86  | 58                | 83          | 78   | 76 (81)  | 98 (99)   | 92 (97)       | 46 (50)   |
| Himachal P.                   | 87  | 71                | 46          | 65   | 80 (74)  | 91 (90)   | 58 (63)       | 66 (34)   |
| Chhattisgarh                  | 88  | 35                | 23          | 64   | 67 (49)  | 96 (89)   | 80 (55)       | 65 (64)   |
| Odisha                        | 89  | 21                | 25          | 67   | 62 (52)  | 92 (87)   | 75 (61)       | 61 (45)   |
| Rajasthan                     | 58  | 32                | 15          | 35   | 61 (27)  | 82 (76)   | 51 (41)       | 34 (17)   |
| Bihar                         | 57  | 20                | 14          | 17   | 60 (33)  | 85 (34)   | 33 (17)       | 22 (1)  |
| Jharkhand                     | 58  | 27                | 23          | 20   | 65 (34)  | 81 (61)   | 47 (36)       | 47 (35)   |
| Uttar Pradesh                 | 50  | (46) <sup>b</sup> | 20          | 12   | 47 (23)  | 62 (67)   | 39 (26)       | 24 (10)   |
| Reference states <sup>c</sup> | 63  | 38                | 28          | 32   | 59 (38)  | 79 (69)   | 52 (41)       | 34 (21)   |
| INDIA                         | 72  | 43                | 32          | 44   | 65 (44)  | 85 (77)   | 63 (51)       | 41 (21)   |

Sources: Rapid Survey on Children 2013–14, state factsheets (available at <http://wcd.nic.in/acts/rapid-survey-children-rsoc-2013-14>); figures in brackets are the corresponding figures for 2005–06 (from the third National Family Health Survey), where available.

AWC = Anganwadi center; ANM = Auxiliary Nurse Midwife; AWW = Anganwadi worker; ASHA = Accredited Social Health Activist

<sup>a</sup>Base: Women who had a live birth during the 35 months preceding the survey.

<sup>b</sup>In Uttar Pradesh, many anganwadis are run from private homes.

Table 4. NREGA factsheet

|  | 2009–10 | 2014–15 |
|--|---------|---------|
| Employment generation (person-days)                  |         |         |
| Total (million)                                      | 2836    | 1662    |
| Per household employed under NREGA                   | 54      | 40      |
| Per rural household <sup>a</sup>                     | 17      | 10      |
| Work participation                                   |         |         |
| Number of persons employed (million)                 | n/a     | 62      |
| Proportion of rural households employed (%)          | 31      | 25      |
| Share of marginalized groups in NREGA employment (%) |         |         |
| Women  | 48      | 55      |
| Scheduled tribes                                     | 21      | 17      |
| Scheduled castes                                     | 30      | 22      |
| Expenditure on NREGA                                 |         |         |
| Total expenditure (Rs billion)                       | 379     | 360     |
| Total expenditure as a proportion of GDP (%)         | 0.6     | 0.3     |
| Share of wages in total expenditure (%)              | 67      | 67      |

Sources: Government of India (2012), Table A, p.4, for 2009–10. Official NREGA website ([nrega.nic.in](http://nrega.nic.in)), “At a Glance” section, for 2014–15. The

Table 5. NREGA in the reference states, 2009–10

|               | Person-days of employment |                     | Per-capita expenditure on NREGA (Rs) | Proportion of rural households working on NREGA <sup>a</sup> (%) |                  |                  | Share of women in NREGA employment (%) | Average wage rate (Rs/day) |              |
|---------------|---------------------------|---------------------|--------------------------------------|--|------------------|------------------|--|----------------------------|--------------|
|               | Per employed household    | Per rural household |                                      | All households   | Scheduled castes | Scheduled tribes |  | NREGA                      | Casual labor |
| Tamil Nadu    | 58                        | 25                  | 555                                  | 34   | 52               | (29)             | 83                                     | 72                         | 111          |
| Himachal P.   | 64                        | 22                  | 936                                  | 33   | 41               | 39               | 46                                     | 110                        | 140          |
| Chhattisgarh  | 44                        | 24                  | 723                                  | 48   | 44               | 52               | 49                                     | 82                         | 69           |
| Odisha        | 38                        | 7                   | 281                                  | 22   | 22               | 32               | 36                                     | 106                        | 76           |
| Rajasthan     | 69                        | 47                  | 1,133                                | 62   | 65               | 82               | 67                                     | 87                         | 126          |
| Bihar         | 32                        | 7                   | 214                                  | 10   | 19               | (9)              | 30                                     | 98                         | 79           |
| Jharkhand     | 43                        | 18                  | 586                                  | 19   | 27               | 20               | 34                                     | 98                         | 101          |
| Uttar Pradesh | 58                        | 14                  | 389                                  | 16   | 33               | (14)             | 22                                     | 100                        | 94           |
| INDIA         | 54                        | 17                  | 464                                  | 25   | 34               | 42               | 48                                     | 90                         | 93           |

Sources: Person-days of employment: Government of India (2012), Table 6.4, and Government of India (2009). Other figures: Dutta et al. (2012) Tables 1, 2, 6 and 7 (all based on National Sample Survey data, except for “per-capita expenditure on NREGA”, calculated from official data available at <http://nrega.nic.in>).

<sup>a</sup>Figures in brackets may be unreliable due to small sample (less than 100 households). The overall proportion of rural households employed on NREGA in 2009–10 according to NSS data (25%—last row of this table) is a little lower than the corresponding figure from official NREGA statistics (31%—see Table 4).

Table 6. Estimates of PDS leakages and poverty impact

|                  | Estimated PDS leakages (%) |         | Estimated impact of the PDS on rural poverty, 2009-10 <sup>a</sup><br>(percentage reduction in the poverty-gap index) |
|------------------|----------------------------|---------|---|
|                  | 2004-05                    | 2011-12 |   |
| Tamil Nadu       | 7                          | 12      | 61  |
| Himachal Pradesh | 27                         | 27      | 35  |
| Chhattisgarh     | 52                         | 9       | 39  |
| Odisha           | 76                         | 25      | 23  |
| Rajasthan        | 94                         | 61      | 12  |
| Bihar            | 91                         | 24      | 4   |
| Jharkhand        | 85                         | 44      | 13  |
| Uttar Pradesh    | 58                         | 58      | 11  |
| INDIA            | 54                         | 42      | 18  |

Source: Drèze and Khera (2013), Drèze and Khera (2015a). The impact of the PDS on rural poverty was evaluated from National Sample Survey (NSS) data, by comparing the poverty-gap index with and without adding the implicit value of food subsidies to NSS estimates of "monthly per-capita expenditure". Leakages were estimated by matching NSS data on household purchases from the PDS with official data on PDS offtake.

<sup>a</sup> Using the all-India "Tendulkar poverty line" for rural areas (Rs 673/month in 2009-10).

Table 7. The PDS in the reference states

|                           | PDS coverage <sup>a</sup> | Proportion of respondents who did not get any PDS grain in the last 3 months (%) |      | Purchase-entitlement ratio in last 3 months, BPL households <sup>b</sup> (%) |      | Proportion of respondents who feel that the quality of PDS grain is "poor" (%) |      | Proportion of respondents who would prefer cash (%) |      |
|---------------------------|---------------------------|--|------|--|------|--|------|---|------|
|                           |                           | 2011   | 2013 | 2011   | 2013 | 2011   | 2013 | 2011  | 2013 |
|                           |                           |  |      |  |      |  |      |   |      |
| Tamil Nadu                | Universal                 | 3  | 1    | 92   | 96   | 17   | 47   | 11  | 18   |
| Himachal Pradesh          | Universal                 | 0  | 1    | 92-100   | 100  | 4  | 17   | 9   | 12   |
| Chhattisgarh              | Near-universal            | 2  | 0    | 95   | 98   | 14   | 0    | 2   | 9    |
| Odisha                    | Expanded                  | 0  | 0    | 97-100   | 98   | 14   | 15   | 6   | 1    |
| Rajasthan                 | Expanded                  | 1  | 1    | 86-100   | 99   | 19   | 27   | 15  | 12   |
| Bihar                     | Targeted                  | 27   | 4    | 45   | 69   | 31   | 13   | 54  | 6    |
| Jharkhand                 | Targeted                  | 3  | 2    | 71   | 75   | 19   | 14   | 22  | 23   |
| Uttar Pradesh             | Targeted                  | 2  | 10   | 77-88  | 86   | 11   | 5    | 34  | 29   |
| EIGHT STATES <sup>c</sup> | -                         | 7  | 5    | 76-81  | 87   | 17   | 16   | 28  | 18   |

Sources: PDS Survey 2011 and PEEP Survey 2013.<sup>41</sup> Base: households with a BPL or Antyodaya card, except for purchase-entitlement ratio (BPL households only). For further details, see Khera (2011c) and Drèze and Khera with the PEEP team (2014).

<sup>a</sup> "Targeted": coverage is restricted to BPL households. "Expanded": coverage has been extended beyond BPL households by state government, but is not universal.

<sup>b</sup> Average food grain purchases of BPL households, as a proportion of entitlements. In some states, BPL entitlements in 2011 were a little ambiguous due to temporary extra allocations under Supreme Court orders; for these states, a range is presented instead of a point estimate.

<sup>c</sup> Population-weighted average of state-specific figures.

Table 8. Social security pensions in the reference states

|                           | Proportion of confirmed beneficiaries in the official list <sup>a</sup> (%) | Approximate pension coverage <sup>b</sup> (%) | Old-age pension amount (Rs/month) | Proportion of pensioners who had to pay a bribe to get their pension sanctioned (%) | Reported delays in pension payments (%) |                                |                                 | Main mode of payment |
|---------------------------|---|---|-----------------------------------|---|---|--------------------------------|---------------------------------|----------------------|
|                           |   |   |                                   |   | No delay                                | Less than a month <sup>c</sup> | More than a month or no pattern |                      |
| Tamil Nadu                | 97  | 26  | 1,000                             | 51  | 10                                      | 98                             | 2                               | Postal money orders  |
| Himachal Pradesh          | 100   | 47  | 400                               | 8   | 0                                       | 1                              | 99                              | Postal money orders  |
| Chhattisgarh              | 100   | 34  | 300                               | 11  | 2                                       | 96                             | 4                               | Post office accounts |
| Odisha                    | 100   | 79  | 300                               | 19  | 99                                      | 99                             | 1                               | Cash through GP      |
| Rajasthan                 | 92  | 31  | 500-750                           | 15  | 1                                       | 3                              | 97                              | Post office accounts |
| Bihar                     | 97  | 72  | 300-500                           | 37  | 0                                       | 0                              | 100                             | Cash through GP      |
| Jharkhand                 | 93  | 51  | 400                               | 38  | 3                                       | 50                             | 50                              | Bank accounts        |
| Uttar Pradesh             | 100   | 34  | 300                               | 50  | 0                                       | 0                              | 100                             | Bank accounts        |
| EIGHT STATES <sup>d</sup> | 98  | 44  | 458                               | 38  | 9                                       | 28                             | 72                              |                      |

GP = Gram Panchayat (village council).

Source: PEEP Survey 2013; the survey included a special module on pensions, which covered 735 pensioners in the reference states (the initial target was 12 per village, in 64 villages) selected at random from the pension lists. The figures in the first column are based on a full verification of the pension lists.

<sup>a</sup> Percentage of persons in the 64 sample villages' official lists of pensioners (about 3,253 names) who confirmed that they were getting a pension.

<sup>b</sup> Proportion of sample households with at least one member aged above 60 where someone is getting a pension (widow or old-age).

<sup>c</sup> Including "no delay".

<sup>d</sup> Population-weighted average of state-specific figures.

## नोट्स

हम मददगार टिप्पणियों के लिए सुधा नारायण और शोध में सहायता के लिए प्रांकुर गुप्ता और मोनिका यादव के आभारी हैं। भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद् ने कुछ क्षेत्र अध्ययन के लिए वित्तीय मदद की है। लेख का अंतिम मसौदा 28 मे, 2017 को स्वीकार किया गया।

1. राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा कानून 2013 के तहत मातृत्व लाभ (प्रति बच्चा 6000 रुपये नकद भुगतान) पाना भारतीय महिलाओं का कानूनी अधिकार है। मगर, इस प्रावधान को अब तक लागू ही नहीं किया गया है।
2. भारत में सामाजिक विकास के क्षेत्रीय रुझानों को समझने के लिए ट्रेज एवं खेड़ा (2012), ट्रेज एवं सेन (2013), सिंह (2016) और इन शोधों में दिए गए साहित्य को देखें।
3. मिड टे मील (28 नवंबर 2001 से सर्वोच्च न्यायालय के आदेशों के अनुसार अनिवार्य) के मामले में विस्तार का मुख्य दौर 2002-04 के बीच रहा था। टेबल 1, जिसमें 2004-05 को बेसलाईन के रूप में लिया गया था, वह इस शुरुआती विस्तार पर रोशनी नहीं डालता मगर पिछले 15 सालों में यह विस्तार हुआ है। पेशनों के मामले में टेबल 1 में जो विस्तार दिखाई देता है वह पिछले 5 सालों के दौरान बहुत सारे राज्यों में तेजी से फैला है।
4. स्पष्ट रूप से कहें तो समेकित बाल विकास सेवा के केवल कुछ ही पहलू (जैसे पोषाहार) एनएफएसए के अंतर्गत आते हैं। मगर, सर्वोच्च न्यायालय के आदेशों में कहा गया है कि 6 साल से कम उम्र के सभी बच्चों को आईसीडीएस के तहत मिलने वाली सारी सेवाओं का अधिकार है।
5. भारतीय लोकतंत्र के इस पहलू पर कोहली (2012), कोरब्रिज, हैरिस एवं जैफ्री (2012), ट्रेज एवं सेन (2013) में चर्चा की गई है। भारतीय संविधान के मुख्य रचनाकार बी. आर. अंबेडकर ने इस बात का अंदाजा लगा लिया था जो उनके कई भाषणों और लेखों में दिखाई पड़ता है। (उदाहरण के लिए देखें, रोड्रिग्स, 2002)।
6. कानूनी समाधानों का रास्ता गरीबों के लिए बहुत महंगा होता है और हमारे देश में कानूनी सहायता सुविधाएं बहुत कम हैं। दूसरी तरफ, भारत की विधि व्यवस्था में "जनहित याचिकाओं" (पीआईएल) के लिए बहुत व्यापक गुंजाइश मौजूद है। लोग समय-समय पर सामाजिक कानूनों व कार्यक्रमों को लागू करने के लिए सरकार पर दबाव बनाने के लिए वास्ते जनहित याचिकाएँ दायर करते रहते हैं (भुवानिया, 2016)।
7. देखें, ट्रेज एवं खेड़ा (2010), टेबल 1, और देसाई एवं अन्य (2010), टेबल ए.13.1ए।
8. टिटमस (1967), जिसे हाटर्न एवं ग्रेगरी (2010, पृष्ठ 273) में उद्धृत किया गया है। सार्वभौमिकिकरण के पक्ष में यह तर्क यूरोप के कल्याणकारी राज्य का एक महत्वपूर्ण आधार रहा है (जड्ड, 2010)।
9. यह पद्धति, कानून के तहत पीडीएस की विस्तारित कवरेज की वजह से संभव हुई है जिस पर आगे भी चर्चा की गई है — ग्रामीण इलाकों में 75 प्रतिशत और शहरी इलाकों में 50 प्रतिशत। इन संख्याओं को इस तरह समायोजित किया गया है जिससे गरीब इलाकों में कवरेज ज्यादा हो (जैसे, ग्रामीण बिहार में 85 प्रतिशत)।
10. उदाहरण के लिए बिहार के ताजा अनुभवों पर देखें, ट्रेज एवं पुदुसेरी (2015)।
11. यह आदेश सरकारी और सरकार सहायता प्राप्त निजी स्कूलों पर लागू होता है। इस जनहित याचिका को "भोजन अधिकार केस" के नाम से जाना जाता है (पीपुल्स यूनियन फार सिविल लिबर्टीज बनाम भारत सरकार एवं अन्य रिट याचिका (सिविल) 196, 2001 (1))। यह केस अभी भी विचाराधीन है। मूल मांग यह थी कि सरकार के पास जो विशाल अनाज भंडार पड़े हुए हैं उनका इस्तेमाल लोगों को भुखमरी से बचाने के लिए किया जाए।
12. स्पष्ट शब्दों में कहें तो यह केंद्र सरकार की लागत बैठती है। राज्य सरकारें भी अपना हिस्सा देती हैं (कुल लागत का 25 प्रतिशत जो कुछ समय बढ़ाकर 40 प्रतिशत कर दिया गया था)।
13. केंद्र सरकार की मिड टे मील वेबसाइट (mdm.nic.in) से लिए गए मार्च 2011 के आंकड़े।
14. कुछ राज्यों में दो आंगनवाड़ी कार्यकर्ता और एक सहायक की व्यवस्था की गई है मगर आमतौर पर एक आंगनवाड़ी सहायक और एक आंगनवाड़ी कार्यकर्ता की नियुक्ति का ही नियम चला आ रहा है।
15. सिटीजंस इंीशिएटिव फार दि राइट्स आफ चिल्ड्रन अंडर सिक्स (2006) को देखें। उस समय आईसीडीएस की क्या स्थिति थी, यह समझने के लिए ट्रेज (2006) और उसमें उद्धृत अन्य अध्ययनों को भी देखें।

16. नरेगा के बारे में शोध साहित्य इतना विशद है कि हमारे लिए इस छोटे से लेख में उन सबको समाहित करना कठिन है। शुरुआती सालों के अनुभवों के बारे में जानने के लिए देखें खेड़ा (2011), भारत सरकार (2012), और उनमें उद्धृत अन्य दस्तावेज। पिछले कुछ सालों के दौरान काफी बदलाव आए हैं और उन पर बहुत सारे शोध भी हुए हैं। इस मद में कुछ महत्वपूर्ण शोध ये हैं – दत्ता, मुरगई, रवालियन, एवं वन डे वेला (2012), दत्ता, मुरगई, रवालियन एवं वन डे वेला (2014), आफरीदी, बरुआ एवं अन्य (2013), आफरीदी, मुखोपाध्याय एवं अन्य (2013), यान्यान ल्यू एवं बैरेट (2013), क्लोनर एवं ओल्डीजिस (2014), मुखर्जी (2014), भास्कर, गुप्ता एवं यादव (2016), इन्वर्ट एवं पैक (2015बी), राणावरे, दास, कुलकर्णी एवं नारायणन (2015), मुरलीधरन, निहास एवं सुखतंतर (2016), आदि।
17. राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी कानून (अधिकृत रूप से महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम) के संक्षिप्त इतिहास को जानने के लिए देखें ट्रेज (2010ए)। इस कानून, उसकी अनुसूचियों और दिशानिर्देशों का पूरा ब्यौरा नरेगा की सरकारी वेबसाइट (nrega.nic.in) पर उपलब्ध है।
18. एक राज्य जहां सरकार में अकसर भ्रष्ट अधिकारियों के खिलाफ कार्रवाई की गई है वह आंध्र प्रदेश है। फलस्वरूप, आंध्र प्रदेश में नरेगा का प्रदर्शन तुलनात्मक रूप से बढ़िया रहा है (नोट 22 में उल्लिखित साहित्य को भी देखें)।
19. भारत सरकार (2012, पृष्ठ 4) तथा नरेगा की सरकारी वेबसाइट [www.nrega.nic.in](http://www.nrega.nic.in) पर "पब्लिक डेटा पोर्टल" को भी देखें।
20. और चर्चा के लिए देखें, ट्रेज (2014)। नरेगा के अधिकृत आंकड़ों और दूसरे भारतीय मानव विकास सर्वेक्षण के आंकड़ों में मोटे तौर पर जो समानता दिखाई देती है उसकी पुष्टि देसाई, वशिष्ठ एवं जोशी (2015) में दिए गए आंकड़ों से भी होती है। अधिकृत आंकड़ों और राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के आंकड़ों में जो फर्क दिखाई देता है, उसके लिए इन्वर्ट एवं पेप (2011, 2015ए) को भी देखें।
21. विशेष रूप से यान्यान ल्यू एवं बैरेट (2013); तथा ट्रेज एवं खेड़ा (2009बी) को भी देखें।
22. अन्य के अलावा डीनिंगर एवं ल्यू (2013), दासगुप्ता (2013), रवि एवं एंगलर (2015), मुरलीधरन एवं अन्य (2016) को देखें। तमिलनाडु के बारे में नारायणन (2008), हैरिस, जयरंजन एवं नागराज (2010), खेड़ा एवं मुथैया (2010), जयरंजन (2011), कार्सवेल एवं डी नेवे (2010, 2014) को देखें।
23. उदाहरण के लिए देखें, अग्रवाल, गुप्ता एवं कुमार (2012), भास्कर एवं अन्य (2016), रानावरे एवं अन्य (2015) तथा ट्रेज एवं सेन (2013ए अध्याय 7) में उल्लिखित अन्य अध्ययनों को देखें।
24. देखें खेड़ा एवं नायक (2009)। रोजगार गारंटी में जेंडर का आयाम तमिलनाडु में नरेगा के अनुभवों पर किए गए शोधों का एक मुख्य विषय रहा है। इससे पहले महाराष्ट्र में रोजगार गारंटी योजना के शोधों में भी इस पर काफी ध्यान दिया गया है। यह भी देखें, बसु (2012), नारायणन (2008), नारायणन एवं दास (2014)।
25. रॉय (2014, पृष्ठ 534)। नरेगा के सशक्तिकरण संबंधी आयामों पर इन्हें भी देखें, ढकतोडे (2016) तथा जेनकिंस एवं मेनोर (2016)।
26. मध्य प्रदेश के बड़वानी जिले के कुछ भागों में नरेगा के अनुभवों पर देखें खेड़ा (2008)। अन्य स्थानों पर संबंधित अनुभवों के लिए देखें पेटेंडन (2015) एवं रॉय (2015)।
27. छत्तीसगढ़ में पीडीएस सुधारों की राजनीतिक इच्छा शक्ति पैदा करने में चुनावी राजनीति और जनता की गोलबंदी की भूमिका पर टिलीन, देशपांडे एवं कौलाश (2015ए), टिलीन एवं अन्य (2015बी) में चर्चा की गई है।
28. पहले दोनों सर्वेक्षणों के लिए देखें टेबल 7; तीसरे सर्वेक्षण के लिए देखें ट्रेज, गुप्ता, खेड़ा एवं पिमेंटा (2016)।
29. पीडीएस सर्वेक्षण मई-जून 2011 में 20 जिलों में किया गया था। इसके लिए सभी नौ राज्यों (8 संदर्भ राज्य और आंध्र प्रदेश) के दो सबसे गरीब जिलों को चुना गया। प्रत्येक जिले में हमने दो-दो ब्लाक को चुना। प्रत्येक ब्लाक में बेतरतीब ढंग से तीन गांवों को चुना और सभी 120 नमूना गांवों में बेतरतीब ढंग से 12 ऐसे परिवारों को चुना गया जो पीडीएस व्यवस्था से जुड़े हैं। 6 नमूना राज्यों में नमूना परिवारों को बीपीएल सूची से चुना गया। ये ऐसे राज्य थे जहां पीडीएस व्यवस्था निश्चित तबके पर केंद्रित है। बाकी तीन राज्यों में जहां पीडीएस सार्वभौमिक या अर्ध-सार्वभौमिक व्यवस्था के तौर पर लागू की जा रही है वहां मतदाता सूची में से लोगों को चुना गया। उपलब्ध समय के भीतर सर्वेक्षण टीम ने कुल 1227 परिवारों के साक्षात्कार लिए

(लक्ष्य 1440 परिवारों का तय किया गया था)। अधिक विवरण के लिए देखें खेड़ा (2011सी)।

30. अंत्योदय योजना सबसे गरीब परिवारों को लाभ पहुंचाने के लिए शुरू की गई है जो अभी भी एनएफएसए के अंतर्गत चलाई जा रही है। इसके लिए पूरे देश में प्रत्येक परिवार को माहवार 35 किलोग्राम अनाज मिलता है।
31. ये आंकड़े "तेंदुलकर पावर्टी लाईन" पर आधारित हैं। कुछ इसी किस्म की पद्धति का प्रयोग करते हुए हिमांशु एवं सेन (2013) ने पाया है कि पीडीएस से ग्रामीण और शहरी इलाकों में गरीबी के फासले में 20 प्रतिशत के आसपास गिरावट आती है।
32. इस कार्यक्रम में दो और योजनाएं भी शामिल हैं जो धीरे-धीरे खत्म की जा रही हैं। एक है राष्ट्रीय पारिवारिक लाभ योजना (नेशनल फैमिली बनेफिट स्कीम और दूसरी है अन्नपूर्णा स्कीम)। इस भाग में हम औपचारिक क्षेत्र की उन पेंशन योजनाओं पर बात नहीं कर रहे हैं जो सरकारी कर्मचारियों को मिलती हैं।
33. ये पीईईपी सर्वेक्षण के 80 नमूना गांवों की पेंशन सूचियां थीं। अधिक विवरण के लिए देखें, चोपड़ा एवं पुदुसेरी (2014)।
34. इसके लिए एक उदाहरण से मदद मिल सकती है। इस योजना के तहत वर्तमान में 40 वर्ष के व्यक्ति को अगले 20 साल तक 291 रुपये महीने अदा करना होगा जिसके आधार पर वह साठ साल की उम्र में 1000 रुपये महीना पेंशन का हकदार हो जाएगा। मान लीजिए कि एक व्यक्ति की जीवन प्रत्याशा 70 वर्ष है और इस बीच मुद्रास्फीति की दर 5 प्रतिशत के आसपास रहती है। ऐसे में अगर यह व्यक्ति इस राशि को हर माह अपने बैंक खाते में जमा करता जाए तो ज्यादा बेहतर होगा। ऐसे में अगर वह पैसे के तौर पर मात्र 5 प्रतिशत की ब्याज दर से चले (जो वास्तविक अर्थों में 5 प्रतिशत मुद्रास्फीति की वजह से शून्य हो जाती है) तो 20 साल तक माहवार 291 रुपये जमा करने पर उसे अगले 10 साल तक 1000 रुपये और 70 साल की उम्र पूरी होने पर 3000 रुपये महीने मिलाने लगेंगे।
35. देखें क्रमशः [www.pradhanmantriyोजना.co.in/atal-pension-yोजना-apy](http://www.pradhanmantriyोजना.co.in/atal-pension-yोजना-apy), [www.nsap.nic.in](http://www.nsap.nic.in)
36. भारत से संबंधित आंकड़े केवल केंद्र सरकार से संबंधित हैं। मगर, राज्य सरकारों के खाते में अच्छा-खासा हिस्सा (मान लीजिए 25 प्रतिशत) जोड़ने के बाद भी भारत में सामाजिक सुरक्षा के मद में होने वाला व्यय दूसरे एशियाई देशों से कम ही रह जाता है।
37. यह भारत सरकार (2017) के ताजा आर्थिक सर्वेक्षण में यूबीआई पर दिए गए अध्याय की एक संभावित व्याख्या हो सकती है। इस अध्याय में यूबीआई प्रस्ताव को भारत के जीडीपी में लगभग 5 प्रतिशत लागत के बराबर बताया गया है और उसमें ऐसी योजनाओं व सव्सिडियों की भी सूची दी गई है जिन्हें इसके अंदर शामिल किया जा सकता है। इनमें प्रस्तुत लेख में उल्लिखित पांचों सामाजिक कार्यक्रम भी शामिल हैं और इन पर भी भारत की जीडीपी का लगभग 5 प्रतिशत खर्चा होगा। इन योजनाओं और सव्सिडियों को खत्म करके यूबीआई को लागू करने की संभावना पर बात की गई है।
38. निष्कर्षों पर और ज्यादा चर्चा करने के लिए देखें खेड़ा (2014)।
39. दिल्ली की प्रायोगिक योजना (अन्नश्री योजना) को बिना किसी हो-हल्ले के बंद कर दिया गया और हमें पता नहीं है कि इसके बारे में सरकार ने कोई मूल्यांकन किया है या नहीं। सेंटर फॉर इक्विटी स्टडीज (नई दिल्ली) द्वारा किए गए एक सर्वेक्षण के मुताबिक पुदुचेरी की शुरुआती प्रायोगिक योजना भी 8 हफ्तों के भीतर बंद कर दी गई थी क्योंकि लोगों ने इसका काफी विरोध किया था। छत्तीसगढ़ की प्रायोगिक योजना से भी लोगों में जबरदस्त असंतोष पैदा हुआ था क्योंकि इसके तहत लोगों के पैसे के ट्रांसफर में जबरदस्त धांधलियां हुई थीं और बहुत सारे लोग छोड़ दिए गए थे (कालरा, 2016; नेहरा 2016)।
40. भारतीय संविधान के तहत सामाजिक सुरक्षा समवर्ती सूची का विषय है जिसका मतलब है कि इस मद में केंद्र एवं राज्य, दोनों सरकारें कानून बना सकती हैं मगर राष्ट्रीय कानून प्रादेशिक कानूनों से ऊपर माना जाएगा।
41. पीईईपी सर्वेक्षण मई-जून 2013 में 20 जिलों में किया गया था। इसके लिए 10 राज्यों (8 "संदर्भ राज्यों" और मध्य प्रदेश व महाराष्ट्र) के दो-दो सबसे गरीब जिलों को चुना गया था। यह सर्वेक्षण सिर्फ पीडीएस व्यवस्था के लिए नहीं बल्कि सभी पांच सामाजिक कार्यक्रमों के अध्ययन के लिए शुरू किया गया था। प्रत्येक जिले में हमने किसी एक ऐसे ब्लाक को चुना जहां सर्वेक्षण में मदद देने के



लिए कोई स्थानीय संगठन सक्रिय था। प्रत्येक ब्लॉक में हमने बेतरतीब ढंग से चार-चार गांव चुने और इस तरह चुने गए 80 नमूना गांवों में से हमने प्रत्येक गांव में नरेगा जॉब कार्डों की अधिकृत सूची से 30-30 परिवारों को चुना। सर्वेक्षण के लिए उपलब्ध समय के भीतर सर्वेक्षण टीम कुल 2400 परिवारों में से 1926 परिवारों के ही साक्षात्कार ले पाई। 2011 के पीटीएस सर्वेक्षण और 2013 के पीईईपी सर्वेक्षण के बीच पद्धति संबंधी कुछ फर्क भी रहे हैं मगर उनसे यहां की जा रही तुलनाओं पर ज्यादा फर्क नहीं पड़ेगा।

## सन्दर्भ

Afridi, F. (2010). Child welfare programs and child nutrition: Evidence from a mandated school meal program in India. *Journal of Development Economics*, 92.

Afridi, F. (2011). The impact of school meals on student participation in rural India. *Journal of Development Studies*, 47.

Afridi, F., Barooah, B., & Somanathan, R. (2013). School meals and classroom effort: Evidence from India, Working Paper. International Growth Centre, London School of Economics.

Afridi, F., Mukhopadhyay, A., & Sahoo, S. (2013). Female Labor Force Participation and Child Education in India: Evidence from the National Rural Employment Guarantee Scheme. Discussion Paper 13-03, Economics and Planning Unit, Indian Statistical Institute, New Delhi; forthcoming in *IZA Journal of Labor and Development*.

Aggarwal, A. (2016). The MGNREGA crisis: Insights from Jharkhand. *Economic and Political Weekly*, 28 May.

Aggarwal, A., Gupta, A., & Kumar, A. (2012). Evaluation of NREGA Wells in Jharkhand. *Economic and Political Weekly*, 1 September.

Aiyar, Y., & Walton, M. (2014). Rights, accountability and citizenship: Examining India's emerging welfare state, Working Paper. New Delhi: Centre for Policy Research (available at: [www.accountabilityindia.in](http://www.accountabilityindia.in)).

Ambasta, P., Vijay Shankar, P. S., & Shah, M. (2008). Two years of NREGA: The road ahead. *Economic and Political Weekly*, 23 February.

American Council on Science and Health (2002). The role of eggs in the diet: Update. New York: ACSH.

Applegate, E. (2000). Introduction: Nutritional and functional roles of eggs in the diet. *Journal of the American College of Nutrition*, 19.

Asian Development Bank (2013). The Social Protection Index: Assessing results for Asia and the Pacific. Manila: Asian Development Bank.

Azam, M. (2011). The impact of indian job guarantee scheme on labor market outcomes: Evidence from a natural experiment, Discussion Paper 6548. Bonn: Institute for the Study of Labour.

Balasubramanian, P., & Sundari-Ravindran, T. K. (2012). Pro-poor maternity benefit schemes and rural women. *Economic and Political Weekly*, 23 June.

Bardhan, P. (2016). Basic income in a poor country. Available online ([http://www.ideasforindia.in/article.aspx?article\\_id=1694](http://www.ideasforindia.in/article.aspx?article_id=1694)).

Basu, A. M. (2012). More benefit than cost: For women, the NREGA would bring important social gains. *The Telegraph*, 27 March.

Berg, E., Bhattacharya, S., Durgam, R., & Ramachandra, M. (2012). Can rural public works affect agricultural wages? Evidence from India, Working Paper 2012-05. Centre for the Study of African Economics, University of Oxford.

Bhaskar, A., Gupta, S., & Yadav, P. (2016). Well worth the effort, value of MGNREGA Wells in Jharkhand. *Economic and Political Weekly*, 7 May.



- Bhattacharya, S., Jos, M. M., Mehta, S. K., & Murgai, R. (2015). From policy to practice: How should social pensions be scaled up?. *Economic and Political Weekly*, 4 April; reprinted in Dre`ze (2016).
- Bhuwania, A. (2016). *Courting the people: Public interest litigation in post emergency India*. Cambridge: Cambridge University Press.
- Carswell, G., & De Neve, G. (2010). Women at the crossroads: Implementation of employment guarantee scheme in rural Tamil Nadu. *Economic and Political Weekly*, 28 December.
- Carswell, G., & De Neve, G. (2014). MGNREGA in Tamil Nadu: A story of success and transformation?. *Journal of Agrarian Change*, 14.
- Centre for Equity Studies (2016). *Progress of Children Under Six: Revisiting ICDS in the FOCUS Districts*. New Delhi: Centre for Equity Studies
- Chakraborty, T., & Jayaraman, R. (2016). School feeding and learning achievement: Evidence from India's midday meal program, Discussion Paper 10086. Bonn: Institute for the Study of Labor.
- Chen, M. (Ed.) (1998). *Widows in India: Social neglect and public action*. New Delhi: Sage.
- Chen, M. (2000). *Perpetual mourning: Widowhood in Rural India*. New Delhi: Oxford University Press.
- Chen, M., & Dre`ze, J. (1995). Recent research on widows in India. *Economic and Political Weekly*, 30 September.
- Chopra, S., & Pudussery, J. (2014). Social security pensions in India: An assessment. *Economic and Political Weekly*, 10 May; reprinted in Dre`ze (2016).
- Citizen's Initiative for the Rights of Children Under Six (2006). *Focus on children under six*. New Delhi: Secretariat of the Right to Food Campaign.
- Corbridge, S., Harris, J., & Jeffrey, C. (2012). *India Today: Economy, politics and society*. Cambridge: Polity Press.
- Dasgupta, A. (2013). Can the major public works policy buffer negative shocks in early childhood? Evidence from Andhra Pradesh, India, Working Paper 112. Young Lives Project, Oxford University.
- Deininger, K., & Liu, Y. (2013). Welfare and poverty impacts of India's National rural employment guarantee scheme: Evidence from Andhra Pradesh, Discussion Paper 01289. Washington, DC: International Food Policy Research Institute.
- Desai, S. B., Dubey, A., Joshi, B. L., Sen, M., Shariff, A., & Vanneman, R. (2010). *Human development in India: Challenges for a society in transition*. New Delhi: Oxford University Press.
- Desai, S., Vashishtha, P., & Joshi, O. (2015). *Mahatma Gandhi National Rural Employment Guarantee Act: A catalyst for rural transformation*. New Delhi: National Council of Applied Economic Research.
- Deuss, A., & Narayanan, S. (2017). *Food subsidies in India: Revisiting the estimates*. Indira Gandhi Institute of Development Research, mimeo.
- Dhaktode, N. B. (2016). *Democratic accountability and empowerment of Dalits in India: The case of institutionalizing social audit in Telengana and Andhra Pradesh* M.Phil. dissertation. Mumbai: Tata Institute of Social Sciences.
- Dre`ze, J. (1990). Famine prevention in India. In J. Dre`ze, & A. K. Sen (Eds.), *The political economy of hunger*. Oxford: Oxford University Press.
- Dre`ze, J. (2004). Democracy and the right to food. *Economic and Political Weekly*, 24 April.

- Dre`ze, J. (2006). Universalization with Quality: ICDS in a rights perspective. *Economic and Political Weekly*, 26 August.
- Dre`ze, J. (2010a). Employment guarantee and the right to work. In N. G. Jayal, & P. B. Mehta (Eds.), *The Oxford companion to politics in India*. New Delhi: Oxford University Press.
- Dre`ze, J. (2010b). Poverty estimates vs food entitlements. *The Hindu*, 24 February.
- Dre`ze, J. (2014). Learning from NREGA. *The Hindu*, 23 August.
- Dre`ze, J. (2015). Small leap forward in child health. *The Hindu*, 16 September.
- Dre`ze, J. (2016). *Social policy: Essays from economic and political weekly*. New Delhi: Orient Black Swan.
- Dre`ze, J. P., & Goyal, A. (2003). The future of mid-day meals. *Economic and Political Weekly*, 1 November.
- Dre`ze, J. P., & Khera, R. (2009a). Mid-day meals in primary schools. In A. Kumar, & A. P. Singh (Eds.), *Elementary education in India: Issues and challenges*. New Delhi: Uppal.
- Dre`ze, J. P., & Khera, R. (2009b). The battle for employment guarantee. *Frontline*, 3 January; reprinted in Khera (2011a).
- Dre`ze, J. P., & Khera, R. (2010). The BPL census and a possible alternative. *Economic and Political Weekly*, 27 February.
- Dre`ze, J. P., & Khera, R. (2012). Regional patterns of human and child deprivation in India. *Economic and Political Weekly*, 29 September.
- Dre`ze, J. P., & Khera, R. (2013). Rural poverty and the public distribution system. *Economic and Political Weekly*, 16 November.
- Dre`ze, J. P., & Khera, R. (2015a). Understanding leakages in the public distribution system. *Economic and Political Weekly*, 14 February.
- Dre`ze, J.P. & Khera, R. (2015). Child development: Kerala Tops, Gujarat Flops, Bihar Hops. available at [www.ndtv.com](http://www.ndtv.com).
- Dre`ze, J. P., Khera, R., & Pudussery, J. (2015). Food security: Bihar on the move. *Economic and Political Weekly*, 22 August.
- Dre`ze, J. P., & Kingdon, G. G. (2001). School participation in Rural India. *Review of Development Economics*, 5.
- Dre`ze, J. P., & Sen, A. K. (2013). *An uncertain glory: India and its contradictions*. New Delhi: Penguin.
- Dre`ze, J.P., & Khera, R., with the PEEP team (2014) A PEEP at another India. Survey report, Indian Institute of Technology Delhi; partly published in *Outlook*, 24 March.
- Dre`ze, J.P., Gupta, P., Khera, R., & Pimenta, I. (2016). Food Security Act: How are India's Poorest States Faring? Available at [www.ideasforindia.in](http://www.ideasforindia.in).
- Dutta, P., Howes, S., & Murgai, R. (2010). Small but effective: India's targeted unconditional cash transfers. *Economic and Political Weekly*, 25 December.
- Dutta, P., Murgai, R., Ravallion, M., & van de Walle, D. (2012). Does India's Employment Guarantee Scheme Guarantee employment? *Economic and Political Weekly*, 21 April; reprinted in Dre`ze (2016).
- Dutta, P., Murgai, R., Ravallion, M., & van de Walle, D. (2014). *Right to work? Assessing India's Employment Guarantee Scheme in Bihar*. Washington, DC: World Bank.
- Garg, S. (2013). Twin Strategies for Food Security and Productive Inclusion: PDS Reforms in Chhattisgarh, India, *Poverty in Focus*, No. 25. Brasilia: International Policy Centre for Inclusive Growth.

- Government of India (various years). Union Budget: Budget at a Glance (New Delhi: Ministry of Finance). Available online: <http://indiabudget.nic.in/glance.asp>.
- Government of India (2009). The National Rural Employment Guarantee Act 2005 (NREGA), Annual Report April 2008 - March 2009. New Delhi: Ministry of Rural Development, Available online [http://nrega.nic.in/NREGA\\_eng\\_2008-09.pdf](http://nrega.nic.in/NREGA_eng_2008-09.pdf).
- Government of India (2012). MGNREGA Sameeksha: An Anthology of Research Studies on the Mahatma Gandhi National Rural Employment Guarantee Act, 2005. New Delhi: Orient Blackswan.
- Government of India (2017). Economic Survey 2016-17. New Delhi: Finance Ministry.
- Gragnotati, M., Bredenkamp, C., Das Gupta, M., Lee, Y., & Shekar, M. (2006). ICDS and persistent undernutrition. *Economic and Political Weekly*, 41(12), 25 March.
- Gupta, A. (2013). Old-age Pension Scheme in Jharkhand and Chhattisgarh. *Economic and Political Weekly*, 24 August.
- Harriss, J., Jeyaranjan, J., & Nagaraj, K. (2010). Land, labour and caste politics in Rural Tamil Nadu in the 20th century: Iruvelpattu (1916-2008). *Economic and Political Weekly*, 45(31), 47-61, 31 July.
- Hazarika, G., & Viren, V. (2013). The effects of early child developmental attendance on future school enrollment in rural North India. *Economics of Education Review*, 34.
- Himanshu & Sen, A. (2013). In-kind food transfers-I: Impact on poverty. *Economic and Political Weekly*, 16 November.
- Horton, T., & Gregory, J. (2010). Why solidarity matters: The political strategy of welfare design. *The Political Quarterly*, 81.
- Howes, S., & Jha, S. (1992). Urban Bias in the Indian Public Distribution System. *Economic and Political Weekly*, 27(9), 1022-1030, 9 May.
- Imbert, C. & Papp, J. (2011). Estimating leakages in India's employment guarantee, in Khera (2011a).
- Imbert, C., & Papp, J. (2015a). Estimating leakages in India's employment guarantee: An update, Working Paper. Research Institute for Compassionate Economics, Available at: [riceinstitute.org](http://riceinstitute.org).
- Imbert, C., & Papp, J. (2015b). Labor market effects of social programs: Evidence from India's employment guarantee. *American Economic Journal: Applied Economics*, 7(2), 233-263.
- Jain, M. (2015). India's struggle against malnutrition: Is the ICDS program the answer?. *World Development*, 67.
- Jayaraman, R., & Simroth, D. (2015). The impact of school lunches on primary school enrollment: Evidence from India's midday meal scheme. *Scandinavian Journal of Economics*, 117.
- Jenkins, R., & Manor, J. (2016). Politics and the right to work: India's Mahatma Gandhi National Rural Employment Guarantee Act. New Delhi: Orient Blackswan.
- Jeyaranjan, J. (2011). Women and pro-poor policies in rural Tamil Nadu: An examination of practices and responses. *Economic and Political Weekly*, 22 October.
- Jha, S., & Ramaswami, B. (1992). Urban bias in the Indian public distribution system. *Economic and Political Weekly*, 9 May.
- Joshi, A. (2010). Do rights work? Law, activism, and the employment guarantee scheme. *World Development*, 38.
- Joshi, V. (2016). India's long road: The search for prosperity. Oxford: Oxford University Press.

- Joshi, A., Patnaik, B., & Sinha, D. (2016). Credibility and portability? Lessons from CORE PDS reforms in Chhattisgarh. *Economic and Political Weekly*, 10 September.
- J-PAL (2016). Process monitoring of direct benefit transfer in the PDS. Second quarterly report submitted to the Food Department, Government of India.
- Judt, T. (2010). *Ill fares the land*. New York: Penguin.
- Kalra, A. (2016). Cash transfers: Lost in transactions. *The Tribune*, 27, January. <http://www.tribuneindia.com/news/comment/cash-transferslost-in-transactions/215949.html>.
- Kandpal, E. (2011). Beyond average treatment effects: Distribution of Child nutrition outcomes and program placement in India's ICDS. *World Development*, 39(8), 1410-1421.
- Kaul, T. (2013). Household responses to food subsidies: Evidence from India, Working Paper. College Park: University of Maryland.
- Kaushal, N. (2013). How public pension affects elderly labor supply and well-being: Evidence from India. *World Development*, 56.
- Kaushal, N., & Muchomba, F. (2013). How consumer price subsidies affect nutrition, Working paper 19404. National Bureau of Economic Research.
- Khera, R. (2006). Mid-day meals in primary schools: Achievements and challenges. *Economic and Political Weekly*, 18 November.
- Khera, R. (2008). Empowerment Guarantee Act. *Economic and Political Weekly*, 30 August.
- Khera, R. (Ed.) (2011a). *The Battle for Employment Guarantee*. New Delhi: Oxford University Press.
- Khera, R. (2011b). Trends in diversion of grain from the public distribution system. *Economic and Political Weekly*, 21 May.
- Khera, R. (2011c). Revival of the public distribution system: Evidence and explanations. *Economic and Political Weekly*, 5 November; reprinted in Dre`ze (2016).
- Khera, R. (2013). Mid-day meals: Looking ahead. *Economic and Political Weekly*, 10 August; reprinted in Dre`ze (2016).
- Khera, R. (2014). Cash vs. in-kind transfers: Indian data meets theory. *Food Policy*, 46.
- Khera, R. (2015). Children's development: Baby steps in Odisha. *Economic and Political Weekly*, 3 October.
- Khera, R., & Muthiah, K. (2010). Slow but steady success. *The Hindu*, 25 April.
- Khera, R., & Nayak, N. (2009). Women workers and their perceptions of National Rural Employment Guarantee Act. *Economic and Political Weekly*, 24 October; reprinted in Dre`ze (2016).
- Klonner, S., & Oldiges, C. (2014). Safety net for India's poor or waste of public funds? Poverty and welfare in the wake of the world's largest job guarantee program, Discussion Paper 564. Department of Economics, University of Heidelberg.
- Kochar, A. (2005). Can targeted food programmes improve nutrition? An empirical analysis of India's public distribution system. *Economic Development and Cultural Change*, 54.
- Kohli, A. (2012). *Poverty amid plenty in the new India*. Princeton: Princeton University Press.
- Krishnamurthy, P., Pathania, V. S., & Tandon, S. (2014). Public distribution system reforms and consumption in Chhattisgarh: a comparative empirical analysis. *Economic and Political Weekly*, 22 February.
- Krishnamurthy, P., Pathania, V. S., & Tandon, S. (2015). Food price subsidies and

- Nutrition: Evidence from State Reforms to India's Public Distribution System, UC Berkeley Public Law Research Paper No. 2345675. UC Berkeley.
- Mahendra Dev, S., & Ranade, A. (2001). Employment guarantee scheme and employment security. In S. Mahendra Dev, P. Antony, V. Gayathri, & R. P. Mamgain (Eds.), *Social and economic security in India*. New Delhi: Institute of Human Development.
- Marulasiddappa, M., Raonka, P., & Sabhikhi, I. (2014). Social security pensions for widows and the elderly. *Indian Journal of Human Development*, 8.
- Mittal, N. (2015). *Essays in the economics of health in India*. PhD thesis. Delhi School of Economics.
- Mookherjee, D. (2014). MNREGA: Populist Leaky bucket or successful anti-poverty programme? available at [ideasforindia.in](http://ideasforindia.in).
- Muralidharan, K., Niehaus, P., & Sukhtantar, S. (2016). General Equilibrium effects of (improving) public employment programs: Experimental evidence from India. Department of Economics, University of California, San Diego.
- Nandi, A. & Laxminarayan, R. (2016). Can Early Childhood Nutrition Improve Adult Educational Attainment in India? Evidence from the ICDS Program. SSRN Working Paper (available at [papers.ssrn.com](http://papers.ssrn.com)).
- Nandi, A., Ashok, A., Kinra, S., Behrman, J. R., & Laxminarayan, R. (2016). Early childhood nutrition is positively associated with adolescent educational outcomes: Evidence from the Andhra Pradesh Child and Parents Study (APCAPS). *Journal of Nutrition*, 146, 1-8.
- Narayan, S. (2016). Towards equality in healthcare: Trends over two decades. *Economic and Political Weekly*, 19 March.
- Narayanan, S. (2008). Employment guarantee, women's work and childcare. *Economic and Political Weekly*, 1 March.
- Narayanan, S. (2011). A case for reframing the cash transfer debate in India. *Economic and Political Weekly*, 21 May; reprinted in Dre`ze (2016).
- Narayanan, S., & Gerber, N. (2016). Social Safety Nets for Food and Nutritional Security in India. ZEF Working Paper 146. Centre for Development Research, University of Bonn.
- Narayanan, S., & Das, U. (2014). Women participation and rationing in the employment guarantee scheme. *Economic and Political Weekly*, 15 November.
- National Commission for Enterprises in the Unorganised Sector (2006), *Social Security for Unorganised Workers*, report to the Prime Minister; available online ([http://nceuis.nic.in/nceus\\_earlier\\_reports.htm](http://nceuis.nic.in/nceus_earlier_reports.htm)).
- Nayak, R., Saxena, N. C., & Farrington, J. (2002). *Reaching the poor*, Working Paper 175. London: Overseas Development Institute.
- Nehra, S. (2016). Ration to cash, a harsh transition. *India Together*, <http://indiatogether.org/ration-to-cash-a-harsh-transition-poverty>.
- Pattenden, J. (2015). Class and Social policy: The national rural employment guarantee scheme in Karnataka, India. *Journal of Agrarian Change*, online preview, 20 August.
- Puri, R. (2012). Reforming the public distribution system: Lessons from Chhattisgarh. *Economic and Political Weekly*, 4 February.
- Rahman, A. (2014). Revival of the Public Distribution System: Expansion and Outreach. *Economic and Political Weekly*, 17 May
- Ram, F., Mohanty, S. K., & Ram, U. (2009). Understanding the distribution of BPL cards: All India and selected states. *Economic and Political Weekly*, 14 February.
- Ramachandran, V., & Naorem, T. (2013). What it means to be a dalit or tribal child in our schools. *Economic and Political Weekly*, 2 November; reprinted in Dre`ze (2016).

- Ranaware, K., Das, U., Kulkarni, A., & Narayanan, S. (2015). MGNREGA works and their impacts: A study of Maharashtra. *Economic and Political Weekly*, 28 March; reprinted in *Dre`ze* (2016).
- Ravi, S., & Engler, M. (2015). Workfare as an effective way to fight poverty: The case of India's NREGS. *World Development*, 67.
- Rodriguez, V. (Ed.) (2002). *The Essential Writings of B. R. Ambedkar*. New Delhi: Oxford University Press.
- Roy, I. (2014). Reserve labor, unreserved politics: Dignified encroachments under India's National Rural Employment Guarantee Act. *Journal of Peasant Studies*, 41.
- Roy, I. (2015). *Class politics and social protection: The implementation of India's MGNREGA*, Working Paper 46. Effective States and Inclusive Development Research Centre, University of Manchester.
- Singh, P. (2016). *How solidarity works for welfare: Subnationalism and social development in India*. Cambridge: Cambridge University Press.
- Singh, A., Park, A., & Dercon, S. (2014). School meals as a safety net: An evaluation of the midday meal scheme in India. *Economic Development and Cultural Change*, 62.
- Sinha, D. (2015). Maternal and child health: Inching ahead, miles to go. *Economic and Political Weekly*, 5 December.
- Srivastava, N., & Srivastava, R. (2010). Women, work and employment outcomes in rural India. *Economic and Political Weekly*, 10 July.
- Subbarao, K., del Ninno, C., Andrews, C., & Rodriguez-Alas, C. (2013). *Public Works as a Safety Net*. Washington, DC: World Bank.
- Tarozzi, A. (2005). The Indian public distribution system as provider of food security: Evidence from child anthropometry in Andhra Pradesh. *European Economic Review*, 62.
- Thorat, S., & Lee, J. (2005). Caste discrimination and food security programmes. *Economic and Political Weekly*, 24 September; reprinted in *Dre`ze* (2016).
- Tillin, L., Deshpande, R., & Kailash, K. K. (Eds.) (2015a). *Politics of welfare: Comparisons across Indian states*. New Delhi: Oxford University Press.
- Tillin, L., Saxena, A., & Sisodia, Y. S. (2015b). Comparing the Politics of Food Subsidies in Chhattisgarh and Madhya Pradesh, in Tillin et al. (2015).
- Titmuss, R. (1967). Universal and selective social services. *New Statesman*, 15 September.
- Yanyan Liu & Barrett, C. (2013). Heterogeneous pro-poor targeting in the National Rural Employment Guarantee Scheme. *Economic and Political Weekly*, 9 March; reprinted in *Dre`ze* (2016).

# सामाजिक सुरक्षा योजनाएँ और राज्य व जनता की रस्साकशी

*विनीत तिवारी*

आमतौर पर किसी पूँजीवादी सरकार द्वारा सामाजिक सुरक्षा की योजनाएँ बनाने के पीछे मुख्यतः दो कारण होते हैं। एक तो यह कि उसे अपना सिस्टम चलाने के लिए जरूरी श्रम को जिंदा रखना होता है और दूसरा कारण यह कि उसे अपनी गैरबराबरी वाली नीतियों की वजह से अपने खिलाफ इकट्ठे होते असंतोष के ताप पर छींटे मारकर विस्फोटक होने के पहले उबाल को दबाना होता है। 'कल्याणकारी राज्य' – इस शब्द युग्म की शुरुआत ही दूसरे विश्व युद्ध के बाद उन परिस्थितियों में हुई थी जब बेरोजगारी बेतहाशा बढ़ गई थी और लोगों की खरीदी की ताकत बिल्कुल खत्म हो गई थी। दुकानों में सामान भरा हुआ था लेकिन लोगों की जेब में खरीदने के लिए पैसे नहीं थे। ऐसे में ब्रिटिश अर्थशास्त्री जॉन मेनार कीन्स ने ये हल निकाला था कि राज्य अपनी तरफ से रोजगार पैदा करे और लोगों की जेब में पैसे पहुँचें ताकि वे बाजार की रुकी हुई गाड़ी आगे बढ़ा सकें। बाजार का तर्क मुनाफे पर केन्द्रित रहता है और वह अपने तात्कालिक मुनाफे को बढ़ाने की खातिर कभी यह नहीं चाहता कि उसे वंचित समुदायों को जीवित रखने या उनकी जिंदगी को बेहतर बनाने के लिए कुछ भी कभी खर्च करना पड़े। ऐसी स्थिति में संतुलन बनाने के लिए राज्य को हस्तक्षेप करना होता है और वह देश के सकल घरेलू उत्पाद का एक हिस्सा कमजोर तबकों को सामाजिक सुरक्षा देने के लिए निश्चित करता है। अगर सरकार का चरित्र गरीबों के प्रति सहानुभूति का हुआ तो थोड़ा हिस्सा इन सामाजिक सुरक्षा योजनाओं के लिए निकाला जा सकता है, वरना उसमें और कटौती की जा सकती है।

वर्ष 1991 में भारत में उदारीकरण और भूमंडलीकरण की नीतियों को अपनाने के साथ ही देशी और अंतरराष्ट्रीय बाजार में यह स्वर तीव्रता से उठने लगे थे कि बाजार के काम में सरकार को हस्तक्षेप कम करना चाहिए। इसका सीधा आशय यह था कि व्यापार में मुनाफा कमाने के लिए कंपनियों को खुला हाथ दिया जाए। मतलब यह कि कंपनियों पर मजदूरों की सुरक्षा वाले कानून न लादे जाएँ। उन्हें ठेका मजदूर रखने की ज्यादा आजादी मिले जिससे उत्पादन से होने वाले मुनाफे में मजदूर का हिस्सा छोटा और मालिकों का हिस्सा बड़ा होता जाए। तब से अब तक संगठित क्षेत्र में स्थायी मजदूरों की संख्या में बेहद कमी आ चुकी है। उद्योग – व्यापार स्थायी मजदूरों की जगह ठेका मजदूरों को प्राथमिकता देते हैं ताकि उन्हें कभी भी निकाला जा सके और अधिक सुविधाएँ न देनी पड़ें। स्थितियाँ पहले भी कोई बहुत अच्छी नहीं थीं लेकिन उदारीकरण, निजीकरण की नीतियाँ अपनाने से सरकार द्वारा समाज के कमजोर तबकों को दी जाने वाली सामाजिक सुरक्षा सुविधाओं में लगातार कटौती की जाती रही है।

भारत जैसे देश में जहाँ बड़ी तादाद में गरीबी है और भयंकर असमानता है, सत्ता पाने के लिए भी ऐसी लोकप्रिय लोकलुभावन योजनाएँ घोषित की जाती रहती हैं। एक बार सत्ता



हासिल हो जाए तो अनेक दफा घोषणाएँ सिर्फ घोषणाएँ भी बनी रहती हैं।

खस्ताहाल और कर्ज में डूबी अर्थव्यवस्था में देश के नीति-नियंता आमतौर पर यह सोचते भी नहीं हैं कि कल्याणकारी या सामाजिक सुरक्षा योजनाओं पर खर्च बढ़ाया जाए लेकिन अनेक दफा यह मजबूरी राजनीतिक प्रतिपक्ष खड़ी कर देती है कि उसकी राजनीतिक चुनौती को काटने के लिए और जनमत अपने पक्ष में करने के लिए अर्थव्यवस्था के मामले में ऐसा खतरा उठा लिया जाता है।

## मनरेगा की पृष्ठभूमि

जब सामने शाइनिंग इंडिया की चकाचौंध के पीछे गुजरात की नरसंहार मार्का राजनीति की चुनौती थी और जातीय और सांप्रदायिक आधारों पर वोटों का धुवीकरण बहुत बढ़ चुका था और लोग दरअसल बेरोजगारी से, महंगाई से और जीवन की दुनियावी कठिनाइयों से जूझ रहे थे तब काम को एक हक की तरह लोगों तक पहुँचाने की योजना तैयार हुई। जमीनी स्तर पर सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनकारी इस तरह की योजना और उसके जरिये ग्रामीण इंफ्रास्ट्रक्चर को तैयार करने का और इस बहाने आत्महत्या करते किसानों या मौत से बदतर जीवन जीते गरीब ग्रामीणों के हाथ में सम्मान से काम पाने और आमदनी पहुँचाने का वृहत्तर खाका बना रहे थे। वर्ष 2004 में यूपीए या संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन या संप्रग की सरकार बनने के बाद रोजगार गारंटी की योजना पर अमल होना एक बड़ा अहम कदम था। हालांकि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के तहत निजीकरण और उदारीकरण के पैरोकार रहे संप्रग नेतृत्व को यह योजना अव्यावहारिक और अर्थव्यवस्था के लिए घातक लगती थी लेकिन जन-अर्थशास्त्रियों और जनांदोलनकारियों ने इसका महत्त्व तत्कालीन सरकार को समझाकर इसे रोजगार गारंटी कानून में बदलने में कामयाबी पायी जिसे महात्मा गाँधी के नाम पर महात्मा गाँधी रोजगार गारंटी कानून या मनरेगा कहा गया। भारत सरकार इसे दुनिया का सबसे बड़ा कल्याणकारी कार्यक्रम कहती है।

वर्ष 2006 से मनरेगा लागू हुआ और शुरू में 200 ग्रामीण जिलों में लागू करने के बाद कुछ ही वर्षों में इसे भारत के सभी ग्रामीण जिलों में लागू कर दिया गया। इसके तहत 100 दिन का रोजगार देने की सरकार की गारंटी होती है लेकिन अनेक अध्ययनों के जरिये अधिकतर मामलों में लाभार्थियों को 100 दिन का रोजगार न मिल सकने की हकीकत सामने आती है। तमाम भ्रष्टाचार और अव्यावहारिक परियोजनाएँ इसके तहत किये जाने की अनेक आलोचनाएँ हैं और उनके आधार पर इसे लगातार सुधारने की कोशिशें भी की जाती रही हैं। लेकिन इस लेख के जरिये हम यह समझने की कोशिश करेंगे कि सामाजिक सुरक्षा और कल्याणकारी योजनाओं को किस तरह प्रगतिशील और कल्पनाशील तरह से इस्तेमाल किया जा सकता है और केरल में यह किस तरह किया गया।

## केरल में मनरेगा

केरल के सभी 14 जिलों में मनरेगा वर्ष 2008 में लागू किया गया था। वर्ष 2010 में हम सीमांत किसानों पर आठ राज्यों के अध्ययन के सिलसिले में केरल में थे और हमें मनरेगा को जानने वाले लोग बहुत ही कम मिले थे। आने वाले करीब 3-4 वर्षों तक केरल

में मनरेगा का नाम ग्रामीण इलाकों में इक्का-दुक्का लोग ही जानते थे। दरअसल केरल में बाजार भाव से ही मजदूरी की दर 300 से 400 रुपये तक थी। ऐसे में मनरेगा की तरफ से सिर्फ 100 रुपये के करीब का दैनिक वेतन लेकर मजदूरी करने कौन भला जाता।

लेकिन जब हम केरल के महिला किसानों द्वारा की जाने वाली साझा खेती पर अध्ययन के सिलसिले में वर्ष 2013 में दोबारा केरल के गाँवों में थे तो मनरेगा की लोकप्रियता हमारे सामने आश्चर्य की तरह आई। पता चला कि केरल में गरीबी उन्मूलन के लिए बनाये गए कुडुम्बश्री मिशन को मनरेगा के क्रियान्वयन की नोडल एजेंसी बनाया गया था। कुडुम्बश्री मिशन राज्य सरकार द्वारा इस विचार के साथ उठाया गया कदम था कि अगर परिवार (कुडुम्ब) की महिला सशक्त होती है तो पूरा परिवार सशक्त होता है। इस विचार के साथ हर परिवार से एक महिला को कुडुम्बश्री मिशन का सदस्य बनाया गया और पड़ोस में रहने वाली महिलाओं के समूह बनाये गए। ये समूह सिर्फ स्वयं सहायता समूहों की तरह पैसे ही इकट्ठे करने का काम नहीं करते बल्कि अनेक तरह की उत्पादक गतिविधियों के साथ जुड़े होते हैं। जैसे गृह उद्योग या कुटीर उद्योग से लेकर सामूहिक तौर पर जमीन लीज पर लेकर खेती करने तक की गतिविधियों में यह संलग्न होते हैं। इस तरह कुडुम्बश्री मिशन के तहत 40 लाख से अधिक महिलाओं को उत्पादक गतिविधियों में जोड़ दिया गया है। इससे न केवल परिवारों की आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ है बल्कि उन्हें स्वयं काम करने और समूह में काम करने से नये आत्मविश्वास से भी भरा है। मनरेगा की भूमिका इसमें यह है कि सामूहिक खेती के काम में संलग्न करीब 2 लाख महिलाओं को अपनी ही जमीन पर या लीज पर ली हुई जमीन पर काम करने के लिए, खेती के लिए जमीन तैयार करने, सफाई जुताई और कुछ अन्य गतिविधियों के मनरेगा के प्रावधान के तहत भुगतान किया जाता है। इससे एक तो महिलाओं को किसी दूसरे मालिक के तहत मजदूरी करने का अहसास नहीं होता और दूसरे अपने समूह की सदस्याओं के काम और भुगतान का हिसाब भी महिलाएँ स्वयं रखती हैं। यह जानकर आश्चर्य होगा कि इन महिलाओं ने सामूहिक श्रम से एक लाख एकड़ से ज्यादा ऐसी जमीन को वापस खेती योग्य बना दिया है जो या तो बंजर हो चुकी थी या जिस पर अरसे से खेती करना बंद हो चुका था।

## **मनरेगा के अलावा भी हैं उनके बहुत काम**

यह तो मनरेगा की बात हुई लेकिन कुडुम्बश्री मिशन के काम सिर्फ यहीं नहीं रुकते। ये महिलाएँ समूहों में ग्रामीण होटल चला रही हैं, ऑटो और टैक्सी चला रही हैं, कुडुम्बश्री हाट – बाजार लगाकर अपने उत्पादों का स्थानीय बाजार तैयार कर रही हैं और उद्यमी होने के साथ ही मानवीयता की अन्य मिसालें कायम कर रही हैं। केरल में हाल के वर्षों में बाढ़ से हुई भारी तबाही में कुडुम्बश्री की महिलाओं ने जरूरतमंदों की मदद अपनी जान जोखिम में डालकर की। बाढ़ पीड़ितों के लिए गाँव-गाँव से सहायता सामग्री इकट्ठी की। यह तो आकस्मिक आपदा के वक्त किया गया उनका सराहनीय काम था लेकिन नियमित गतिविधियों के तौर पर कुडुम्बश्री मिशन से जुड़ी यह महिलाएँ गाँव में रहने वाले निराश्रित बुजुर्गों की देखभाल करती हैं और नवजात बच्चों के लिए पौष्टिक आहार तैयार करती हैं।

## मुश्किलें तो होंगी लेकिन मुश्किलों को पार भी किया जाएगा

किसी भी अन्य योजना की तरह मनरेगा और कुडुम्बश्री के रास्ते में भी अनेक व्यावहारिक समस्याएँ आई हैं और आएँगी किन्तु केरल ने सिखाया है कि जनपक्षधर राजनीतिक इच्छाशक्ति और सामूहिकता की ताकत से हर चुनौती का सामना किया जा सकता है ।

यही पूँजीवादी लोकतंत्र में संघर्ष भी है कि पूँजीवादी तंत्र लोगों को उनके श्रम का कम से कम प्रतिफल देना चाहता है किंतु जनपक्षधर ताकतें जनदबाव से बनी कल्याणकारी योजनाओं को कैसे लोगों के हक में, उनकी ताकत बढ़ाने के लिए इस्तेमाल करती है।

# भारत में न्यायपूर्ण सामाजिक सुरक्षा कानून की आकांक्षा

बाबू मैथ्यू और काव्या भारदकर

यह लेख श्रम न्याय शास्त्र में गहन आलोड़न के दौर में लिखा जा रहा है। मौजूदा सरकार भारत में 'संघटित', 'सरलीकृत' और 'तर्कसंगत' श्रम कानून बनाने की प्रक्रिया में है — ऐसा अभ्यास जो विशेष रूप से श्रम न्यायविदों, वकीलों और श्रमिकों द्वारा करीब से ध्यान देने योग्य है। ये सुधार कानूनी संघटन के लम्बे समय से रही मांग के जवाब में हैं — परन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि जिस रिपोर्ट ने इन सुधारों को प्रेरित किया है, उसी ने भूमंडलीकृत बाजारों की मांगों से फायदा उठाने के लिए "रखना-निकालना" (हायर-एंड-फायर) जैसी बाजार अनुकूल नीतियों का पक्ष लिया (एनसीएल रिपोर्ट, 2002)। मौजूदा सुधार आर्थिक मंदी के पृष्ठभूमि में लाए जा रहे हैं और कहा जा रहा है कि आर्थिक विकास के लिए उद्योगपतियों एवं कॉरपोरेशनों को बहुत सारी रियायतें देने की जरूरत है, जैसे कॉर्पोरेट टैक्स में माफी तथा दूसरे आर्थिक प्रलोभन। इसलिए, कानूनी संघटन की भावना का स्वागत करते हुए भी, इन सुधारों के अन्तर्निहित तत्वों को हमें नज़रअंदाज़ नहीं करना चाहिए, नहीं तो वे रोजगार के लचीलेकरण और श्रमिकों को उनके अधिकारों से वंचित करने का ज़रिया बन जाएंगे।

## संवैधानिक दृष्टि से सामाजिक सुरक्षा

सामाजिक सुरक्षा का अर्थ व्यक्तियों और परिवारों को आर्थिक अस्थिरता अथवा झटकों से बचाने के लिए अलग-अलग रूप में भौतिक सुविधा प्रदान करना है। सामाजिक सुरक्षा के सवाल को, शुरुआत में ही, 'अधिकार-आधारित फ्रेमवर्क' के तहत समझने की जरूरत है। सामाजिक सुरक्षा कोई विशेषाधिकार नहीं है जो किसी दयालु सरकार द्वारा देश में रहने वालों को दिया जाता है, बल्कि वह सार्वभौमिक मानवाधिकार की व्यवस्था में ही पूरी तरह से निहित है। पूरी दुनिया में मानवाधिकारों के दस्तावेजों में इसे इसी तरह से देखा गया है, जैसे — मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा (1948), आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों की कन्वेंशन (1966), महिलाओं के प्रति हर प्रकार के भेदभाव के उन्मूलन संबंधी कन्वेंशन (1979), बाल अधिकार कन्वेंशन (1989) इत्यादि। ये सभी मानव अधिकार संबंधी तंत्र सामाजिक सुरक्षा को सम्मानजनक मानवीय अस्तित्व के लिए अत्यावश्यक मानते हैं यहां तक कि सीईएससीआर (आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार समिति) सामाजिक सुरक्षा को अन्य सभी प्रकार के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक अधिकारों को पाने के लिए अत्यावश्यक मानता है (जनरल कमेंट 19, 2008)।

भारतीय संविधान इस समझ को पूरी तरह से स्वीकारता है। 'राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों' (डीपीएसपी) में सामाजिक सुरक्षा पर विस्तृत चर्चा की गयी है। डीपीएसपी की उत्पत्ति कल्याणकारी राज्य बनने के प्रति देश की संवैधानिक प्रतिबद्धता से हुई। हालांकि नागरिक उन्हें अधिकार के रूप में लागू होने की मांग का दावा नहीं कर सकते, फिर भी

सर्वोच्च न्यायालय ने राजकीय नीतियों की व्याख्या के लिए उनको आधार बनाया है, जबकि मौलिक अधिकारों को राजकीय सत्ता की सीमा के रूप में देखा गया है। राज्य को उसकी कल्याणकारी प्रतिबद्धता पूर्ण करने की हिदायतों के रूप में राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों (डीपीएसपी) को समझा गया है।

भारतीय राज्य को ऐसी सामाजिक व्यवस्था तैयार करने के प्रति कानूनी रूप से बाध्य किया गया है जो सामाजिक स्थिति, सुविधाओं, अवसरों, क्षेत्र और रोजगार पर आधारित असमानताओं को मिटाते हुए सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय सुनिश्चित करेगी (धारा 38)। कल्याणकारी राज्य की अवधारणा में समान काम के लिए समान वेतन, आर्थिक संसाधनों के पुनर्वितरण, मजदूरों और उनके परिवारों के स्वास्थ्य और कल्याण के संरक्षण और सभी बच्चों, विशेषकर गरीब परिवारों से आने वालों के लिए शिक्षा और सामान्य विकास के अवसर सुनिश्चित करने के सिद्धांत शामिल हैं (धारा 39)। संविधान की धारा 41 सामाजिक सुरक्षा की व्यापक धारणा को व्याख्यायित करती है—यह राज्य को दायित्व देती है कि उसके सभी नागरिकों को शिक्षा और आजीविका का अधिकार हो, साथ ही राज्य को उस समय सार्वजनिक सहायता प्रदान करने का दायित्व देती है जब नागरिक अपने आप को (चाहे विकलांगता, वृद्धावस्था, बीमारी या मातृत्व के कारण) वित्तीय रूप में सक्षम नहीं पाते हैं। धारा 42 के अंतर्गत मातृत्व सहायता और काम की न्यायपूर्ण अवस्थाएं प्रदान करना राजकीय दायित्व के रूप में उद्घृत है। भारतीय राज्यव्यवस्था राष्ट्रीय और प्रांतीय—स्तर के कानूनों और उनमें निहित योजनाओं द्वारा राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों को समय-समय पर कार्यान्वित करती रही है।

### वर्तमान वैधानिक व्यवस्था के तहत सामाजिक सुरक्षा

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन या आईएलओ सामाजिक सुरक्षा की नौ प्रकार की शाखाओं को मानता है (कन्वेंशन 102, 1952)। इनमें से दो बीमारी से संबंधित हैं — 'चिकित्सा सुविधा' जो लोगों को निवारक और उपचारात्मक चिकित्सा सुविधा (प्राथमिक व विशेष देखभाल) पाने में सक्षम बनाती है ताकि वे अपना स्वास्थ्य बनाएं रखें और स्वास्थ्य में सुधार करें; और कमानेवाले को उस समय दिये जाने वाला 'बीमारी भत्ता' — जब वे बीमारी के कारण काम नहीं कर पाते — ताकि वे गरीबी में डूबने से अपने परिवारों को बचा सकें। इसी तरह, 'रोजगार क्षति सुविधा' काम के दौरान हुई क्षतियों अथवा बीमारी के इलाज सुनिश्चित करने के लिए और मजूरी के नुकसान की भरपाई के लिए है। शारीरिक क्षति की वजह से आंशिक अथवा पूर्ण विकलांगता की स्थिति में अल्पकालिक अथवा हमेशा के लिए मिलने वाला 'विकलांगता लाभ' मजदूर और उसके परिवार को गरीबी से बचाता है।

'बेरोजगारी लाभ' भी बेरोजगारी की लम्बी अवधियों के दौरान इसी वजह से दिया जाता है। यदि मजदूर की मृत्यु हो जाए, तो परिवार को 'उत्तरजीवी लाभ' मिलता है। कमानेवाले महिला मजदूर अगर गर्भावस्था के कारण न काम कर पाएं तो परिवार के संरक्षण के लिए भी सामाजिक सुरक्षा उपलब्ध है। 'मातृत्व लाभ' गर्भावस्था के दौरान और तत्पश्चात सवेतन

अवकाश और स्वास्थ्य देखभाल प्रदान करके श्रम-बल में महिला भागीदारी सुरक्षित करता है। "पारिवारिक लाभ" कामगार के पारिवारिक सदस्यों के लिए सुरक्षाओं की एक श्रृंखला प्रदान करता है, जिसमें उनके बच्चों की शिक्षा और स्वास्थ्य खर्च के लिए धनराशि शामिल है। अंत में, "वृद्धावस्था लाभ" समाज के वृद्ध सदस्यों के लिए उचित जीवन स्तर बनाये रखने के लिए और सेवा-निवृत्ति के पश्चात् की प्राथमिक जरूरतों को पूरा करने के लिए है।

अब यह जांचना आवश्यक है कि किस हद तक भारत की कानून व्यवस्था आईएलओ द्वारा समर्थित विस्तार से मेल खाती है। हम आठ प्राथमिक कानूनों की व्याख्या करेंगे जिन्हें सामाजिक सुरक्षा कोड में शामिल किया जा रहा है। नीचे हम सुविधा के लिए इन कानूनों के तत्वों को संक्षेप में रखेंगे।

भविष्य निधि अधिनियम (प्रोविडेंट फण्ड एक्ट) नियोक्ता और कामगार के अनिवार्य योगदान द्वारा बचत की अंशदायी (कंट्रीब्यूटरी) व्यवस्था तैयार करता है (इसमें नियोक्ता और कामगार दोनों को मासिक वेतन का 12 प्रतिशत देना होता है)। कामगार से ली गई सम्पूर्ण राशि प्रोविडेंट फण्ड के लिए जाती है (जिसे वो सेवा-निवृत्ति से पहले खास स्थितियों में आंशिक तौर पर और उसके बाद पूरी तरह निकाल सकता है)। नियोक्ता के योगदान का 8.33 प्रतिशत पेंशन योजना में जाता है, 3.67 प्रतिशत इम्प्लाइज डिपॉजिट लिंकड इंश्योरेंस स्कीम में जाता है (इसके तहत निवृत्ति से पहले अगर कामगार की मृत्यु हो जाती है तो उसके कानूनी वारिस को एकमुश्त राशि मिलती है)। कामगार राज्य बीमा (ईएसआई) अधिनियम और ईएसआई योजना एक और अंशदायी व्यवस्था है जो मजदूर और उसके परिवार को बीमारी, रोजगार क्षति, मातृत्व अथवा मृत्यु की स्थिति में कई प्रकार के लाभ देती है। ईएसआई कारपोरेशन स्वतन्त्र रूप से अथवा राज्य सरकारों के साथ मिलकर मजदूरों और उनके परिवारों को स्वास्थ्य सेवा प्रदान करने के लिए अस्पतालों को भी चलाती है। कारपोरेशन को अनिवार्य योगदान दिया जाता है (जो कि मासिक वेतन का 4 प्रतिशत होता है, जिसमें मजदूर का योगदान 0.75 प्रतिशत, और नियोक्ता का 3.25 प्रतिशत होता है)।

ग्रैच्युटी अधिनियम कामगार को पाँच साल से अधिक के प्रतिबद्ध कार्य के लिए उपदान देता है। यह सभी कामगार को सेवा की इस अवधि के पूरा हो जाने के बाद नियोक्ता के खर्च पर आर्थिक प्रोत्साहन हासिल करने का अधिकार देता है। मातृत्व लाभ अधिनियम प्रसूति महिला के लिए 26 हफ्ते के सवेतन अवकाश और रोजगार का संरक्षण प्रदान करता है। साथ ही मजदूरों के कुछ स्वास्थ्य लाभ, पोषण के लिए विराम, गर्भावरस्था, गर्भपात अथवा नसबंदी की वजह से बीमारी के लिए स्वास्थ्य छुट्टी भी प्रदान करता है। कामगार क्षतिपूर्ति अधिनियम (एम्प्लाइज कंपनसेशन एक्ट) मजदूरों को रोजगार क्षति, काम के कारण बीमारी अथवा मृत्यु की स्थिति में आर्थिक मुआवजा प्रदान करता है। इस अधिनियम के तहत सरकार आंशिक, लघुकालिक, पूर्ण एवं स्थायी विकलांगता के लिए मुआवजा की विभिन्न दर तय करती है। अधिनियम मृत मजदूर के कानूनी वारिसों के लिए शोक-मुआवजा की सुविधा भी देती है।

भवन और अन्य निर्माण कामगार (नियोजन तथा सेवा-शर्त विनियमन) अधिनियम, 1996 तथा भवन और अन्य निर्माण कामगार कल्याण उपकर अधिनियम, 1996 के तहत वर्तमान में बिल्डिंग और निर्माण मजदूरों के लिए कई प्रकार की सामाजिक सुरक्षा सुविधाएं उपलब्ध हैं। पहले कानून के तहत एक बोर्ड का निर्माण होता है जिसपर इन योजनाओं के प्रशासन का दायित्व है, जबकि दूसरा कानून बोर्ड के लिए नियोक्ताओं पर उपकर लगाकर निधि उपलब्ध करता है। दोनों अधिनियम के अब भंग होने का खतरा है – पहले अधिनियम को पेशेवर सुरक्षा, स्वास्थ्य और श्रम स्थिति कोड, 2019 द्वारा, जबकि उपकर अधिनियम को सामाजिक सुरक्षा कोड द्वारा खारिज किया जाएगा।

असंगठित कामगार सामाजिक सुरक्षा अधिनियम, 2008 केन्द्रीय और राज्य सरकारों को असंगठित क्षेत्र के कामगारों के लिए योजनाएं बनाने का अधिकार देता है। इस कानून के तहत लाभार्थियों को स्व-सत्यापन द्वारा पहचाना जाता है। ये कानून उन सभी घरेलू, स्व-रोजगार में कर्मरत, और उजरती मजदूर पर लागू है जो अन्य सामाजिक सुरक्षा कानूनों के अंतर्गत नहीं आते। इस अधिनियम के तहत कई योजनाएं आई जैसे – इंदिरा गांधी राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेंशन योजना, राष्ट्रीय पारिवारिक लाभ योजना, जननी सुरक्षा योजना, महात्मा गांधी बुनकर बीमा योजना, राष्ट्रीय मछुआरा कल्याण, प्रशिक्षण और विस्तार योजना, आम आदमी बीमा योजना, राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना, अटल पेंशन योजना इत्यादि। ये पूर्ण रूप से अथवा आंशिक रूप से केन्द्रीय और राज्य सरकारों द्वारा वित्त पोषित हो सकती हैं। अंत में, सिनेमा कामगार कल्याण निधि अधिनियम, 1981 पीएफ और ईएसआई की योजनाओं को सिनेमा कामगारों तक पहुँचाता है, विवाद समाधान के लिए सुलहकार अफसर नियुक्त करता है और बिना लिखित अनुबंध वाले रोजगार पर पाबन्दी लगता है।

### **सामाजिक सुरक्षा कोड पर टिप्पणियाँ: ड्राफ्ट 3.0 (2019)**

सितम्बर 2019 में श्रम मंत्रालय द्वारा टिप्पणियों के लिए प्रकाशित ड्राफ्ट फिलहाल तक का आखिरी सार्वजनिक संस्करण है। बिल का 2018 में प्रकाशित दूसरा ड्राफ्ट सार्वभौमिकता की आत्मा को समाहित करता प्रतीत होता था – परन्तु ड्राफ्ट 3.0 फिर से असंगठित और संगठित क्षेत्रों के लिए विभेदात्मक सामाजिक सुरक्षा तंत्र के विद्यमान ढाँचे को अपनाता है। रिपोर्टों के अनुसार, प्रधानमंत्री के आफिस ने ड्राफ्ट 3.0 में सार्वभौमिकता के सवाल पर आपत्ति जाहिर की और श्रम मंत्रालय को बिल फिर से तैयार करने का सुझाव दिया (2)। ऐसा प्रतीत होता है कि कानून-निर्माताओं के बीच नीति बदलाव को लेकर झिझक और असहमति है, खास तौर पर ऐसा बदलाव जो अधिक बजटीय प्रतिबद्धता की मांग कर सकता है। हालांकि अखबार रिपोर्ट कहती है कि कैबिनेट द्वारा 4 दिसंबर को सामाजिक सुरक्षा कोड बिल को सहमति दे दी गई है, इस लेख के लिखने के वक्त तक बिल का पाठ सार्वजनिक नहीं किया गया है। यह देखना बाकी है कि जो बिल संसद में लाया जाएगा, वो तीसरे संस्करण के मुताबिक होगा या कोई नया संस्करण होगा। अतः निम्न टिप्पणियाँ संस्करण 3.0 पर ही हैं।

इस ड्राफ्ट की एक आम आलोचना यह है कि यह बिल बिना सोचे-समझे केवल पुराने



कानूनों की प्रतिलिपि प्रस्तुत करता है। विद्यमान अधिनियमों के प्रावधानों का प्रस्तावित ड्राफ्ट के साथ मिलान करने पर यह आक्षेप सही ही लगता है। गिग और प्लेटफार्म मजदूर जैसी कुछ नई मजदूर श्रेणियों की पहचान लाभार्थियों के रूप में की गई है जो कि ड्राफ्ट में जोड़ी गई एक उल्लेखनीय चीज जरूर है। इस क्षेत्र में कर्म-परिस्थिति की ऐसी कई विशिष्टताएं हैं जो गिग और प्लेटफार्म मजदूरों को अत्यंत कमजोर बनाती हैं। पहला, ऐसे ज्यादातर कामगारों को प्लेटफार्म द्वारा "स्वतन्त्र कांट्रेक्टरों" के रूप में काम में लगाया जाता है और अक्सर उन्हें बिचौलियों द्वारा भी काम पर लगाया जाता है। नियोक्ता प्लेटफार्म उनकी पहचान कामगार के रूप में करना नहीं चाहते क्योंकि तभी वे उनको रोजगार सुरक्षा अथवा सामाजिक सुरक्षा लाभ देने से बच सकते हैं ( इंडियास्पेंड, 2019)। जिन फिक्स्ड टाइम कान्ट्रेक्ट के तहत उन्हें काम पर रखा जाता है, उन अवधि में न तो एकरूपता है, न ही उनमें कोई निश्चितता (प्रेडिक्टिबिलिटी) है; इसी के चलते इस क्षेत्र में रोजगार भी अत्यंत अनिश्चित है (सूरी, 2018)। आय अस्थिर है और अधिकांशतः कामगार पीस रेट और इन्सेन्टिव में मिली धनराशि पर निर्भर करता है। इन मजदूरों को कोड में विशिष्ट लाभार्थी तो मान लिया गया है, लेकिन उनको मिलने वाली सामाजिक सुरक्षा की गुणवत्ता कैसी होगी, इसको लेकर गंभीर सवाल बना हुआ है। ऐसा इसलिए क्योंकि उन्हें असंगठित मजदूरों के साथ रखा गया है, और असंगठित मजदूरों को नगण्य मात्रा में ही सामाजिक सुरक्षा सुविधा प्राप्त है। इसकी अधिक विस्तार से चर्चा नीचे की गई है।

ड्राफ्ट बिल में सात अध्यायों में उपस्थित सामाजिक सुरक्षा कानूनों को संगठित किया गया है। यहाँ कई सवाल खड़े होते हुए दीखते हैं। आजादी के सात दशकों बाद भी भारत में सामाजिक सुरक्षा के लक्ष्यों को हासिल कर पाने में कुछ खास कामयाबी नहीं मिली है। कोड की अनुसूची '1' का नीचे सारांश दिया जा रहा है, जिसका इस्तेमाल हरेक अध्याय की उपयुक्तता की व्याख्या करने के लिए किया जाएगा। तालिका 2.0 इस तर्क को समर्थन देती प्रतीत हो रही है और देखा जा सकता है कि हरेक अध्याय की उपयुक्तता में कोई खास बदलाव नहीं आया है। यहां तक कि कामगार मुआवजा विषयक अध्याय को, जिसे आदर्श रूप में उन सारे मजदूरों के लिए लागू होना चाहिए था जिन्हें ईएसआई के अध्याय के अंतर्गत संरक्षण नहीं मिला उन्हें अनुसूची '2' के तहत केवल विशिष्ट किस्म के मजदूरों तक सीमित रखा गया है। कई व्यवसाय जैसे घरेलू कामगार, गृह-आधारित मजदूर और स्व-रोजगार मजदूर इसके संरक्षण से बाहर हैं।

तालिका 1.0 – वर्तमान और प्रस्तावित व्यवस्था के तहत सामाजिक सुरक्षा की उपयुक्तता

| विषय                        | वर्तमान कानूनों के तहत उपयुक्तता   | ड्राफ्ट कोड के तहत उपयुक्तता   |
|-----------------------------|--|--|
| भविष्य निधि                 | <ul style="list-style-type: none"> <li>● 20 से ज्यादा कामगार वाले सभी कारखाने जो इस अधिनियम की अनुसूची '1' के अंतर्गत सूचित उद्योगों से सम्बंधित हैं</li> <li>● 20 से ज्यादा कामगारों वाले बाकी सभी प्रतिष्ठान (अथवा प्रतिष्ठानों का वर्ग), अगर सरकार सूचित करती है</li> <li>● और 20 से कम कामगारों वाले प्रतिष्ठान यदि केन्द्रीय सरकार 2 महीने के नोटिस पर सूचित करती है</li> <li>● रु 15,000 की अधिकतम वेतन सीमा</li> </ul>        | <ul style="list-style-type: none"> <li>● प्रत्येक प्रतिष्ठान जहां 20 या उससे अधिक कामगार कार्यरत है या पिछले 12 महीने में एक दिन भी कार्यरत थे</li> <li>● उन प्रतिष्ठानों पर भी लागू हो सकता है जहां केन्द्रीय बोर्ड का सीईओ अगर उचित समझता है, अथवा नियोक्ता और कामगारों की बहुसंख्या लिखित समझौता करती है कि उनका कार्यस्थल पीएफ के मामले में कोड के अंतर्गत आए</li> </ul> |
| कामगार राज्य बीमा           | <ul style="list-style-type: none"> <li>● 10 से अधिक कामगारों वाले सभी कारखानों (मौसमी कारखानों को छोड़कर) पर लागू</li> <li>● उन कारखानों को छोड़कर जहां इस अधिनियम के अंतर्गत दी गई सुविधाओं से बेहतर अथवा समान सुविधाएं मिलती हैं</li> <li>● अन्य प्रतिष्ठान या प्रतिष्ठानों का वर्ग, यदि कारपोरेशन और केन्द्रीय सरकार के साथ मंत्रणा कर 1 महीने के नोटिस पर सूचित किया जाता है</li> <li>● रु 21,000 की अधिकतम वेतन सीमा</li> </ul> | <ul style="list-style-type: none"> <li>● प्रत्येक प्रतिष्ठान जहां 10 या उससे अधिक कामगार कार्यरत हैं या पिछले 12 महीने में एक दिन भी कार्यरत थे, मौसमी कारखानों को छोड़कर</li> </ul>   |
| कामगार क्षतिपूर्ति (मुआवजा) | <ul style="list-style-type: none"> <li>● रेलवे कर्मचारी;</li> <li>● जहाज के मास्टर, सीमैन अथवा अन्य सदस्य;</li> <li>● मोटर गाड़ी से जुड़े कार्य में बहाल व्यक्ति;</li> <li>● भारत में पंजीकृत कंपनी के लिए</li> </ul>  | <ul style="list-style-type: none"> <li>● दूसरी अनुसूची के प्रावधानों के अधीन, उन नियोक्ताओं और कामगारों पर लागू होता है जिन पर अध्याय '4' लागू नहीं होता</li> </ul>  |

|                       |  |  |
|-----------------------|--|--|
|                       | <p>विदेश में काम करने के लिए बहाल व्यक्ति;</p> <ul style="list-style-type: none"> <li>● असंगठित मजदूर-इन्हे सांख्यिकीय सीमा के आधार पर परिभाषित नहीं किया गया। असंगठित क्षेत्र के प्रतिष्ठान में 10 से कम मजदूर होते हैं</li> <li>● अनुसूची '2' के तहत 3 महीने के नोटिस के साथ सरकार द्वारा सूचित कार्य में बहाल व्यक्ति</li> </ul>  |  |
| ग्रैच्युटी            | <ul style="list-style-type: none"> <li>● हरेक कारखाना, खदान, तेल-क्षेत्र, बागान, बंदरगाह और रेलवे कंपनी; हरेक दुकान अथवा प्रतिष्ठान जहाँ पिछले 12 महीनों में किसी भी समय 10 से ज्यादा लोग काम पर लगे</li> <li>● केन्द्रीय सरकार द्वारा सूचित 10 से अधिक कामगारों वाले अन्य प्रतिष्ठान अथवा प्रतिष्ठानों का वर्ग</li> </ul>   | <ul style="list-style-type: none"> <li>● हरेक कारखाना, खदान, तेल-क्षेत्र, बागान, बंदरगाह और रेलवे कंपनी, हरेक दुकान अथवा प्रतिष्ठान जहाँ पिछले 12 महीनों में किसी भी समय 10 से ज्यादा लोग काम पर लगे</li> <li>● केन्द्रीय सरकार द्वारा सूचित 10 से अधिक कामगारों वाले अन्य प्रतिष्ठान अथवा प्रतिष्ठानों का वर्ग</li> </ul>   |
| मातृत्व लाभ           | <ul style="list-style-type: none"> <li>● प्रत्येक प्रतिष्ठान कारखाना, खदान, तेल-क्षेत्र, बागान (इनमें सरकारी प्रतिष्ठान और घुड़सवारी और कलाबाजी के प्रतिष्ठान भी शामिल हैं)</li> <li>● हरेक दुकान अथवा प्रतिष्ठान जहाँ पिछले 12 महीनों में किसी भी समय 10 से अधिक लोग काम पर लगे</li> <li>● अन्य प्रतिष्ठान अथवा प्रतिष्ठानों का वर्ग जिन्हें केन्द्रीय सरकार की सहमति से राज्य सरकार 2 महीने के नोटिस के साथ सूचित करती है</li> </ul> | <ul style="list-style-type: none"> <li>● प्रत्येक प्रतिष्ठान कारखाना, खदान, तेल-क्षेत्र, बागान (इनमें सरकारी प्रतिष्ठान और घुड़सवारी और कलाबाजी के प्रतिष्ठान भी शामिल हैं)</li> <li>● हरेक दुकान अथवा प्रतिष्ठान जहाँ पिछले 12 महीनों में किसी भी समय 10 से अधिक लोग काम पर लगे</li> <li>● अन्य प्रतिष्ठान अथवा प्रतिष्ठानों का वर्ग जिन्हें केन्द्रीय सरकार की सहमति से राज्य सरकार 2 महीने के नोटिस के साथ सूचित करती है</li> </ul> |
| भवन और निर्माण कामगार | <ul style="list-style-type: none"> <li>● यह उन सभी प्रतिष्ठानों पर लागू है जो 10 या उससे अधिक निर्माण मजदूरों को भवन अथवा अन्य निर्माण कार्य में रखते हैं अथवा</li> </ul>  | <ul style="list-style-type: none"> <li>● नियोक्ता जिन्होंने किसी भवन अथवा अन्य निर्माण कार्य में मजदूरों को रखा है</li> </ul>  |

|                                   |   |  |
|-----------------------------------|---|--|
|                                   | जिन्होंने पिछले बारह महीने में किसी भी दिन रखा है   |  |
| असंगठित कामगार की सामाजिक सुरक्षा | ●असंगठित मजदूर – इन्हे सांख्यिकीय सीमा के आधार पर परिभाषित नहीं किया गया। असंगठित क्षेत्र के प्रतिष्ठान में 10 से कम मजदूर होते हैं | ●असंगठित क्षेत्र और असंगठित मजदूर (जो औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 अथवा इस कोड के अध्याय '3' से '7' के अंतर्गत नहीं आते) |

तालिका 2.0 पर सरसरी निगाह बताती है कि आईएलओ द्वारा चिह्नित सामाजिक सुरक्षा की नौ शाखाएं भारतीय कानून में पहले से शामिल हैं। यह सवाल भी उठता है – क्या सभी नौ शाखाएँ जिनका नीचे उल्लेख है इस देश में रहने वाले सभी के लिए उपलब्ध हैं? यह साफ है कि ऐसा नहीं है। आठ सामाजिक सुरक्षा कानूनों के अंतर्गत लाभों का अधिकार सभी मजदूरों के लिए नहीं है। वास्तव में हम देखते हैं कि पीएफ योजना केवल उन कार्यस्थलों में ही लागू होती है जो 20 से अधिक मजदूरों को काम पर रखते हैं, तथा ईएसआई योजना, मातृत्व लाभ और ग्रैच्युटी योजना उन्हीं प्रतिष्ठानों में लागू है जहाँ 10 से अधिक मजदूर काम करते हैं। यहाँ तक कि निर्माण मजदूरों का कानून (बीओसीडब्ल्यू) भी उन्हीं भवन और निर्माण कार्यस्थलों पर लागू है जहाँ 10 से अधिक मजदूर काम कर रहे हैं। केवल असंगठित क्षेत्र की योजनाएँ ही गृह-आधारित, स्व-रोजगार और उजरती मजदूरों पर लागू होती हैं। ये वास्तविकता असंगठित क्षेत्र (जहाँ भारत के कामगार आबादी का 93 प्रतिशत काम करती हैं) के लोगों के लिए उपलब्ध सामाजिक सुरक्षा उपायों की गुणवत्ता और परिमाण को लेकर चिंता उत्पन्न करती है।

### तालिका 2.0 – भारतीय कानून में सामाजिक सुरक्षा लाभों का विस्तार

|   | आईएलओ कन्वेंशन 102 के अनुसार लाभ | भविष्य निधि | कामगार राज्य बीमा | मातृत्व लाभ | कामगार प्रतिकर (मुआवजा) | बीओसी डब्ल्यू | असंगठित क्षेत्र की योजनाएँ |
|---|----------------------------------|-------------|-------------------|-------------|-------------------------|---------------|----------------------------|
| 1 | चिकित्सा लाभ                     |             | ✓                 | ✓           | ✓                       | ✓             | ✓<br>आयुष्मान भारत         |
| 2 | बीमारी लाभ                       |             | ✓                 | ✓           |                         | ✓             |                            |
| 3 | बेरोजगारी लाभ                    |             | ✓                 |             |                         |               |                            |
| 4 | वृद्धावस्था लाभ                  | ✓           |                   |             |                         | ✓             | ✓<br>इंदिरा गांधी पेंशन    |
| 5 | रोजगार क्षति                     |             | ✓                 |             | ✓                       | ✓             |                            |

तालिका 2.0 सामाजिक सुरक्षा लाभों की हकदारी में पदक्रम को साफ दर्शाती है – जबकि संगठित क्षेत्र में मजदूरों को आसानी से सभी नौ प्रकार के लाभ मिल जाते हैं, वही दूसरी तरफ स्व-रोजगार प्राप्त और घर में काम कर रहे मजदूरों को केवल पाँच का हक है। इन योजनाओं की और गहन व्याख्या बताती है कि संगठित और असंगठित क्षेत्रों में मजदूरों को मिलने वाली सुविधाओं की मात्रा में बहुत फर्क है। असंगठित क्षेत्र के मजदूर संख्या में ही संगठित क्षेत्र के मजदूरों से अधिक नहीं हैं, बल्कि आय एवं रोजगार के मामलों में भी वे अधिक असुरक्षित होते हैं। इस क्षेत्र में महिला और तथाकथित “छोटी जातियों” और अनुसूचित जनजातियों से आने वाले मजदूरों की अधिकता है ( एनसीईयुएस, 2007)। राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों पर आधारित भारतीय सामाजिक सुरक्षा उपायों का वर्तमान कार्यान्वयन प्रक्रिया स्वयं ही उस संवैधानिक दायित्व का उल्लंघन करता है, जिसके तहत उसे क्षेत्र और पेशा आधारित असमानता का निषेध और निवारण करना था।

### सामाजिक संरक्षण फ्लोर (सोशल प्रोटेक्शन फ्लोर) बनाने की आकांक्षा

2009 में, विश्व स्वास्थ्य संगठन और अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की सिफारिशों में बदलाव दिखता है। राष्ट्रीय आबादियों में सामाजिक सुरक्षा के सभी रूपों के प्रगतिशील विस्तार की जगह पर, आईएलओ ने सामाजिक संरक्षण फ्लोर की परिकल्पना पर आम सहमति जुटाई— यानी उसने ऐसे कुछ लाभों की शिनाख्त की, जिन्हें हरेक ऐसे व्यक्ति, जिसे सामाजिक सुरक्षा की आवश्यकता है, को दिया जाना चाहिए (आईएलओ एंड डब्ल्यूएचओ, 2009)। इस अवधारणा को विश्वभर में समर्थन मिला, और आईएलओ ने भारत समेत कई राष्ट्रों को सामाजिक संरक्षण फ्लोर योजना बनाने में मदद की (आईएलओ दीडब्ल्यूटी, 2013)। सामाजिक संरक्षण फ्लोर आर्थिक कमजोरी से व्यक्तियों का बचाव करता है और उनको स्वास्थ्य और शिक्षा जैसे जनहित वस्तु उपलब्ध कराता है। सुझाव 22 इस फ्लोर के निर्माण के लिए कुछ महत्वपूर्ण सिद्धांतों की पहचान करता है – जैसे संरक्षणों की सार्वभौमिक प्रकृति, कानून द्वारा लाभों की व्यवस्था (अधिकार—आधारित दृष्टिकोण), लाभों का पर्याप्त, उम्मीद के मुताबिक होना और (साथ ही समाज के कमजोर तबकों के लिए उच्च स्तर का संरक्षण प्रदान करते हुए) बिना भेदभाव प्राप्त होना, अनौपचारिक मजदूरों का समावेश, पारदर्शिता, नियमित निगरानी।

यह फ्लोर गारंटी करता है – आवश्यक स्वास्थ्य-सुविधा, जिसमें जन्म से पूर्व और पश्चात की देखभाल शामिल है, ताकि स्वास्थ्य की आवश्यकताओं के कारण व्यक्ति गरीबी में डूब न जाए; बच्चों के लिए बुनियादी आय की सुरक्षा, ताकि उनके विकास की जरूरतें, जिसमें शिक्षा, पोषण और देखभाल शामिल है, पूरी हो सके; उन लोगों के लिए बुनियादी आय की सुरक्षा, जो मातृत्व, विकलांगता, बीमारी अथवा बेरोजगारी के कारण काम नहीं कर पाते; और वृद्ध लोगों के लिए बुनियादी आय की सुरक्षा (आईएलओ, सिफारिशें 202, 2012)। यदि भारत ऐसे फ्लोर को अपनाता है तो रोजगार की स्थिति को बगैर ध्यान में रखे हुए चिकित्सा और बीमारी लाभ, मातृत्व लाभ, वृद्धावस्था लाभ और बेरोजगारी के दौर में श्रमिक जन के लिए आय सुरक्षा सभी व्यक्तियों को मिलने चाहिए।

एनसीईयुएस की रिपोर्ट (2006) का निष्कर्ष है कि उनके अंशदायी प्रकृति के कारण

भविष्य निधि और कामगार राज्य बीमा जैसी योजनाएं औपचारिक क्षेत्र तक सीमित हो जाती हैं – इनमें कामगार और नियोक्ता का मासिक योगदान अनिवार्य होता है। क्या होगा यदि व्यक्ति स्व-रोजगार में है अथवा विभिन्न उद्यमों में लगा हुआ है (जैसे घरेलू कामगार), अथवा उसे लगातार नियोक्ता बदलना पड़ता है? दूसरे नेशनल कमीशन ऑन लेबर ने इस बात पर ध्यान दिया था और सामाजिक सुरक्षा के सार्वभौमिकरण पर लम्बी चर्चा की थी। रिपोर्ट ने सुझाव दिया था कि वेतन की अधिकतम सीमा (वेज सीलिंग) और दहलीजें हटा दी जाएँ और भारत में सामाजिक सुरक्षा की चार स्तरीय व्यवस्था बनाई जाए, जिसके अंतर्गत कामगार या बेकार – सभी लोग शामिल हों।

इन स्तरों में पहले है गरीबी रेखा से नीचे रह रहे लोग – जिनका खर्चा सरकार खुद वहन करेगी। जो लोग गरीबी रेखा से ऊपर हैं परन्तु एक खास आय सीमा से नीचे हैं वे कम सदस्यता योगदान दे सकते हैं, जबकि वेतन सीलिंग के ऊपर जो लोग हैं उन्हें पूरा योगदान देना होगा। अंतिम स्तर स्वैच्छिक योजनाओं पर आधारित है (एनसीएल, 2, 2002)। वास्तव में, यह व्यवस्था सार्वजनिक सहयोग और सानुपातिक योगदान द्वारा सामाजिक सुरक्षा प्रणाली के इस्तेमाल को एक से ज्यादा लेकर दूसरे की कमी-पूर्ति करता है। ऊपर उल्लिखित एनसीईयुएस की रिपोर्ट (2006) अंशदायी तंत्र द्वारा सामाजिक सुरक्षा योजनाओं के प्रति तत्पर थी, जिसके तहत सरकार पर गरीबी रेखा से नीचे के मजदूरों के लिए योगदान करने का दायित्व था। असंगठित मजदूरों से योगदान लेने के पीछे तर्क था कि इस प्रकार उनमें सामाजिक सुरक्षा प्रणाली के प्रति अपनेपन की भावना जागेगी।

आईएलओ की 2012 में सामाजिक संरक्षण पर घोषणा से भी पहले, भारत में सामाजिक सुरक्षा के न्यूनतम कार्यक्रम के विचार पर लम्बे समय से काम होता रहा है। नेशनल कमीशन ऑन रूरल लेबर (1991) ने वृद्धावस्था पेंशन, जीवन बीमा, मातृत्व लाभ, विकलांगता लाभ (दुर्घटना मुआवजा) और न्यूनतम स्वास्थ्य सेवा और बीमारी लाभ को ग्रामीण श्रमिकों के लिए उच्च-प्राथमिकता वाले मामले के रूप में चिह्नित किया था। दूसरे नेशनल कमीशन ऑन लेबर ने मृत्यु अथवा विकलांगता के लिए बीमा, स्वास्थ्य बीमा, मातृत्व और वृद्धावस्था लाभ (पेंशन) को सार्वभौमिक सामाजिक सुरक्षा के बुनियादी मानकों के रूप में प्राथमिकता दी। एनसीईयुएस ने स्वास्थ्य लाभ (चिकित्सा सुविधा और मातृत्व लाभ), आकस्मिक अथवा प्राकृतिक मृत्यु सम्बंधित बीमा और वृद्धावस्था पेंशन (गरीबी रेखा से नीचे के मजदूरों को यह पेंशन सार्वजनिक सहायता के रूप में मिल सकती है) और भविष्य निधि (गरीबी रेखा से ऊपर के मजदूरों की पीएफ योजना में सदस्यता नियमित योगदान पर आधारित हो सकती है) को भारत के लिए आवश्यक न्यूनतम सामाजिक सुरक्षा ढांचे के रूप में देखा।

## निष्कर्ष

इस मोड़ पर, यह आवश्यक है कि सार्वभौमिक सामाजिक संरक्षण के विस्तार की दिक्कतें कानूनी न हों – न ही वह वैचारिक स्पष्टता को लेकर हों। भारत इस सवाल

को लेकर तकरीबन तीन दशकों से जूझा है, और यदि हम सामाजिक संरक्षण लोर को अपनाने वाले हैं तो इसके विचार को लेकर नीति निर्माताओं के बीच अच्छी-खासी, साझी समझदारी दिखती है। प्रमुख रुकावटें संसाधन, प्राथमिकता और राजनीतिक इच्छाशक्ति हैं – राजनीतिक इच्छाशक्ति जो ऊपर से जाहिर होनी होगी (और जो तात्कालिक सरकार के एजेंडा में निहित होती है)। परंतु इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण है नीचे से राजनीतिक इच्छाशक्ति पैदा करना – जो ठोस जमीनी स्तर के कार्यों से ही पैदा होती है। भारतीय समाज में सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था को लेकर जागरूकता और सामूहिक चेतना की कमी सामाजिक संरक्षण की मांग को कमजोर कर देती है। इस सन्दर्भ में डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर के तीन जादुई मन्त्र बहुत मायने रखते हैं – “शिक्षित बनो, संगठित रहो और संघर्ष करो”। चुनौती इस त्रिमूर्ति फार्मूला को गंभीरता से लेने की है। हम उम्मीद करते हैं कि हिंदी भाषा में प्रकाशित यह लेख इस चुनौती को स्वीकार करने में सहयोग देगा।

## नोट

1. यह निबंध बाबू मैथ्यू और काव्या भारदकर ने मिलकर लिखा है।
2. इस बारे में अफवाहों को कई अखबारों ने केन्द्रीय सरकार के अन्दर के अज्ञात सूत्रों का हवाला देते हुए छापा जिनके अनुसार टिप्पणियों के लिए प्रकाशित मसौदा 3.0 में बदलाव आ सकते हैं क्योंकि उक्त मसौदा सामाजिक सुरक्षा उपायों के सार्वभौमिकरण के खिलाफ जाता है और उसके प्रति पीएमओ ने कड़ा विरोध जाहिर किया था। इस तरह की एक रिपोर्ट 4 अक्टूबर को इकोनॉमिक टाइम्स में छपी। देखें –

<https://economictimes.indiatimes.com/news/economy/policy/labour-ministry-to-rejig-draft-social-security-code/articleshow/71432703.cms?from=mdr>

## सन्दर्भ सूची

Constitution of India. 1950.

Group of Co-operating agencies and development partners International Labour Office and World Health Organization Geneva, November 2009, Social Protection Floor Initiative-The sixth initiative of the CEB on the global financial and economic crisis and its impact on the work of the UN system - Manual and strategic framework for joint UN country operations

Indiaspend. 2019. India's Gig Workers: Overworked And Underpaid, by Prachi Salve, Shreehari Paliath

International Labour Office, ILO DWT for South Asia and ILO Country Office for India - New Delhi: ILO, 2013, A social protection floor for India / Ravi S. Srivastava;

International Labour Organisation, 2011, Social security for social justice and a fair globalization - Recurrent discussion on social protection (social security) under the ILO Declaration on Social Justice for a Fair Globalization

International Labour Organization (ILO), Convention Concerning Minimum Standards of Social Security, 28 June 1952, C102, available at: <https://www.refworld.org/docid/5c77a1bc7.html> [accessed 8 December 2019]

International Labour Organization (ILO), Recommendation Concerning National Floors of Social Protection, 14 June 2012, R202, available at: <https://www.refworld.org/docid/5c77a49f7.html> [accessed 30 October 2019]

National Commission for Enterprises in the Unorganised Sector. 2007. Report on



Conditions of Work and Promotion of Livelihoods in the Unorganised Sector. Government of India.

National Commission for Enterprises in the Unorganised Sector. 2006. Social Security for Unorganised Workers. Government of India.

Report of the National Commission on Labour. 2002. Ministry of Labour, Government of India.

Report of the National Commission on Rural Labour. 1991. Ministry of Labour, Government of India.

Surie, Aditi (2018): "Are Ola and Uber Drivers Entrepreneurs or Exploited Workers?" Economic & Political Weekly, Vol 53, No 24, viewed on 21 August 2019, <https://www.epw.in/engage/article/are-ola-and-uber-drivers-entrepreneurs-exploited-workers>.

UN Committee on Economic, Social and Cultural Rights (CESCR), General Comment No. 19: The right to social security (Art. 9 of the Covenant), 4 February 2008, E/C.12/GC/19, available at: <https://www.refworld.org/docid/47b17b5b39c.html> [accessed 8 December 2019]

UN General Assembly, Convention on the Elimination of All Forms of Discrimination Against Women, 18 December 1979, United Nations, Treaty Series, vol. 1249, p. 13, available at: <https://www.refworld.org/docid/3ae6b3970.html> [accessed 30 October 2019]

UN General Assembly, Convention on the Rights of the Child, 20 November 1989, United Nations, Treaty Series, vol. 1577, p. 3, available at: <https://www.refworld.org/docid/3ae6b38f0.html> [accessed 30 October 2019]

UN General Assembly, International Covenant on Economic, Social and Cultural Rights, 16 December 1966, United Nations, Treaty Series, vol. 993, p. 3, available at: <https://www.refworld.org/docid/3ae6b36c0.html> [accessed 30 October 2019]

UN General Assembly, Universal Declaration of Human Rights, 10 December 1948, 217 A (III), available at: <https://www.refworld.org/docid/3ae6b3712c.html> [accessed 30 October 2019]

# माइग्रेशन की अवधारणा और प्रवासियों के अधिकार

डा. आर.एस. तिवारी

माइग्रेशन या प्रवासन के सम्बन्ध में कई भ्रम एवं पूर्वाग्रह देखे जा सकते हैं। आज की तारीख में प्रवासियों के अधिकारों के विषय पर राज्य एवं व्यापक समाज की उदासीनता काफी चिन्ताजनक भी है। प्रवासियों की समस्याएँ, इनकी संख्या, इनका अर्थनीति में योगदान – ये सभी अहम् विषय हैं और उन पर व्यापक चर्चा जरूरी है।

‘माइग्रेशन’ शब्द को कई बार गलत तरीके से ‘पलायन’ बोला जाता है, जबकि उसका सही अर्थ है ‘प्रवासन’। प्रवासन मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। हम सभी कभी न कभी प्रवासी रहे हैं। व्यक्ति स्वेच्छा से आर्थिक प्रगति के लिये, अच्छी नौकरी या व्यापार के लिये, या सुरक्षा के लिये अपने घर, गाँव, राज्य—देश छोड़कर जब अन्य जगह, अन्य नगर, अन्य राज्य, अन्य देश जाता है – तब वह प्रवासी होता है। कुछ विशेषज्ञ मानते हैं कि जब व्यक्ति स्वयं के परिवेश, स्थान, परिस्थितियों में अनुकूल परिवर्तन नहीं कर पाते, तब बेहतर परिस्थितियों, अवसरों के लिये वे अक्सर प्रवासन करते हैं। अर्थात् शोषण की स्थितियों से मुक्ति पाने के लिए भी प्रवासन होता है।

प्रवासन एक अधिकार है। युद्ध, जलवायु परिवर्तन, प्राकृतिक विपदाओं, विकास कार्यों इत्यादि से भी पलायन या विस्थापन होता है। विस्थापित, रिफ्यूजी, जलवायु शरणार्थी – ये सभी प्रवासी ही हैं। टूरिस्ट भी अस्थायी प्रवासी हैं। वापस लौटने वाले भी प्रवासी हैं।

जहाँ तक मेहनतकशों का सवाल है, देखा जा सकता है कि प्रवासियों का बड़ा हिस्सा मजदूर और कारीगर होते हैं। निर्माण उद्योग, नर्सिंग, स्वास्थ्य सेवाओं, आई.टी इत्यादि क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर प्रवासी मजदूर पाए जाते हैं। पिछले दो दशकों में आर्थिक बदलावों के चलते प्रवासन लगातार बढ़ता जा रहा है।

आज भूमण्डलीकरण के प्रति राज्य के बढ़ते झुकाव एवं समूचे नीतिगत परिवर्तन के कारण निवेशकों के हितों की सुरक्षा पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है, जबकि प्रवासी श्रमिक अधिक असुरक्षित हो गये हैं। हमारे देश में अभी तक प्रवासन नीति तक नहीं बन सकी है। हम प्रवासन नीति को ‘अधिकार—आधारित’ चाहते हैं, लेकिन कॉर्पोरेट पूंजी के समर्थक इसे ‘विकास आधारित’ बनाना चाहते हैं।

महिलाओं के बढ़ते प्रवासन, उनके अधिकार और उनके शोषण की ओर खास ध्यान देने की आवश्यकता है। महिलाओं के अर्थव्यवस्था में योगदान को भी बहुत कम कर आँका जाता है। जो महिलायें विदेशों में जाती हैं, वे अक्सर कई प्रकार के शोषण का शिकार होतीं रही हैं। जो महिलायें विदेशों से श्रमिक के रूप में भारत आई हैं वे भी शोषण का शिकार होतीं रही हैं। अक्सर प्रवासी घरेलू कामगारों को घरेलू दास की स्थिति में धकेल दिया जाता है। प्रवासी महिला कामगारों को कम पारिश्रमिक दिया जाता है। कई बार तो उन्हें मजदूर ही नहीं माना जाता है।

अक्सर प्रवासी मजदूरों को अपराधी ही मान लिया जाता है, उन्हें सन्देह की नजर से देखा जाता है और उनसे खराब बर्ताव किया जाता है। कई बार उनके आतंकवादी होने का शक किया जाता है। पुलिस उनसे अमानवीय व अभद्र व्यवहार करती है। राज्य की ओर से प्रवसन आपराधिक हो जाता है। कभी कभी प्रवासी के रूप में अपराधी, आतंकवादी भी आते हैं, परन्तु इससे प्रवसन आपराधिक नहीं होता है।

## प्रवसन नीति

प्रवसन नीति वह राज्य नीति है जो प्रवसन, प्रवासियों की समस्याओं, श्रमिक अधिकारों, आर्थिक विकास के साथ मानव विकास, श्रम-बाजार पर प्रभावों, प्रवासियों की सुरक्षा, प्रवासियों के लिए श्रम अधिकारों के लिये कानून की आवश्यकता आदि समावेश करते हुए, इन पर विस्तृत स्वीकारोक्ति करती है। परन्तु हमारे देश की कोई माईग्रेशन नीति नहीं है।

हमारा राज्यतंत्र प्रवसन आधारित विकास के बारे में ही सोचता है। राज्य की अघोषित नीति में अस्थाई प्रवसन, सरकुलर या वृत्ताकार प्रवसन, विकास की जरूरत के लिये प्रवसन, प्रवासियों के द्वारा विदेशी मुद्रा का देश में प्रवाह बढ़ाना, एनआरआई-भारतीय मूल के धनी प्रवासियों से भारत में निवेश करवाना, प्रवसन व प्रवासियों के अधिकारों को नियन्त्रित करना सम्मिलित है। राज्यतंत्र प्रवासियों के मानव अधिकारों, श्रम अधिकारों, मानव विकास एवं प्रवासियों की समस्यापूर्ण परिस्थितियों को अनदेखा करता रहा है। राज्य जानता है कि मध्यपूर्व के देशों में लगभग 7000 भारतीय जेलों में हैं। हमारे देश में भी अनगिनत प्रवासी लोग जेलों में हैं। हमारे इलीट वर्ग यह तो चाहते हैं कि उनके नगर पश्चिमी देशों जैसे दिखें, पर वे पश्चिमी देशों के स्तर के अधिकार हमारे श्रमिकों को देने के लिए तैयार नहीं हैं।

हमारे देश की विशिष्ट स्थिति और परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में ऐसी प्रवसन नीति की जरूरत है जिसमें अंतरदेशीय, अंतर्राष्ट्रीय, अंतरजिलों, अंतरग्रामों के प्रवासियों और आप्रवासियों के श्रम अधिकार व मानव अधिकार सुरक्षित रहें। साथ ही नेपाल, बांग्लादेश, श्रीलंका, भूटान और अन्य देशों से आये आप्रवासियों को वही अधिकार मिलें जो भारतीय प्रवासियों को उपलब्ध हों।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के कन्वेनशन स. 97 और 143 प्रवासियों के नियोजन पर, संयुक्त राष्ट्र संघ का सभी प्रवासी श्रमिकों और उनके परिवार के सदस्यों की सुरक्षा सम्बन्धित 1990 का अंतर्राष्ट्रीय कन्वेनशन, 1948 का संयुक्त राष्ट्रसंघ का मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा एवं कुछ और अंतर्राष्ट्रीय कन्वेनशन्स प्रवासियों के श्रम अधिकारों एवं मानव अधिकारों की सुरक्षा सुनिश्चित करते हैं। परन्तु भारत ने इन अंतर्राष्ट्रीय नियमों पर हस्ताक्षर नहीं किये हैं।

## प्रवसन नीति कैसी होना चाहिये

दुनिया के अलग अलग राज्यों के बीच और राज्य एवं प्रवासी संगठनों के बीच स्पष्ट, विस्तृत समझौते एवं नियमावली की आवश्यकता है जिसमें प्रवासी श्रमिकों को इस प्रकार सुरक्षा, सम्मान और न्याय मिल सके जो आईएलओ तथा यूएन द्वारा निर्धारित मानव एवं श्रम

अधिकारों के अनुसार हो। एक ऐसे ही प्रवासी श्रम कानून की आवश्यकता हमारे देश में भी है। लेकिन अभी तक तो कोई स्पष्ट प्रवसन नीति भी हमारे देश में नहीं है। हालाँकि बहस जरूर है। उद्योगपति एवं बहुराष्ट्रीय निगम विकास केन्द्रित प्रवसन नीति की बात करता है पर श्रम संगठन एवं नागरिक संगठन प्रवासियों के अधिकार-केन्द्रित प्रवसन नीति चाहते हैं।

आज भारत की 40 प्रतिशत जनता, यानी लगभग 60 करोड़ प्रवासी है, दस वर्षों में यह संख्या 50 प्रतिशत तक होने की उम्मीद है। विश्व में अलग अलग देशों में 5 करोड़ से अधिक भारतीय प्रवासी हैं। पूरे विश्व में 25 से 30 करोड़ लोग आप्रवासी हैं। कई देशों में तो आधी से अधिक जनसंख्या प्रवासियों की ही है।

प्रवसन की प्रक्रिया शुरू में चुनौती लाती है जिसमें भाषा, आदतों और संस्कृतियों संबंधी कठिनाईयाँ, तनाव तथा टकराव होता है लेकिन यदि आश्रयदाता समुदाय प्रवसन के इस पहले चरण को पार कर जाता है तो देखा जा सकता है कि कैसे प्रवासी नये आश्रयदाता देश में अच्छे नागरिक बन जाते हैं तथा अपने श्रम, दिमाग और सृजनात्मकता से समाज को अधिक समृद्ध और विविधतापूर्ण बनाते हैं।

भारतीय राज्य हर वर्ष 'प्रवासी भारतीय दिवस' मनाती है जिसका उद्देश्य रहता है प्रवासी भारतीयों से देश में निवेश करवाना, यानी कारपोरेट पूँजी में इजाफा करवाना। राज्य के लिये निवेश सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। धनी प्रवासी भारतीयों को विभिन्न क्षेत्रों में निवेश की अनुकूल संभावनाओं के बारे में जानकारी देने के उद्देश्य से यह मनाया जाता है। लेकिन ऐसे आयोजनों में प्रवासी श्रमिकों के अधिकारों का सवाल अक्सर उपेक्षित ही रह जाता है।

पिछले पंद्रह वर्षों में हमारे देश में उद्योगों, माइनिंग, निर्माणकार्यों, सेवाओं, टूरिज्म आदि से जो द्रुत गति का आर्थिक विकास हुआ है, वो मूलतः प्रवासी मेहनतकशों के अथक परिश्रम के योगदान से ही हुआ है। देश के बाहर गये भारतीय प्रवासी हर वर्ष 70 से 80 बिलियन डालर की विदेशी मुद्रा हमारे देश में भेजते रहे हैं। बिना प्रवासियों के योगदान के यह विकास हो ही नहीं सकता।

प्रवसन सब का मौलिक अधिकार है जिसके आर्थिक, सामाजिक, मानवीय, राजनैतिक और सांस्कृतिक आयाम हैं। प्रवसन नीति 'अधिकार आधारित' हो, और इस नीति में सभी अन्तर्राष्ट्रीय नियमों, कन्वेंशनों का समावेश जरूरी है। हमारी प्रवसन नीति में बराबरी का अधिकार, जीवन और आजीविका का अधिकार, सम्मान का अधिकार, सुरक्षा का अधिकार, धार्मिक आजादी का अधिकार, व भेदभाव के विरुद्ध अधिकार सम्मिलित होने चाहिये। प्रवसन नीति प्रवासियों व आप्रवासियों और उनके परिवार की भेदभाव-रहित, समुचित, गैर-अंशदायी (नान-कन्ट्रिब्यूटरी) सामाजिक सुरक्षा का अधिकार कानूनी अधिकार के रूप में सुनिश्चित करे। प्रवसन नीति प्रवासियों की समस्याओं, शिकायतों व विवादों को सुलझाने की स्पष्ट प्रक्रिया एवं संस्था स्थापित करे। जलवायु परिवर्तन, प्राकृतिक विपदाओं, विकास कार्यों वगैरा से विस्थापित, युद्ध के शरणार्थियों के लिये खास कानून बनाना - प्रवसन नीति में होना जरूरी है। हमारी प्रवसन नीति में प्रभावशाली व मजबूत प्रशासनिक तंत्र हो जो कानूनी निरीक्षण करने में सक्षम हो, एवं जो सटीक रूप से कानूनों का क्रियान्वयन कर सके।

# श्रम और सामाजिक सुरक्षा

अमरजीत कौर

(यह लेख एटक की नेता अमरजीत कौर के साथ सीईसी की एग्जीक्यूटिव डायरेक्टर लोकेश एवं मयूर सेतिया की एक लम्बी बातचीत पर आधारित हैं। लेख में बातचीत का सम्पादित हिस्सा पेश किया गया है)

## सामाजिक सुरक्षा का ऐतिहासिक सन्दर्भ

सामाजिक सुरक्षा का संघर्ष आजादी से पहले ही शुरू हो गया था। अंग्रेजी राज में ही मजदूर आन्दोलन के चलते 1923 में दुर्घटना भत्ता का कानून बना था। शुरू से ही महिला मजदूर को मातृत्व लाभ मिलना चाहिए – यह ट्रेड यूनियन की मांग रही थी। 1920 में एटक बनने के बाद जब 1921 में मजदूरों ने अपना पहला मांग-पत्र बनाया, उसका एक प्रमुख हिस्सा सामाजिक सुरक्षा से सम्बंधित था। एटक के संविधान में भी सामाजिक सुरक्षा की जरूरत के बारे में उल्लेख किया गया। फिर भारत की आजादी के बाद जब संविधान बना, उसमें भी ट्रेड यूनियनों की तरफ से मजदूर चार्टर दिया गया। उसमें काम के घंटों, यूनियन बनाने के अधिकार, सम्मानपूर्वक जीविका का अधिकार, लिविंग वेज का अधिकार, सामाजिक सुरक्षा का अधिकार आदि अनेक विषयों पर मजदूरों ने अपनी बातें रखी थी।

आजादी के बाद सामाजिक सुरक्षा का जो पहला कानून आया, वह 1948 का ईएसआई ऐक्ट था। फैक्ट्री मजदूरों एवं उनके परिवारों को सामाजिक सुरक्षा देने के हिसाब से वह काफी विस्तृत कानून था। फिर जब पब्लिक सेक्टर खुल गया और सरकारी कर्मचारियों को पेंशन दिया जाने लगा, तभी असंगठित मजदूरों का सवाल भी उभर कर आया – कि इन मजदूरों के लिए क्या प्रावधान किया जाए? लड़ाई लड़ी गयी और उसी के बाद प्रोविडेंट फंड ऐक्ट आया। बोनस और ग्रेच्युटी की भी बात हुई।

लेकिन असंगठित मजदूरों के लिए इनमें से ज्यादातर सुविधाएं नहीं थी। इसलिए क्षेत्र आधारित सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था के लिए लड़ाई लड़ी गयी। बीड़ी मजदूरों के लिए वेलफेयर बोर्ड लाया गया। इसमें मजदूरों के लिए अस्पताल की सुविधा, मातृत्व लाभ, बच्चों की पढ़ाई के लिए स्कॉलरशिप इत्यादि को समाहित किया गया। इसी कड़ी में केरल सरकार ने कंस्ट्रक्शन वर्कर सोशल सिक्योरिटी ऐक्ट लाया और उसके बहुत सकारात्मक रिजल्ट आये। तमिलनाडु की ट्रेड यूनियनों ने उस मुद्दे पर आन्दोलन किया तो तमिलनाडु में भी ये कार्यान्वित होना शुरू हुआ। आखिर में कई सालों की लड़ाई के बाद देश भर में केन्द्रीय स्तर पर कानून आया।

## संसाधनों का सवाल

वेलफेयर बोर्ड बनने के बाद सवाल आया कि उसमें पैसा कहां से आएगा? वर्कर की पहचान कैसे होगी? कौन-कौन सी सुविधाएं वर्कर को दी जाएंगी? देखा गया कि इसमें सरकार का कॉन्ट्रिब्यूशन नहीं था, बल्कि नियोगकर्ता और मजदूरों का ही कॉन्ट्रिब्यूशन था।

जैसे बीड़ी के क्षेत्र में सेस है, कंस्ट्रक्शन में सेस है, लेकिन ईएसआई और भविष्यनिधि में मालिक और मजदूर का ही शेर है। जो बोर्ड या कारपोरेशन बने, जैसे प्रोवीडेंट फंड का कारपोरेशन, ईएसआई का कारपोरेशन इत्यादि – उनका खर्चा इसी धनराशि से निकलने लगा। उदाहरण के तौर पर – ईएसआई अस्पताल के लिए प्रबंधन का खर्च इसी धनराशि में से निकलता है, सरकार इसके लिए पैसा नहीं देती है।

इन सामाजिक सुरक्षा व्यवस्थाओं में ट्रेड यूनियनों को पहले से ही स्पष्ट आईडिया था पैसा कैसे आयेगा, प्रबंधन कैसे चलेगा, मजदूर की पहचान कैसे होगी, पैसा कैसे बटेगा इत्यादि। अपने अनुभवों के आधार पर भी ट्रेड यूनियनों ने इन व्यवस्थाओं में बेहतरी की अलग-अलग सिफारिशें की।

अलग-अलग इलाकों और प्रदेशों में आन्दोलन की अलग-अलग स्थिति के चलते सामाजिक सुरक्षा व्यवस्थाओं में भी अंतर देखा जा सकता है। कुछ प्रदेशों में ट्रेड यूनियनों के प्रति मित्रताभाव वाली सरकारें आई और वहां सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था सबसे अच्छी बनी। उदाहरण के लिए, केरल की सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था को पूरे देश में ही सबसे उत्कृष्ट कहा जा सकता है। उसके बाद नाम आता है तमिलनाडु का।

## बहिष्करण की समस्या

जो असंगठित क्षेत्र है, वहां अभी भी ईएसआई कवर नहीं हो पा रहा है, क्योंकि वह एक फ़ैक्ट्री आधारित चीज है; फ़ैक्ट्री पंजीकृत होगी, तभी वहां ईएसआई का कार्ड बनेगा। पंजीकरण से बचने के लिए मालिक धोखाधड़ी करते हैं। जैसे कि अगर पंजीकरण के लिए 10 मजदूरों का नियम है तो 9 मजदूर ही रखेंगे। कैंजुअल और कंट्रैक्ट मजदूर इस तरह सामाजिक सुरक्षा से बाहर हो जाते हैं। फ़ैक्ट्री के अन्दर होने वाली बहिष्करण (एक्सक्लूशन) के अलावा असंगठित क्षेत्र के अन्य मेहनतकश जैसे हॉकर, वेन्डर इत्यादि भी ईएसआई की सुविधा नहीं ले पाते हैं। कंस्ट्रक्शन वेलफेयर बोर्ड बनने के बाद ये जरूर हुआ कि मजदूरों का एक हिस्सा उसके अधीन आया। छोटे ईट-भट्टे कंस्ट्रक्शन बोर्ड के अन्दर आये और बड़े ईट-भट्टे फ़ैक्ट्री ऐक्ट के तहत आये। हालाँकि निर्माण उद्योग में मजदूरों का बोर्ड में पंजीकरण अभी भी एक बड़ी समस्या बना हुआ है, बहुत सारे मजदूर अभी भी पंजीकृत नहीं हैं। वे कहते हैं कि बोर्ड में पंजीकरण के लिए ठेकेदार से पहले लिखवाकर लाओ, लेकिन ठेकेदार तो कभी भी लिखकर नहीं देगा! एक टकराव इस बात को लेकर भी है कि यूनियन की सहायता इसमें क्यों नहीं ली जा रही? होना तो यह चाहिए कि जो यूनियन मजदूरों को संगठित करती है, उनको ही प्रमाणित करने दो। दो-तीन राज्यों को छोड़कर कोई भी राज्य इस मामले में ट्रेड यूनियनों की मदद लेने के लिए तैयार नहीं है।

पंजीकरण की इस समस्या के बारे में हम सब ट्रेड यूनियन पूर्ण रूप से सचेत हैं, हम संघर्ष भी कर रहे हैं। यह सही है कि सिर्फ कानून बना लेने भर से सबकुछ नहीं हो जाता है, क्रियान्वयन भी एक अहम् मुद्दा है। साथ ही सच ये भी है कि जिन क्षेत्रों के लिए बोर्ड जैसे कानून नहीं बने हैं, वहां तो सामाजिक सुरक्षा से बहिष्करण 100 फीसद है।

ट्रेड यूनियन कहते आये हैं कि जो क्षेत्र सामाजिक सुरक्षा से छूट गया है, उनके लिए

क्षेत्र विशेष वाले बोर्ड बनाना शुरू करो। डोमेस्टिक वर्कर के लिए भी अलग से बोर्ड बनना चाहिए क्योंकि उनका काम का चरित्र ही अलग सा है; कोई एक ही घर में सारा समय काम करती हैं, कोई बहुत सारे घरों में कुछ घंटे काम करती हैं। इसे देखते हुए उनके लिए अलग बोर्ड बनाइये, उसके लिए फंड कहां से आयेगा उसके लिए बातचीत का आयोजन कीजिए। फंड का मुद्दा बहुत ही अहम् है, अगर उसके बारे में स्पष्टता नहीं होगी, तो कोई भी योजना हो, वह कागज में ही रह जायेगी। यह बहुत से केंसों में हमारा अनुभव रहा है।

फण्ड को लेकर काफी संघर्ष चला और आखिर में 30-35 साल बाद, 2008 में असंगठित क्षेत्र में सोशल सिक्योरिटी का कानून आया। कहा गया कि अब 100 प्रतिशत कवरेज देना है, इसके लिए स्टेट गर्वमेंट स्कीम बनाये। केन्द्र सरकार ने इसके लिए 1000 करोड़ रुपये मार्क कर दिया। हम लोगों का कहना था कि यह ऐक्ट के अंदर ही होना चाहिए। असंगठित क्षेत्र के मजदूरों की विराट संख्या को देखते हुए यह सवाल तो बनता ही है कि इतने सारे संसाधनों की व्यवस्था क्या राज्य सरकारें अपने आप कर पायेगी? क्यों न केन्द्रीय सरकार बजट का एक विशेष हिस्सा इसी के लिए निर्धारित कर दे? ऐसा भी हो सकता है कि केंद्र सरकार 60 पैसे दे और राज्य सरकार 40 पैसे। सबसे पहले इसके लिए एक कार्पस तो बनना ही चाहिए। सारी चीजों को अगर राज्य सरकारों पर छोड़ दिया जाये तो दिक्कत है, क्योंकि राज्यों का अपना-अपना एजेंडा होता है। केन्द्रीय सरकार की मुख्य भूमिका तो बनती ही है।

सोशल सिक्योरिटी का ऐक्ट आने के बाद ट्रेड यूनियनों ने कहा कि अब मजदूरों के अलग-अलग हिस्सों के लिए अलग-अलग स्कीम बनाई जायें। जो स्कीम पहले से काम कर रही है, उनके अनुभवों को देखकर, उनसे सीखते हुए बेहतर स्कीम बनाई जाये और क्रियान्वयन में जो समस्या रही है, उन्हें दूर किया जाय। हमारा उद्देश्य था जो मजदूर बाहर रह गए हैं, उनको सामाजिक सुरक्षा दी जाय। हर सेक्टर की अपनी समस्याएं एवं विशेषताएँ हैं, इसलिए सेक्टर विशेष वाली स्कीम बने, और सभी मजदूरों को सामाजिक सुरक्षा मिलें।

## सोशल सिक्योरिटी कोड की समस्या

लेकिन आज तो सरकार ऐसा सोशल सिक्योरिटी कोड लेकर आई है, जो सार्वभौमिक सामाजिक सुरक्षा के नाम पर पुरानी सभी सामाजिक सुरक्षा व्यवस्थाओं को हटाने की बात कर रही है। बात तो इस पर होनी चाहिए कि जो 90 फीसदी मजदूर सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था से छूटे हुए हैं, उन्हें कैसे सामाजिक सुरक्षा प्रदान की जाये, उनके लिए कहाँ से संसाधन लाए जाये। लेकिन इस कोड में सरकार ने तो डिसाइड भी नहीं किया कि पैसा कहां से आयेगा, इस नए सिस्टम का फारमेट क्या होगा, किसको कितना मिलेगा, कैसे दिया जायेगा। ये सब किये बिना ही कोड ने 15 सोशल सिक्योरिटी से संबंधित ऐक्ट को एक झोले में डाल दिया है!

आज उपस्थित सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था दस करोड़ मजदूरों को कवर कर रही है; हालाँकि इसमें मजदूरों के साथ-साथ उनके परिवार भी जुड़े हुए हैं। अब अगर बाकी सभी मजदूरों को सामाजिक सुरक्षा देनी है, तो कम से कम 45 करोड़ मजदूरों के लिए तो व्यवस्था



करनी ही होगी। सवाल ये हैं कि इन अतिरिक्त मजदूरों को सामाजिक सुरक्षा देने के लिए संसाधन कहाँ से आएंगे?

हो ये रहा हैं कि जो 10 करोड़ मजदूरों के लिए सामाजिक सुरक्षा का पैसा था, उसे एक बक्स में रख दिया गया हैं और कहा जा रहा हैं कि इसी से अब सभी मजदूरों की सामाजिक सुरक्षा का इंतजाम किया जायेगा! ये कैसे संभव हैं? हमारा कहना है कि सोशल सिक्योरिटी पर इस तरह से कोड बनाना ही गलत है। इसके अतिरिक्त कोड में श्रम परिस्थिति और सामाजिक कल्याण व्यवस्था – इन दोनों में भी घालमेल किया गया है। वही बात ऑक्यूपेशनल सेफ्टी कोड के बारे में भी कही जा सकती हैं।

इसी संदर्भ में हम देख सकते हैं कि हाल ही में दिल्ली में फ़ैक्ट्री में आग लगी हैं और मजदूर मरें हैं। तो यहाँ पर कौन सा कोड मजदूरों को कवरेज देने वाला है? जो उपस्थित विकेन्द्रीकृत 17 के आसपास सेफ्टी कानून हैं, उन्हें तो अमल नहीं किया जा रहा हैं और अब ऊपर से कहा जा रहा हैं कि ये सभी 17 कानून अब एक बरते में डाल दिए गए हैं और इससे सभी की सेफ्टी सुनिश्चित कर दी गयी हैं! लेकिन जो प्रोडक्शन यूनिट पंजीकृत नहीं हैं, उनका क्या? अभी जो दिल्ली में 43 मजदूर फ़ैक्ट्री के अन्दर आग से मर गये, वे जिन यूनिट्स में काम काम कर रहे थे, कोई भी पंजीकृत नहीं थी। कोई जाकर देख रहा हैं कि 10 यूनिट वाला झूठमूठ का 9 मजदूर दिखा रहा हैं, 20 यूनिट वाला 7- 8 मजदूर दिखा रहा हैं, यूनिट पंजीकृत नहीं हैं...अगर उपस्थित सेफ्टी रेगुलेशन ही नहीं अमल किया जा रहा हैं तो नया कानून बनाकर आप क्या कर लगे?

मूल मुद्दे पर लौटते हैं। हम बात कर रहे थे कि कैसे अलग अलग क्षेत्र विशेष वाली सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था का जरूरत हैं। ट्रेड यूनियनों की तरफ से इस संबंध में कंक्रीट सुझाव भी दिए गए हैं। जैसे घरेलू कामगारों का सवाल, इसमें दिक्कत ये हैं कि वे अलग- अलग घरों में काम करती हैं। उनमें से कुछ घर निम्न मध्य वर्ग के भी हैं, कुछ उच्च वर्ग के भी हैं। बात ये आती हैं कि इन घरेलू कामगारों की सामाजिक सुरक्षा के लिए आप एकदम ही निम्न मध्य वर्ग के ऊपर टैक्स तो नहीं लगा सकते हैं। इसीलिए हमारी तरफ से ये प्रस्ताव दिया गया कि जो शहरों में प्रॉपर्टी टैक्स लिया जाता हैं, उसका एक हिस्सा घरेलू कामगारों के लिए अलग से रखा जायें, ताकि उन्हें सामाजिक सुरक्षा प्रदान की जा सके।

मातृत्व लाभ का सवाल भी ले लीजिये। ज्यादातर महिलाओं को इसकी सुविधा नहीं मिलती हैं। इसलिए हमारा कहना था कि केन्द्रीय सरकार की तरफ से एक यूनिवर्सल मैटरनिटी फण्ड बनना चाहिए। महिला किस सेक्टर में काम करती है, जितनी उसकी आमदनी हैं, उसी के अनुसार उस महिला को मैटरनिटी फंड में से पैसा मिलना चाहिए 6 महीने के लिए – डिलीवरी के पहले और डिलीवरी के बाद। एक हिस्सा लम्प-सम दीजिये और दूसरा हिस्सा उसकी आमदनी के हिसाब से दीजिये। यानी ये 6 महीने वो काम पर न जाये लेकिन उसकी आमदनी होती रहे।

अगर सरकार का इरादा स्पष्ट हैं, तो रास्ता भी निकाला जा ही सकता हैं।

## कृषि क्षेत्र का सवाल

जहां तक कृषि मजदूरों का सवाल है— यह देखा जा सकता है कि इस क्षेत्र में सीजनल और नॉन-सीजनल दोनों तरह के मजदूर होते हैं। कुछ जगहों पर लगातार एक के बाद एक फसल आती है। लेकिन अन्य जगहों पर ऐसा नहीं है और एक फसल के बाद विराम का समय आता है। ऐसे हाल में मजदूर फिर कहीं रिक्शा चलाने, कहीं फौक्ट्री में काम करने चले जाते हैं और खेत के समय फिर कृषि से आकर जुड़ जाते हैं। हम काफी समय से यह कहते आये हैं कि कृषि क्षेत्र के लिए अलग से सामाजिक सुरक्षा का प्रावधान होना चाहिए, उसकी स्पष्ट कार्यप्रणाली होनी चाहिए, फंड कहां से आएगा तय होना चाहिए। साथ ही खेत मजदूरों तक वह कैसे पहुंचे, उसकी भी स्पष्ट कार्यप्रणाली होनी चाहिए।

कृषि मजदूर बहुत ही वलनेरेबल है, मोबाइल है, और आज के समय तो बहुत ही कम खेतहर मजदूर अपने गांव में रहते हैं। महिला ही ज्यादातर गाँव में रहती है — वह खेत में काम करती है, खलिहान में काम करती, दूसरों के घरों में जाकर मदद भी कर देती है। खेती का लगातार महिलाकरण हो रही हैं। हमारा यह मानना रहा है कि राज्य को कृषि क्षेत्र के लिए विशेष सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था बनानी चाहिए।

आज के समय होता ये है कि कृषि क्षेत्र में आप सामाजिक सुरक्षा के नाम पर बस लोन देते हो। बीज के लिए, खाद के लिए किसान को लोन दिया जाता है और बाद में वह लोन नहीं चुका पाते हैं तो कर्ज माफी का सवाल आ जाता है। किसानों की फसल के बीमा की भी बात होती है, लेकिन वो ठीक से अमल नहीं हो पाता है और बहुत सारी बेईमानी भी वहां पर होती है। इस संबंधी कानून भी काफी कमजोर है और उनको दुरुस्त करने की जरूरत है। लेकिन कृषि मजदूरों के लिए तो वहां कुछ है ही नहीं। कृषि मजदूरों की हालत ऐसी है कि वे अपनी और से कुछ योगदान देने की हालत में भी नहीं होते हैं और जो भी करना है सरकार को ही करना होगा।

होना यह चाहिए कि जब बजट बनता है तो उस समय कृषि मजदूरों के लिए एक अलग हिस्सा रखना चाहिए। इसी से उनके लिए पीएफ, ईएसआई इत्यादि की व्यवस्था सरकार कर सकती है। उनके पास इतना पैसा नहीं है कि वे पीएफ के लिए अपना योगदान दे सकें, वह सरकार को ही देना पड़ेगा।

आज कृषि क्षेत्र की जो हालत है, उसमें हम ये भी नहीं कह सकते कि आप किसान से पैसा लेकर कृषि मजदूरों को दे। स्वयं किसान आज संकट में हैं, उन्हें समय पर न्यूनतम समर्थन मूल्य नहीं मिलते हैं। अभी मैं झारखंड गई थी तो वहां देख रही थी कि बहुत सारे ऐसे इलाके हैं जो केवल सब्जी उगाते हैं। झारखंड से बिहार, बंगाल, छत्तीसगढ़ भी सब्जी जाती है। वहां भी किसान परेशान हैं कि उनके पास सब्जी के रख-रखाव के लिए कोल्ड स्टोरेज नहीं है, बहुत सारी सब्जी खराब हो जाती है। उत्पादन लागत भी पूरी मिलती नहीं है।

हम यह तो कह नहीं सकते कि किसानों से टैक्स लेकर कृषि मजदूरों को सामाजिक सुरक्षा दो। किसान स्वयं संकट में हैं और इस स्थिति में भूमिहीन एवं खेत मजदूरों के

लिए सरकार को स्वयं फंड देना होगा। हमारा मानना है कि सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था में विकेंद्रीकरण का पहलू होना चाहिए। सभी को एक ही बॉक्स में डालकर, एक ही जूता सभी को पहना देना – ये संभव नहीं हैं। विकेंद्रीकरण से संसाधन इकट्ठा करना भी आसान हो जाता है। हरेक क्षेत्र की अपनी विशिष्टताएं होती हैं और सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था भी उन्हीं को ध्यान में रखकर निर्माण करनी चाहिए। जैसे आप कंस्ट्रक्शन, बिल्डिंग, फिशरिज के लिए सेस ले रहे हो और आपको संसाधन निकालना है तो आपको पता है कि आप कवरेज कैसे कर रहे हो, फंड कैसे ला रहे हो, कहाँ कॉन्ट्रिब्यूशन ले रहे हो इत्यादि।

## सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था कैसी हो?

जैसे हॉकर और वेंडरज का सवाल है, उनका तो पहला इश्यू यह था कि उनके कामों को कानूनी मान्यता मिलें। आज उनके लिए शहर में स्पेसिंग का भी सवाल है। उन्हें कभी म्युनिसिपलिटिटी तंग करती है तो कभी पुलिस तंग करती है। पुलिस कभी उन्हें उठा कर फेंकती है तो कहीं म्युनिसिपलिटिटी उनसे पैसा बसूलती है – ये उनके बहुत बड़े मुद्दे हैं। वे आम मालिक-मजदूर वाली सामाजिक संबंध में भी नहीं आते। इन पहलुओं को देखकर ही उनके लिए सोशल सिक्योरिटी की खास व्यवस्था भी बनानी पड़ेगी। आम फैक्ट्री मजदूर के लिए लागू आम सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था आप उन पर थोप नहीं सकते हो, ये उनपर फिट ही नहीं बैठेगी।

मेरा कहना यह है कि सोशल सिक्योरिटी कवरेज तो सबको मिलना चाहिए, इसमें कोई शक नहीं। लेकिन इसके लिए युनिवर्सल एक कानून बनाकर आप सब की कवरेज को सुनिश्चित कर पायेंगे – यह सबसे बड़ा प्रश्न है, यह संभव नहीं है। मेरा अनुभव यह है कि विश्व में एक भी ऐसा देश नहीं है कि आप सबको सामाजिक सुरक्षा कवरेज एक टोकरी में दे देंगे। समाजवादी देशों की बात अलग है, वे सभी के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, मातृत्व लाभ, पेंशन इत्यादि का सरकारी रूप से दायित्व लेते हैं, उसके लिए फंड और बजट तय करते हैं, उन्हें युनिवर्सल करते हैं। लेकिन हमारे जैसे देश – जहां पब्लिक सेक्टर भी है और प्राइवेट सेक्टर भी है, और जहाँ इतना बड़ा असंगठित क्षेत्र है, यहां बात अलग है। यहाँ तो सरकार ज्यादातर मजदूरों के लिए कोई उत्तरदायित्व ले ही नहीं रही है। अभी तक जो हमारी सोशल सिक्योरिटी व्यवस्था है, वह मालिक और मजदूर के अंशदायी सिस्टम है, गवर्नमेंट का इसमें कोई लेना देना नहीं है। अगर आज गवर्नमेंट इसके अन्दर हाथ डाल रही है, तो गवर्नमेंट फंड कहां से ला रही है वह भी बताये। गवर्नमेंट अपने बजट में से कितना फंड देगी, वह बताये।

यही बात सोशल सिक्योरिटी कोड में गायब है! इसलिए हमने शुरूआत यहां से किया कि जब कोड का मसौदा वेबसाइट पर डाला गया, तो हमारी पहली आपत्ति ये थी कि जो अभी 15 सोशल सिक्योरिटी ऐक्ट चल रहा है, उसको गवर्नमेंट कृपया न छुए। जो असंगठित क्षेत्र में सोशल सिक्योरिटी देने का 2008 का कानून है, गवर्नमेंट उस पर काम करे। ताकि जो लेफ्ट-आउट सेक्टर है, उस पर सरकार अलग अलग स्कीम बनाकर सबको कवरेज दे। यह हमने सरकार को बताया। उसके बाद सरकार ने मालिकों की भी सुनी होगी, और हमने भी मेमोरेंडम दिया कि हम बातचीत करने के लिए, नई योजना बनाने

के लिए, सरकार के साथ बैठने के लिए तैयार हैं। लेकिन कृपया पुराने वाली योजनाओं को न छुएं। उनका सेट-अप बना हुआ है, उसका प्रबंधन बना हुआ है, उनका पैसा कहां से आ रहा है कैसे वितरण होगा, हर चीज तय की हुई है। अगर कार्यान्वयन बेहतर करना हो तो बेशक हम सरकार के साथ बातचीत के लिए और एक साथ काम करने के लिए तैयार हैं।

जब हम लोगों ने पहले मसौदे के जवाब में ये सारी चिंताएं प्रकट की तो अगले वाले मसौदे में सरकार ने 15 कानूनों में से सिर्फ दो (ईपीएफ और ईएसआई) को कोड से हटा दिया और 13 का नाम जारी रखा। हम लोगों ने इस पर भी आपत्ति जताई और कहा कि हम इससे सहमत नहीं हैं। हमने बार-बार कहा कि उपस्थित सामाजिक सुरक्षा योजनाओं को न छुएं। पुरानी योजनाओं में जो मजदूर कवर नहीं हैं, उनके लिए सोचें, उनके लिए नई स्कीम लेकर आएं। अगर काम एक तरह का है और उनके लिए संसाधन लाने का स्रोत एक है तो उनको एक साथ किया जा सकता है, लेकिन सभी को एक साथ लाकर रखने से मजदूरों को न्याय नहीं मिलेगा, विकेंद्रीकृत मॉडल से ही यह हो पायेगा। बहुत सारे मेहनतकशों को कामगार के रूप में कानूनी पहचान नहीं मिली है, वें न्यूनतम वेतन की लिस्ट में भी नहीं आते। उन्हें जरूर अन्दर लाया जायें। लेकिन पुरानी स्कीमों को न छुएं।

इसके बाद जो मसौदा आया उसमें हमने देखा कि इस बार 7 एक्ट हटा दिये गए हैं, और 8 का जिक्र किया है। लेकिन अजीब बात यह थी कि जो उस कोड की बॉडी प्रस्तावित हुई, उसमें इन सभी 7 एक्ट का जिक्र किया हुआ था! उसमें ईएसआई और पीएफ का भी जिक्र था! यानी शुरुआत में आठ की बात कर रहे हो, लेकिन अंदर आप सभी में दखल देने की बात कर रहे हो! ये साफ नहीं था कि मसौदा करना क्या चाहती है?

इसलिए हमारा मानना है कि सरकार के अन्दर गंभीरता नहीं है। सामाजिक सुरक्षा के ऊपर इस कोड का असर बुरा ही होगा। जो उपस्थित सामाजिक सुरक्षा व्यवस्थाएं हैं, वे इससे कमजोर हो जाएगी और नया कोई क्षेत्र कवर भी नहीं होगा। बातें तो बहुत की जा रही हैं कि हम रजिस्टर करेंगे, सिस्टम बनायेगे लेकिन हकीकत ये हैं कि अभी तक की विकेंद्रीकृत व्यवस्था के अन्दर भी हमारे बीड़ी मजदूर 55 प्रतिशत से ज्यादा पंजीकृत नहीं हुए। जबकि निर्माण मजदूर कल्याण बोर्ड का सिस्टम कितना पुराना है!

अगर कंस्ट्रक्शन बोर्डों में पंजीकरण की बात करें तो आप देख सकते हैं कि आज भी यह संख्या काफी कम है। किसी राज्य में 10 प्रतिशत, किसी में 20 प्रतिशत, या किसी में 30 प्रतिशत मजदूर ही पंजीकृत हैं। अभी दिल्ली में जो मेट्रो लाइन बन रही है, यहाँ बहुत सारे निर्माण मजदूर हैं। हमने प्रस्ताव रखा कि यहाँ वर्क साईट के पास ही कोई जगह और तारीख नामित कर दें, वहां ऑफिसर बैठें और सीधा मजदूरों को रजिस्टर कर लें। यहाँ किसी कांटेक्टर या यूनियन वाले को भी बीच में आने की जरूरत नहीं। लेकिन कुछ नहीं किया गया।

अभी जब व्यवस्था विकेंद्रीकृत हैं, तब कहा जाता है कि सरकारी विभाग में पर्याप्त वर्कफोर्स नहीं है, इसलिए पंजीकरण का काम नहीं हो रहा है। लेकिन अभी अगर सभी सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था को एक टोकरी में डाल दोगे तो समस्या तो बढ़ ही जायेगी न!

हकीकत यह हैं कि सोशल सिक्योरिटी कोड से लेफ्ट-आउट वर्कर को कोई लाभ नहीं पहुंचेगा और जो वर्कर पहले से ही कवर्ड है, उनके लिए भी कार्यान्वयन में प्राब्लम हो जायेगी।

### **कंसल्टेशन प्रक्रिया का सवाल**

सोशल सिक्योरिटी कोड को लेकर जो कंसल्टेशन प्रक्रिया चलाई गई, उसमें भी समस्या थी। पहले तो उन्होंने हमारी सुनी ही नहीं और बाद में खानापूर्ति के लिए रीजनल कंसल्टेशन का बहाना बनाया गया। एक साथ ही 7-8 राज्यों में रीजनल कंसल्टेशन आयोजित की गयी और ट्रेड यूनियनों को कहा गया कि आप अपने स्थानीय किसी व्यक्ति को नोमिनेट कर दें! यह पहले कभी नहीं हुआ कि मजदूर प्रतिनिधियों के आने जाने का खर्चा देने के लिए भी मना कर दिया गया। यह कंसल्टेशन का प्रोफेशनल तरीका नहीं हैं। बस एक दिन के लिए लोकल कंसल्टेशन करके आप बस खानापूर्ति ही कर रहे हों। आप बस रिकॉर्ड बनाना चाहते हो कि इतने सारे संगठनों ने कंसल्टेशन में हिस्सा लिया! इसलिए तथाकथित रीजनल कंसल्टेशन को सभी केन्द्रीय यूनियनों ने बायकाट किया।

सिर्फ यही नहीं, जब ऑक्यूपेशनल सेपटी कोड पर अभी बातचीत चल ही रही थी कि तभी संसद में विधेयक पेश कर दिया गया। सोशल सिक्योरिटी कोड पर भी कह दिया गया हैं कि सारी कंसल्टेशन पूरी हो चुकी है। लेकिन यह सच्चाई नहीं है और सभी केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों ने कंसल्टेशन का बहिष्कार किया हैं। सोशल सिक्योरिटी कोड के पहले ड्राफ्ट में हम लोगों ने संशोधन दिया, दूसरा ड्राफ्ट आया तो हम लोगों ने देखा कि यह तो पहले वाले से भी खराब हैं! किसे और कैसे सामाजिक सुरक्षा दी जायेगी, बिलकुल स्पष्ट नहीं हैं, किसी भी ड्राफ्ट में।

### **सार्वभौमिक बनाम क्षेत्र आधारित सामाजिक सुरक्षा**

हमने शुरुआत में ही कहा था कि जिन लोगों को सोशल सिक्योरिटी मिला हुआ हैं, उनको मत छोड़ो। जो 2008 की कानून है, उसके मुताबिक सेक्टर वाइज सबके लिए स्कीम बनाओ, फंडिंग के लिए इंतजाम करो, सेंट्रल बजट में से कुछ उसके लिए फंड दो। अगर सरकार में सही में कमिटमेंट हैं तो वह सभी स्टैक होल्डर्स को साथ लेकर चलें, साथ बैठ कर सभी योजनाओं को बेहतर बनाने की दिशा में चलें, फंडिंग का सवाल भी स्पष्ट करें। सरकार को यह बात खुलकर कहनी चाहिए।

जहाँ तक यूनिवर्सल सोशल सिक्योरिटी के मॉडल का सवाल हैं, तो वह हमारा लक्ष्य जरूर हैं। अगर सबको आप शिक्षा, स्वास्थ्य कवर प्रदान करते हो, अगर सभी को पीने का पानी और रहने के लिए घर देते हो तो सामाजिक सुरक्षा का बहुत बड़ा हिस्सा ऐसे ही कवर कर लोगे। मातृत्व लाभ के अंदर आप अगर नॉन-वोकिंग महिलाओं को भी सुविधा देते हो तो ऐसे भी कवर बढ़ जायेगा। यूनिवर्सल सोशल सिक्योरिटी अच्छी चीज हैं, सभी को मिलनी भी चाहिए, लेकिन हम बात कर रहे हैं कि आज की तारीख के सन्दर्भ में। आज की स्थिति को देखकर ही आप रणनीति बनाते हो। यूनिवर्सल सोशल सिक्योरिटी जरूर हमारा दीर्घकालीन लक्ष्य हैं।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद बहुत सारे देशों में सोशल सिक्योरिटी की विस्तृत व्यवस्था बनाई गई। इसमें सोवियत संघ का डर भी एक प्रमुख कारण था: कि अगर आप मजदूरों को न्यूनतम सुविधा नहीं दोगे तो वे विद्रोह कर सकते हैं। नौकरी चली जाने की स्थिति से निपटने के लिए भी व्यवस्था की गई। हिन्दुस्तान में भी आजादी से पहले से ही मजदूर संगठन सभी के लिए सामाजिक सुरक्षा की मांग करते आये हैं। यह विजन जरूर था।

लेकिन यह कहना भी गलत होगा कि मजदूर संगठन सिर्फ संगठित क्षेत्र के बारे में ही सोचते हैं। जैसे यह कहना कि पीएफ केवल संगठित सेक्टर के लिए है, यह गलत है। पीएफ के बेसिस पर ही बहुत सारे असंगठित क्षेत्र के मेहनतकशों को 700, 1000 और 1200 रु. की पेंशन मिल रही है। अनेक छोटे सेक्टर हैं, जहा प्रोविडेंट फण्ड कटता है और मजदूर का भी कुछ शेयर जाता है। यह जरूर है कि उसमें मालिक-मजदूर का सम्बंध है, तभी वहां प्रोविडेंट फण्ड की व्यवस्था हो पा रही है। लेकिन वह भी असंगठित क्षेत्र है, छोटा सेक्टर है, इस पर संशय नहीं होना चाहिए। ईएसआई भी छोटे सेक्टरों को कवर करती है, पहले 5000 रूपए पर था उसके बाद 10000 फिर आज के समय 21,000 रूपया है। यह भी बहुत ही छोटा, मिनि-माइक्रो सेक्टर है, जहाँ यह हो रहा है।

जहाँ तक असंगठित क्षेत्र के उन इलाकों का सवाल है, जहाँ मालिक-मजदूर संबंध स्पष्ट नहीं हैं, वहां ट्रेड यूनियनों का कहना रहा है कि उनमें मालिक वाला जो शेयर है, वह सरकार को देना चाहिए। जैसे आंगनबाड़ी, आशा वर्कर, मिड डे मील वगैरह जो स्कीम वाले हमारे वर्कर हैं, जिनका वर्कर का स्टेटस भी नहीं है। उनके लिए सरकार ईएसआई का प्रबंध करने के लिए मालिक का जो शेयर है, वह खुद सरकार दे। हमारा यह कहना था कि ईएसआई दोगे तो कम से कम ये तो मानोगे कि वह वर्कर है।

हम जब युनिवर्सल सोशल सिक्योरिटी कह रहे हैं तो इसका मतलब है कि 100 प्रतिशत मजदूरों का सोशल सिक्योरिटी कवर होना चाहिए। शिक्षा, स्वास्थ्य हर परिवार को सौ प्रतिशत मिले, इसके अलावा जिनको प्राइवेट सेक्टर में जाना है जाते रहे। लेकिन जनसंख्या का बड़ा हिस्सा सरकार को कवर करना चाहिए। सरकार के जरिये से ही सौ प्रतिशत हरेक परिवार को मिलना चाहिए। वहीं बात हम पेंशन के सन्दर्भ में कह रहे हैं। हम मांग करते हैं कि 6000 रुपये हरेक व्यक्ति को पेंशन देना ही पड़ेगा। रहा सवाल पैसे का – तो सरकार कारपोरेट घरानों को इतनी सब्सिडी दे रही है तो अपनी ही पब्लिक की खरीद की क्षमता बढ़ाने के लिए क्या आप 6000 रुपये का इंतजाम भी नहीं कर सकते?

हम कह रहे हैं कि जो स्कीम अभी चल रही है, उन्हें मत छोड़ो। उनके अलावा जो मजदूर छूट गये हैं, उनके लिए अतिरिक्त स्कीम बनाओ और फंड का प्रावधान करो। सरकार कहां से फण्ड मैनेज करेगी, उसके लिए भी हम आइडिया दे रहे हैं, जैसे शहरों में प्रॉपर्टी टैक्स का एक हिस्सा घरेलू मजदूरों के लिए सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था बनाने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। लेकिन सोशल सिक्योरिटी कोड में सरकार नहीं कह रही है कि सरकार ही इन संसाधनों का प्रावधान करेगी। सबसे बड़ी बात है कि सरकार की मंशा



ही नहीं हैं सबको यूनिवर्सल सोशल सिव्योरिटी देने की। वे गलत बोल रहे हैं कि हम तो यूनिवर्सल कवरेज देना चाह रहे थे, ट्रेड यूनियनों ने ही शोर मचा दिया है। ट्रेड यूनियनों ने कब कहा कि सभी को कवरेज मत दो?

## क्रियान्वयन का सवाल

ट्रेड यूनियन यह कहते हैं कि प्रयोग के स्तर पर भी आप अतिरिक्त स्कीम बना सकते हैं, उससे पता भी चल जायेगा कि उनमें क्या-क्या कठिनाई हैं। लेकिन जो व्यवस्था ठीक से चल रही हैं, उनको एकाएक खत्म कर देने का कोई लॉजिक नहीं है। जैसे ईएसआईसी की मीटिंगों के अन्दर वो ऑप्शन की बात कर रहे हैं। ऑप्शन किसकी? किसी भी प्राइवेट कम्पनी के मेडिकलेम की! लेकिन अगर आप ऐसे ऑप्शन देते हो तो कोई भी मालिक बोलेगा कि मेरे यहाँ काम करना है तो प्राइवेट ऑप्शन लो, लेकिन ईएसआई में तुम नहीं जाओगे! उसकी भी कोई गारंटी नहीं है कि मजदूर को मिलेगा ही। पीएफ के अन्दर भी ऑप्शन की बात की जा रही है – कि प्राइवेट कम्पनी की जो पेंशन स्कीम आ रही है, तुम वह ले लो। सरकार जब यह काम कर रही है तो हम कैसे सरकार के इंटेशन पर विश्वास करें?

यूनियनों के विरोध करने के बावजूद पीएफ का 15 परसेंट पैसा मार्केट के अन्दर लगा दिया गया और वह डूब गया। हम कह रहे थे इस पैसे को प्राइवेट स्टॉक मार्केट में लगाओगे तो यह पैसा डूब जायेगा। और यह किसका पैसा डूबा? वर्कर का। डूबने के बाद आप कहोगे कि अब जो ब्याज रेट पहले देते थे, वह नहीं देंगे! पैसा वर्कर का है, और तुम रेट डिस्माइड कर रहे हो कि क्या रेट दोगे? मेरा पैसा जबरस्ती मार्केट में लगा रहे हो?

सरकार की जो आयुष्मान स्कीम है, सरकार उसके लिए फंड नहीं देना चाहती है। वह उसको ईएसआईसी के उपर थोप रही है। 5 दिसम्बर, 2019 को ईएसआईसी की मीटिंग हुई थी, मीटिंग के अन्दर हमने ये देखा कि सारा का सारा उत्तरदायित्व ईएसआईसी पर थोप रहे हैं। एक मजेदार बात यह भी है कि हमने जोर दिया था कि जो हमारे मजदूर पीएफ में पंजीकृत होने से बाहर थे, उनको अन्दर लाया जाय। जब अंदर लाया गया तो सरकार ने उस आंकड़े को इस तरह इस्तेमाल किया कि देखो, ईएसआई नंबर कितना बढ़ा है, यानी करोड़ों नौकरी पैदा की गई हैं। दरअसल वें नई नौकरी थी ही नहीं, जो लोग नौकरी कर रहे थे और पीएफ में पंजीकृत नहीं थे, सिर्फ उन्ही को मुहिम चलाकर कवरेज के अन्दर लाया गया। यानी वें नये रोजगार नहीं थे।

बहुत सी महिला वर्कर है, जिन्हें मजदूर की श्रेणी में नहीं गिना जाता। जैसे छोटा पारिवारिक बिजनेस है, आप पापड़ बनाते हैं, आपका पशु पालन का काम है या पैकिंग का काम है, उनमें अक्सर परिवार के पुरुष और महिला दोनों काम करते हैं और कई बार महिला का रोल पुरुष से भी ज्यादा होता है। लेकिन उनमें काम की गिनती में पुरुष की ही गिनती होती है, महिला बाहर रह जाती है। यह बात सच है। ऐसे मामलो के लिए हम कहते हैं कि मातृत्व लाभ इन सभी महिलाओं के लिए यूनिवर्सल कर दो। मतलब कि सभी महिलाएँ मातृत्व लाभ में कवर हो जाये। जिन महिलाओं को बेहतर कवर मिला हुआ है जैसे सरकारी कर्मचारी, उनको तो अलग से बेहतर सुविधा मिली हुई है और वे इसको



लेने के लिए नहीं आएगी। लेकिन बाकी जो तमाम महिलाएँ बच जाती हैं, क्यों नहीं उनको यूनिवर्सल मातृत्व लाभ दिया जायें?

जहाँ तक क्रियान्वयन संबंधी कुछ सवाल हैं, जैसे बहुत सारे लोग अलग-अलग काम करते हैं, तो उन्हें कवरेज कैसे दिया जाये? उसका समाधान इस बात में है कि आप उसे समग्र रूप से असंगठित क्षेत्र के मजदूर के रूप में कवरेज दो। आप कार्ड में ही लिख दो कि यह व्यक्ति इस तरह के अलग-अलग काम करता है। फिर वह कार्ड सुनिश्चित करेगा कि उस व्यक्ति को हेल्थ कवरेज कहां से मिलना है, कैसे मिलना है इत्यादि। क्यों न कार्ड की पोर्टेबिलिटी सुनिश्चित की जाये? आज जब आधार कार्ड के बारे में इतने सारे दावे किए जा रहे हैं, तो क्यों न मजदूरों के कार्डों में भी पोर्टेबिलिटी लाई जाये?

प्रोविडेंट फण्ड के संबंध में हम बहुत समय से कह रहे हैं कि पैसे निकालने के लिए ही मजदूर को बार-बार आना पड़ता है, उसी में उसका सारा पैसा खर्च हो जाता है। पोर्टेबिलिटी उसका समाधान है। अब तो सारा सिस्टम कंप्यूटराइज भी है। वही बात मातृत्व लाभ और पेंशन के बारे में भी लागू है। जैसे हमने हाल के ईएसआईसी मीटिंग में भी सवाल उठाया कि मजदूर अगर अपने घर जाता है तो उसका कार्ड वहां भी मान्य होना चाहिए। अब ऐसा तो नहीं हो सकता कि मजदूर लाभ उठाने के लिए पहले ट्रेन से वापस आये और सुविधा लें। यानी पोर्टेबिलिटी होनी चाहिए।

कंस्ट्रक्शन वर्कर बोर्ड के बारे में भी हमने यह मुद्दा उठाया कि बड़ी संख्या में मजदूर माइग्रेंट वर्कर है, जो 6 माह, 3 माह परिवार के साथ अलग स्टेट में माइग्रेंट करता है। ईट-भट्टे, माइनिंग इन सब में तो माइग्रेंट वर्कर ही ज्यादा हैं। वहां भी हमारा यही कहना है कि अगर मजदूर नें एक बार कहीं पीएफ दिया है तो वही कार्ड दूसरी जगह भी चलना चाहिए। नये मालिक के पास जाने पर पुराने पीएफ एकाउंट पर ही पैसा जुड़ते जाना चाहिए, यही बात हम ईएसआई के लिए कह रहे हैं और यही बात हम कंस्ट्रक्शन वर्कर के लिए भी कह रहे हैं। ये सब कार्यान्वयन समस्याएं जरूर हैं लेकिन उनका रास्ता भी निकाला जा सकता है।

# सोशल सिक्योरिटी कोड, 2019 के बारे में भारतीय मजदूर संघ का वक्तव्य

सोशल सिक्योरिटी कोड, 2019 का चौथा संस्करण देश के मजदूरों के लिए पूरी तरह निराशाजनक है – श्रम मंत्रालय में जमा कराई अपनी टिप्पणी में बीएमएस ने ऐसे कहा है। बीएमएस की टिप्पणी में मसविदे के प्रत्येक अनुच्छेद पर संगठन की प्रतिक्रिया दी गई है और मसविदे पर उसकी व्यापक आपत्तियां भी दर्ज की गई हैं।

बीएमएस का मानना है कि सोशल सिक्योरिटी कोड का नया मसविदा असल में 8 मौजूदा सामाजिक सुरक्षा कानूनों के ही अलग-अलग टुकड़ों को जोड़ कर बना दिया गया है। यह तरीका कोड निर्धारित करने के उद्देश्य के विपरीत जाता है। वेज कोड के विपरीत सोशल सिक्योरिटी कोड सार्वभौमिक नहीं है यानी यह कोड देश के सभी मजदूरों को सभी लाभ देने का वादा नहीं करता। बल्कि यह कोड सुविधासंपन्न “कर्मचारियों”, “मजदूरों, और अभागे “उजरती मजदूरों” के बीच वर्ग विभाजन पैदा करके उनके लिए अलग-अलग तरह के प्रावधान करता है।

पहले मसविदे में सबके लिए सामाजिक सुरक्षा के अधिकार, सभी मजदूरों को लगभग 14 प्रकार के सामाजिक सुरक्षा लाभ और स्वयं प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में एक केंद्रीय शीर्ष काउंसिल के गठन की बात कही गई थी। इसके अलावा मजदूरों को विभिन्न योजनाओं के लाभ लेने में मदद देने के लिए प्रत्येक स्थानीय निकाय में सुरक्षा मित्रों को शामिल करने, एक पृथक सामाजिक सुरक्षा कैंडर खड़ा करने, गणना के समय न्यूनतम वेतन दरों से नीचे नहीं जाने का आश्वासन देने, सेवानिवृत्ति के बाद भी लाभ जारी रहने, ग्रेच्युटी के लिए पृथक निधि की व्यवस्था करने आदि जैसे बहुत ही लाभदायक प्रावधान किए गए थे। नए मसविदे में से ये सारे प्रावधान हटा लिए गए हैं।

बीएमएस ने मांग की है कि ग्रेच्युटी के लिए पात्रता की शर्त पांच साल से घटा कर एक साल कर दी जाए क्योंकि 80 प्रतिशत मजदूर असंगठित क्षेत्र की इकाइयों में या ठेके पर मजदूरी कर रहे हैं।

इस पूरी कवायद का इरादा यह देखकर संदेहास्पद लगने लगता है कि मजदूरों को ईएसआई व्यवस्था से निकाल कर उन्हें एनपीएस व्यवस्था में डालने की बात कही जा रही है। दुनिया भर में ऐसी कोई स्वास्थ्य बीमा व्यवस्था नहीं है जो लाभों के लिहाज से ईएसआई के मुकाबले की हो और सरकारी सहायता के बिना लाभदायक ढंग से चल रही हो। ईपीएफओ ने खुद अपने एक अध्ययन में ये बताया है कि एनपीएस के मुकाबले ईपीएस मजदूरों के लिए ज्यादा लाभदायक है।

इस कोड के तहत ज्यादातर अधिकार नौकरशाही को सौंप दिए गए हैं जिनमें सामाजिक सुरक्षा निधि में अंशदान की दर में कटौती करने या किसी भी उद्यम को इस कानून से छुटकारा देने का अधिकार भी शामिल है। ईपीएस में सरकार के 1.16 प्रतिशत के हिस्से को भी वापस ले लिया गया है। ट्रेड यूनियनों द्वारा मौजूदा सामाजिक सुरक्षा कानूनों

में जिन खामियों के लिए ध्यान आकर्षित कराया गया था, उनका इस कोड में बिल्कुल भी ध्यान नहीं दिया गया है ।

विभिन्न योजनाओं के क्रियान्वयन तथा ईएसआई मेडिकल कॉलेजों और अस्पतालों के संचालन में निजी संस्थाओं और कंपनियों को शामिल करना भी आपत्तिजनक प्रावधान है। बहुत सारे लाभों के लिए मालिकों को व्यक्तिगत रूप से जिम्मेदार बनाने की कोशिश की जा रही है। इसके स्थान पर सरकार को सामाजिक बीमा की व्यवस्था लागू करनी चाहिए मगर व्यावसायिक बीमे की व्यवस्था नहीं लागू करनी चाहिए। बहुत सारे भत्तों को वेतन की परिभाषा से बाहर कर दिया गया है जिससे मालिकों को ईपीएफ फंड में अपना अंशदान देने से बचने का रास्ता मिल जाएगा।

सरकार को यह समझना चाहिए कि वह ईएसआई और ईपीएफ जैसे उन प्रमुख सामाजिक सुरक्षा कानूनों को बदलने की कोशिश कर रही है जिनको डॉ. अंबेडकर जैसे महान विजनरी ने खुद तय किया था। देश के भाग्य को नया रूप देने की अपने ऐतिहासिक कार्यभार को सरकार ऐसे कामचलाऊ रवैये से गवाए नहीं। लिहाजा, बीएमएस सरकार द्वारा पेश किए गए सोशल सिक्योरिटी कोड के चौथे मसविदे को पूरी तरह खारिज करता है और सरकार से निवेदन करता है कि वह बीएमएस द्वारा व्यक्त की गई आपत्तियों और सुझावों के आधार पर दूसरे मसविदे में ही संशोधन करे ताकि सभी मजदूरों को लाभ पहुंच सके।

**सी के साजी नारायण**

**राष्ट्रीय अध्यक्ष**

**दिनांक : 28.10.2019**

# सोशल सिक्योरिटी कोड, 2019 पर सेंटर ऑफ इंडियन ट्रेड यूनियन्स (सीटू) की राय, टिप्पणियां और ठोस सुझाव

सोशल सिक्योरिटी कोड, 2019 के तीसरे संस्करण को जारी करते हुए सरकार ने दावा किया है कि उसमें संगठित और असंगठित क्षेत्र के मजदूरों की सामाजिक सुरक्षा से संबंधित आठों मौजूदा कानूनों को समाहित किया गया है और लिहाजा, इस कोड को पारित करने के साथ ही इन कानूनों को निरस्त कर दिया जाएगा। इस मसविदे को 17 सितंबर 2019 को सभी संबंधित पक्षों के बीच चर्चा और सलाह-मशविरे के लिए जारी किया गया था। यहां जिन आठ कानूनों की बात की जा रही है वे इस प्रकार हैं: (1) कर्मचारी राज्य बीमा कानून, (2) कर्मचारी प्रॉविडेंट फंड एवं मिश्रित प्रावधान कानून, (3) कर्मचारी क्षतिपूर्ति कानून, (4) प्रसूति लाभ कानून, (5) ग्रेच्युटी भुगतान कानून, (6) असंगठित श्रमिक सामाजिक सुरक्षा कानून, (7) भवन एवं अन्य निर्माण मजदूर कल्याण अधिभार कानून, (8) सिनेवर्कर्स वेलफेयर फंड कानून।

सीटू को सभी मेहनतकशों को सार्वभौमिक सामाजिक सुरक्षा मुहैया कराने के नाम पर की जा रही कोडीफिकेशन की इस समूची कवायद पर गंभीर आपत्ति है। सरकार अंतिम व्यक्ति तक सामाजिक सुरक्षा का लाभ पहुंचाने की दुहाई देकर इस तथाकथित कोडीफिकेशन कवायद को जायज ठहराने की कोशिश कर रही है।

वास्तविकता यह है कि सोशल सिक्योरिटी कोड 2019 की आड़ में सरकार बीडी, लौह-अयस्क खनिज, माइका खनिज, लार्डमस्टोन और डोलोमाइट खदानों जैसे उद्योगों में काम करने वाले मजदूरों के लिए पहले से मौजूद सामाजिक सुरक्षा अधिकारों और प्रावधानों को खत्म करने का प्रयास कर रही है।

कराधान कानून संशोधन अधिनियम, 2017 के माध्यम से बीडी मजदूर कल्याण अधिभार कानून, 1971 को पहले ही रद्द किया जा चुका है। इसके फलस्वरूप 1 जुलाई 2017 के बाद बीडी अधिभार की वसूली बंद कर दी गई है। लौह अयस्क खान, मैंगनीज अयस्क खान और क्रोम अयस्क खान श्रमिक कल्याण अधिभार (तीन अधिभार), माइका खान श्रमिक कल्याण निधि अधिभार, लार्डमस्टोन तथा डोलोमाइट खान श्रमिक कल्याण निधि अधिभार (दो अधिभार) और सिनेवर्कर्स कल्याण अधिभार – इन सभी को 21.05.2016 से संबंधित कानूनों में संशोधन करके खत्म किया जा चुका है। इन सभी क्षेत्रों में काम करने वाले मजदूरों को कई अलग-अलग प्रकार के क्षेत्रवार कल्याणकारी लाभ देने की बात कही गई है जो इन क्षेत्रों से वसूल किए जाने वाले अधिभार के आधार पर दिए जाएंगे। मगर, सोशल सिक्योरिटी कोड 2019 में न तो इन क्षेत्रों के लिए अलग-अलग सामाजिक सुरक्षा योजनाओं की व्यवस्था की गई है और न ही कोई निधि निर्धारित की गई है। इसका नतीजा यही होगा कि इन सारे उद्योगों में काम करने वाली विशाल श्रम शक्ति किसी भी तरह की सामाजिक सुरक्षा सुविधाओं से वंचित हो जाएगी। इस तरह की बेदखली के माध्यम से क्या आप सार्वभौमिकता

की कल्पना भी कर सकते हैं?

दूसरी बात, सार्वभौमिक सामाजिक सुरक्षा कवरेज की पात्रता तय करने के लिए किसी प्रतिष्ठान में कामगारों की न्यूनतम संख्या का नियम इस सकारात्मक कदम को कमजोर कर देता है। ईपीएफ की पात्रता के लिए किसी प्रतिष्ठान में 20 मजदूरों का होना जरूरी है और सेंट्रल बोर्ड ऑफ ट्रस्टीज की कई बार की जा चुकी सर्वसम्मत सिफारिशों के बावजूद इसमें कमी नहीं की गई है। ऐसा तब है जबकि इस प्रावधान के बावजूद ईपीएफ योजना आज भी 50 प्रतिशत से ज्यादा मजदूरों को नहीं मिल पा रही है। क्योंकि अवहेलना करने वालों पर जुर्माने की व्यवस्था बहुत कमजोर है और क्रियान्वयन मशीनरी बहुत क्षीण है इसलिए ज्यादातर मजदूरों को ये सुविधा भी नहीं मिल पाती। मगर अब तो सोशल सिक्योरिटी कोड की आड में इन नाममात्र के प्रावधानों को भी कमजोर करने की कोशिश की जा रही है। ईएसआई के मामले में भी किसी प्रतिष्ठान के मजदूरों को ईएसआई की सुविधा पाने के लिए उस प्रतिष्ठान में कम से कम 10 मजदूरों का होना जरूरी है। इसके बावजूद ईएसआई योजना के अंतर्गत आने वाले मजदूरों की संख्या बहुत छोटी रहती है और ज्यादातर मजदूरों को यह मामूली सुविधा भी नहीं मिल पाती। इससे ये भी पता चलता है कि केंद्र और राज्य, दोनों स्तरों पर क्रियान्वयन तंत्र की कमजोरियों और मिलीभगत की वजह से कितने सारे मजदूरों को ये साधारण लाभ भी नहीं मिल पा रहे हैं।

### कर्मचारी भविष्य निधि के बारे में

हालांकि दावा तो ये किया जा रहा है कि सोशल सिक्योरिटी कोड 2019 में ईपीएफ एण्ड एमपी कानून को भी समाहित कर लिया जाएगा मगर इसके समानांतर सरकार ईपीएफ एण्ड एमपी कानून 1952 में संशोधन का भी प्रस्ताव ले आयी है जो कि अजीब बात लगती है। संशोधित प्रस्तावों में बहुत सारे ऐसे आपत्तिजनक प्रावधान किए गए हैं जिनसे सिर्फ मालिकों को फायदा होगा। इसके लिए वेज (तनखाह) की परिभाषा को कमजोर किया जा रहा है, ईपीएफ में मालिकों के अंशदान में कटौती का प्रस्ताव रखा गया है, अंशदान की दर को और कम करने के लिए कार्यकारिणी को अधिकार दे दिए गए हैं, न्यू पेंशन स्कीम को अपनाने की छूट दे दी गई है जिससे मौजूदा कर्मचारी पेंशन योजना के स्थान पर अंशदान आधारित पेंशन व्यवस्था लागू हो जाएगी। सीटू ने मालिकों के हित में किए गए इन सारे प्रतिगामी संशोधनों का सख्त विरोध किया है। ईपीएफ एंड एमपी कानून 1952 में संशोधन के उपरोक्त प्रावधानों पर सीटू अपनी विस्तृत प्रतिक्रिया पहले ही सरकार को दे चुका है। यह प्रतिक्रिया 23 सितंबर 2019 को अन्य केंद्रीय ट्रेड यूनियनों के साथ संयुक्त रूप से श्रम मंत्रालय को विचारार्थ सौंप दी गई थी।

कर्मचारी भविष्य निधि योजना के बारे में मौजूदा सोशल सिक्योरिटी कोड में जो भी प्रावधान हैं उनमें बहुत सारी खामियां और अस्पष्टता हैं जिनकी वजह से मजदूरों के अधिकारों और लाभों पर बुरा असर पड़ेगा तथा मालिकों को फायदा होगा। इस कोड में त्रिपक्षीय सेंट्रल ट्रस्टी बोर्ड की परिभाषा, गठन और जिम्मेदारियों को कम कर दिया गया है जबकि यह मौजूदा कानून के तहत सबसे महत्वपूर्ण विधायी संस्था है। इसी बोर्ड को सरकार की मर्जी के हिसाब से बहुत सारी गैर-ईपीएफ जिम्मेदारियां भी सौंप दी गई

हैं। इसके अलावा, सीबीएफसी के स्थान पर मुख्य कार्यकारी अधिकारी की नियुक्ति का प्रावधान एक विधायी त्रिपक्षीय संस्था के तौर पर सीबीएफसी की हैसियत और जिम्मेदारियों में लोकतांत्रिकता और स्वायत्तता को कमजोर करेगा। इसके अलावा, इस कोड के जरिए उन सभी प्रादेशिक/क्षेत्रीय बोर्ड्स को भी खत्म करने की बात की जा रही है जो मौजूदा ईपीएफ कानून, 1952 की धारा 5बी के तहत काम कर रहे हैं।

इसके साथ ही नई पेंशन योजना के लिए रास्ता खोलने की जो कोशिशें की जा रही है उसका भी हम सख्ती से विरोध करते हैं। हमारा मानना है कि नई पेंशन योजना विभिन्न प्रशासकीय प्रावधानों के माध्यम से ईपीएफ के लिए एक चुनौती बन जाएगी। केंद्र और राज्य सरकारों के सरकारी कर्मचारियों के साथ पहले ही ऐसा हो चुका है। सरकार अच्छी तरह जानती है कि ज्यादातर सरकारी कर्मचारी और ट्रेड यूनियन आंदोलन नई पेंशन योजना की अंशदान आधारित पद्धति के खिलाफ हैं।

मूल ईपीएफ एंड एमपी कानून की चार अनुसूचियां हैं। ये सभी अनुसूचियां सामाजिक सुरक्षा लाभों की कवरेज, नियोजन और समय सारणियों से संबंधित हैं। उदाहरण के लिए, अनुसूची 1 में 'उद्योग' की परिभाषा के आधार पर उद्योगों की एक विस्तृत सूची दी गई है। वर्तमान कोड में श्रम कानूनों के सरलीकरण के नाम पर 'उद्योग' की परिभाषा को ही खत्म कर दिया गया है और तमाम अनुसूचियों को भी हटा कर एक खाली अनुसूची जोड़ दी गई है। इसकी वजह से कानून की कवरेज का दायरा सरकारी अफसरों और नौकरशाहों के विवेक पर निर्भर हो जाएगा जिनके पास प्रस्तावित कोड के विभिन्न प्रावधानों की परिभाषाओं, कवरेज, व्याख्या और क्रियान्वयन को निर्धारित करने का पूरा कार्यकारी नियंत्रण मिल जाएगा।

## कर्मचारी राज्य बीमा योजना के बारे में

मौजूदा ईएसआई कानून का क्रियान्वयन आज भी बहुत सुस्त रफ्तार से चल रहा है। ईएसआई कानून ऐसे प्रतिष्ठानों पर लागू होता है जहां 10 या इससे अधिक कर्मचारी काम करते हैं जबकि ईपीएफ के लिए न्यूनतम 20 मजदूर होने चाहिए। इसके बाजवूद ईएसआई के तहत आज जितने कर्मचारी/मजदूर कवरेज पा रहे हैं उनकी संख्या ईपीएफ के तहत आने वाले कामगारों/मजदूरों की संख्या की लगभग आधी ही है। इससे पता चलता है कि हमारी क्रियान्वयन व्यवस्था कितनी खस्ता हाल और गैर-जवाबदेह हो चुकी है।

दुर्भाग्यवश, सोशल सिक्योरिटी कोड 2019 में क्रियान्वयन और कवरेज की इस समस्या पर कोई बात नहीं की गई है। इसकी बजाय कोड लिखने वालों ने ईएसआई कानून के मौजूदा प्रावधानों को भी और कमजोर कर दिया है ताकि उसका क्रियान्वयन और भी कमजोर हो जाए और मालिकों को भरपूर फायदा मिले।

क्रियान्वयन प्रावधानों और ईएसआई कानून के लाभदायक प्रावधानों को कमजोर करना सोशल सिक्योरिटी कोड की धारा 125 (उल्लंघन करने वालों पर सजा के रूप में ब्याज दर में कटौती करके) का सबसे मुख्य उद्देश्य दिखाई देता है। इसके अलावा, ईएसआई कानून की धारा 40(1) के तहत दिए गए उस प्रावधान को भी खत्म करने की बात कही जा रही

है जो ठेकेदार द्वारा ईएसआई अंशदान जमा न कराने की स्थिति में उसके भुगतान की जिम्मेदारी प्रधान नियोक्ता के ऊपर डालता है। इसके अलावा, कोड की धारा 21 (अध्याय 3) में मजदूर के बकाया के भुगतान की बाध्यता भी खत्म कर दी गई है। यदि दिवालिया हो चुकी कंपनी ने इनसॉल्वेंसी ऐण्ड बैंकरप्सी कोड के तहत पहले ही आवेदन कर दिया हो तो उसे मजदूरों के ईएसआई अंशदान के भुगतान की जिम्मेदारियों से भी मुक्त कर दिया गया है। इस तरह, ईएसआई कानून के तहत फिलहाल ईएसआई प्राधिकरण को जो अधिकार मिला हुआ है, जिसके माध्यम से वह प्रस्तावित कोड में ईएसआई लाभों के उद्देश्य से मजदूरों को प्रभावित करने वाले रोजगारों और व्यावसायिक बीमारियों (तीसरी अनुसूची) को जोड़ सकता है, उसका ऐसे रोजगारों और व्यावसायिक बीमारियों को जोड़ने का अधिकार भी खत्म कर दिया गया है।

सोशल सिक्योरिटी कोड, 2019 इस बात पर पूरा जोर देता है कि मजदूरों को मिलने वाले लाभों में कैसे कटौती की जाए, उन्हें कैसे कमजोर किया जाए, ईएसआई क्रियान्वयन के कानून को कैसे कमजोर बनाया जाए। मगर साथ ही, धारा 41(4) और धारा 41(5) के माध्यम से ईएसआईसी को मेडिकल कॉलेजों, डेंटल कॉलेजों, नर्सिंग कॉलेजों और प्रशिक्षण संस्थानों की स्थापना व संचालन का जिम्मा भी सौंप दिया गया है। ये कहा गया है कि ऐसे संस्थानों को मजदूरों और मालिकों के अंशदान से जमा होने वाली निधि के जरिए ईएसआई निगम द्वारा संचालित किया जाएगा। स्वास्थ्य सुविधाओं को विस्तार देने, दुर्घटना की स्थिति में मिलने वाले लाभों में इजाफा करने, व्यावसायिक बीमारियों की रोकथाम करने के लिए मजदूरों के स्वामित्व वाली निधि स्थापित करने की बजाय यह कोड मजदूरों को मिलने वाले अधिकारों और लाभों में कटौती करता है और निधि को ऐसे कामों पर खर्च करने का प्रस्ताव देता है जो कायदे से सरकार की राजनीतिक और शासकीय जिम्मेदारी होनी चाहिए। ईएसआई निधि को गैर-ईएसआई उद्देश्यों के लिए खर्च करने के ऐसे भीषण प्रावधान तब पेश किए जा रहे हैं जबकि ईएसआई की त्रिपक्षीय गवर्निंग बॉडी में मजदूरों के प्रतिनिधियों ने उसका सख्ती से और एक स्वर में विरोध किया था।

सोशल सिक्योरिटी कोड की धारा 42(1) में मजदूरों को ईएसआई योजना से बाहर निकलने का भी अधिकार दिया गया है। ये भी बेहद प्रतिगामी प्रावधान है। चूंकि हमारे देश में निजी कॉरपोरेट सेक्टर में बहुत सारे रोजगार ठेके पर किए जाते हैं और उनमें रोजगार सुरक्षा जैसी कोई चीज नहीं होती इसलिए धारा 42(1) कायदे से ऐसे मजदूरों को योजना के बाहर करने का रास्ता खोल देती है। रोजगार सुरक्षा से वंचित मजदूरों को मालिक डरा-धमका कर इस योजना से बाहर निकलने के लिए बाध्य कर सकते हैं क्योंकि इससे उनको अपने हिस्से का अंशदान नहीं देना पड़ेगा।

सोशल सिक्योरिटी कोड की धारा 4(1) और 4(3) में ईएसआई की स्थायी समिति के त्रिपक्षीय स्वरूप को भी कमजोर करने की कोशिश की जा रही है। इन अनुच्छेदों में कहा गया है कि इस बारे में केंद्र सरकार स्वेच्छा से फैसले ले सकती है। दूसरी तरफ, ईपीएफ की भांति नए कोड में क्षेत्रीय/प्रादेशिक स्तर की त्रिपक्षीय समितियों को भी खत्म करने का प्रस्ताव रखा गया है ताकि इस कोड के क्रियान्वयन को और ज्यादा सुस्त व कठिन



बनाया जा सके।

## श्रमिक क्षतिपूर्ति कानून के बारे में

जिस तरीके से मौजूदा कर्मचारी क्षतिपूर्ति कानून को इस कोड में समाहित कर लिया गया है, उसकी वजह से बहुत सारे अनुत्तरित प्रश्न खड़े हो गए हैं। इस प्रसंग में सरकार को चाहिए कि वह सीटू की तरफ से 16 सितंबर 2019 को पत्र के माध्यम से भेजे गए सुझावों को मंजूर करे। अपने पत्र में हमने ये प्रस्ताव रखा था कि सरकार दुर्घटना प्रभावित मजदूरों को मुआवजे का भुगतान करने के लिए कर्मचारी क्षतिपूर्ति कानून की नियमावली में बदलाव करे ताकि मुआवजे का हिसाब मजदूर की वास्तविक तनखाह के आधार पर लगाया जा सके और इसके लिए न्यूनतम 21,000 की सीमा तय की जाए। इसी आधार पर सभी 10 केंद्रीय ट्रेड यूनियनों ने 24 सितंबर 2019 को संयुक्त रूप से हस्ताक्षर करके इसी आशय के सुझाव आपके कार्यालय में जमा कराए थे।

## ग्रेच्युटी भुगतान कानून के बारे में

मौजूदा सरकार समूचे ट्रेड यूनियन आंदोलन की ऐसी मांगों को लगातार नजरअंदाज करती रही है जिन पर सर्वसम्मति बन चुकी है। यही बात इस कोड के प्रावधानों में भी दिखाई देती है। ग्रेच्युटी मजदूरों को रिटायरमेंट के बाद मिलने वाली सुविधा होती है। लिहाजा, उसकी पात्रता, योग्यता और गणना पर किसी भी तरह की पाबंदी या ऊपरी सीमा तय नहीं की जानी चाहिए। प्रस्तावित कोड में इस न्यायसंगत मांग को भी सिरे से खारिज कर दिया गया है। इसकी बजाय, क्रियान्वयन व्यवस्था को कमजोर करने और जुर्माने में कटौती करने तथा दोषी मालिकों पर जुर्माना वसूली की सख्ती को कम करने पर जोर दिया जा रहा है। इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता।

## भवन एवं अन्य निर्माण मजदूर अधिभार कानून, 1996

दावा किया जा रहा है कि अधिभार संबंधी कानून को इस कोड में समाहित कर लिया गया है। मगर सच्चाई ये है कि प्रस्तावित कोड अधिभार के जरिये जमा होने वाली निधि के प्रबंधन के सवाल पर पूरी तरह खामोश है। निर्माण मजदूरों के सामाजिक सुरक्षा लाभों के सवाल पर कुछ खास मदों का जिक्र तो किया गया है मगर लाभों, पात्रता, गणना, डिलीवरी पद्धति आदि के ब्यौरों पर यह कोड पूरी तरह खामोश है। ये सारे सवाल राज्य स्तरीय बोर्ड्स के विवेक पर छोड़ दिए गए हैं। भवन एवं निर्माण मजदूर कल्याण योजना के क्रियान्वयन का अनुभव अभी तक उत्साहजनक नहीं रहा है। मालिकों की तरफ से इस अधिभार के भुगतान में जबर्दस्त लापरवाही रही है जिसकी वजह से यह निधि जमा नहीं हो पाती है। इसके बावजूद, जो थोड़ा बहुत पैसा जमा होता है उसमें से भी 2012 तक बमुश्किल 25 प्रतिशत ही निर्माण मजदूरों के कल्याण संबंधी प्रावधानों पर खर्च किया गया था। भवन एवं अन्य निर्माण मजदूर अधिभार कानून, 1996 को इस कोड में समाहित करने का दावा करते हुए सरकार को इस सबसे खतरनाक उद्योग में मजदूरों के कल्याण एवं सामाजिक सुरक्षा की योजनाओं के क्रियान्वयन की भयानक स्थिति पर जरूर गौर करना चाहिए था और लिहाजा इन योजनाओं के समुचित क्रियान्वयन के लिए सुधारक कदम उठाने पर जोर

दिया जाना चाहिए था। प्रस्तावित कोड में ऐसा कोई संकेत नहीं दिया गया है। इसे कतई बर्दाश्त नहीं किया जा सकता।

अंत में, सीटू की मांग है कि सामाजिक सुरक्षा उपायों के मामले में सरकार अपने रवैये की गंभीरता से समीक्षा करे और सभी मजदूरों को स्वास्थ्य सेवाएं, पेंशन तथा बच्चों की शिक्षा की सुविधाएं जरूर दी जाएं। सभी मजदूरों को आपात स्थितियों से निपटने के लिए मदद भी दी जाए।

प्रस्तावित सोशल सिक्योरिटी कोड इन उम्मीदों को पूरा नहीं कर सकता और लिहाजा इसको सिर से रद्द कर दिया जाना चाहिए।

### सीटू का दृढ़ मत और सुझाव है कि

1. सीटू ईपीएफ एण्ड एमपी कानून को सोशल सिक्योरिटी कोड 2019 में समाहित करने का सख्त विरोध करता है और दृढ़ मत के साथ ये सुझाव देता है कि अच्छी तरह चल रही और सफलतापूर्वक संचालित की जा रही इस ईपीएफ योजना को अलग से ही चलने दिया जाए। अनुदान प्रबंधन के सारे आयामों सहित इसे स्वतंत्रतापूर्वक और स्वायत्त ढंग से ही चलने दिया जाए। इस मूल कानून में सिर्फ ये संशोधन ही काफी हैं : (1) कवरेज का दायरा तय करने के लिए नौकरी के थ्रेशहोल्ड/न्यूनतम स्तर को खत्म किया जाए और इसे सभी कर्मचारियों व मजदूरों के लिए उपलब्ध कराया जाए। (2) ईपीएफओ का सशक्तिकरण किया जाए और उसे जवाबदेह बनाया जाए जिससे उसकी क्रियान्वयन प्रणाली को मजबूती मिलेगी। इसके लिए ईपीएफओ को किसी भी तरह के हस्तक्षेप के बिना स्वतंत्र रूप से निरीक्षण करने और मालिकों द्वारा किसी भी तरह की अवहेलना व उल्लंघन पर जुर्माने की कार्रवाई करने का अधिकार दिया जाए। (3) केंद्र और राज्य स्तर पर शिकायतों के निपटारे की व्यवस्था को मजबूत बनाया जाए। (4) ईपीएस लाभों में सुधार लाया जाए ताकि मुद्रास्फीति के मौजूदा स्तर के अनुसार न्यूनतम पेंशन 6000 रुपये प्रतिमाह से कम ना हो। केंद्र सरकार की सभी योजनाओं के तहत आने वाले मजदूरों को भी ईपीएफ एण्ड एमपी कानून के दायरे में लाया जाए जिसके लिए नियोक्ता के तौर पर केंद्र सरकार ईपीएफ में उन मजदूरों व कर्मचारियों का अंशदान जमा कराए।
2. ईएसआई कानून के मामले में भी सीटू की मांग है कि ईएसआईसी को स्वायत्त ढंग से चलने दिया जाए और उसे सोशल सिक्योरिटी कोड के दायरे से बाहर रखा जाए। ईएसआई कानून में ये संशोधन किए जाएं: (1) मजदूरों को मिलने वाले लाभों को बढ़ाया जाए। (2) इसके क्रियान्वयन को बेहतर बनाया जाए तथा ईएसआई प्राधिकरण का सशक्तिकरण किया जाए और उन्हें त्रिपक्षीय गर्वनिंग बॉडी की देख-रेख में स्वायत्त ढंग से काम करने की छूट दी जाए और उनकी जवाबदेही सुनिश्चित की जाए। (3) इस कानून को सभी मजदूरों को उपलब्ध कराने के लिए मजदूरों की न्यूनतम संख्या का प्रावधान खत्म कर दिया जाए। केंद्र सरकार की सभी योजनाओं के तहत आने वाले मजदूरों को भी ईएसआई कानून की कवरेज के दायरे में लाया जाए और इसके लिए

केंद्र सरकार मालिक के रूप में उनकी तरफ से ईपीएफ अंशदान का भुगतान करे।

3. सीटू का दृढ़ मत है कि भवन एवं अन्य निर्माण मजदूर (सेवा शर्त एवं नियमन) कानून 1996 तथा भवन एवं अन्य निर्माण मजदूर कल्याण अधिभार कानून 1996, दोनों को इस कोडिफिकेशन कवायद से बाहर रखा जाए और उनका अलग से अध्ययन किया जाए। इसके लिए ट्रेड यूनियनों से सलाह ली जा सकती है कि उनमें क्या सुधार लाए जा सकते हैं और उनको कैसे बेहतर ढंग से लागू किया जा सकता है। चूंकि भवन एवं अन्य निर्माण मजदूर बहुत कठोर सेवा परिस्थितियों और हालात में काम करते हैं इसलिए ये सुधार जरूरी हैं। उनके काम के हालात की वजह से उनके स्वास्थ्य और जीवन पर सीधा असर पड़ता है इसलिए उन्हें खास तरह के ईलाज, पेंशनयुक्त सामाजिक सुरक्षा और व्यावसायिक बीमारियों से बचाव और ईलाज की सुविधा मिलनी चाहिए।
4. सामाजिक सुरक्षा की ऐसी ही व्यवस्था खान मजदूरों के लिए भी की जाए क्योंकि वे भी खास तरह के व्यावसायिक खतरों से जूझते हैं और फलस्वरूप अलग तरह की व्यावसायिक बीमारियों के शिकार होते रहते हैं। उनके लिए अधिभार वसूली का प्रावधान बहाल किया जाए और व्यावसायिक बीमारियों के मद में अलग से स्वास्थ्य एवं सामाजिक सुरक्षा योजना लागू की जाए।
5. बीड़ी मजदूरों के लिए भी अधिभार संग्रह व्यवस्था को फिर से बहाल किया जाए और पेंशन लाभों सहित उनके लिए भी अलग से स्वास्थ्य एवं सामाजिक सुरक्षा योजना लागू की जाए।
6. इसके अलावा, असंगठित क्षेत्र मजदूरों की अन्य तबकों के लिए भी सरकार की तरफ से पूरी तरह वित्तपोषित सामाजिक सुरक्षा योजनाएं तय की जाएं ताकि सभी मजदूरों को दुर्घटना संबंधी सहायता, व्यावसायिक बीमारियों के ईलाज आदि के साथ-साथ स्वास्थ्य सेवाएं, बच्चों की शिक्षा एवं पेंशन (जो आज के हिसाब से 6000 रुपये माहवार से कम ना हो) का अधिकार जरूर मिले।
7. सीटू एक और चीज की तरफ सभी का ध्यान आकर्षित करना चाहता है। सीटू का मानना है कि कोडिफिकेशन की इस प्रक्रिया में पात्रता शर्तों, अंशदान और लाभों से संबंधित तमाम प्रावधानों के बारे में "जैसा प्रस्तुत किया जाए", "जैसा तय होगा", "जैसा निर्धारित होगा" आदि वाक्यांशों का बार-बार प्रयोग किया गया है जिसका मतलब है कि सोशल सिक्योरिटी कोड विधेयक के लगभग सारे महत्वपूर्ण प्रावधानों में भावी बदलावों की पूरी गुंजाइश छोड़ दी गई है। इसका मतलब ये है कि कोड बिल के पारित हो जाने के बाद भी कार्यपालिका के द्वारा संसद की उपेक्षा करके इस कानून के महत्वपूर्ण प्रावधानों में संशोधन किए जा सकते हैं। बल्कि, अधिकारीगण सिर्फ संसद की ही नहीं, बल्कि मजदूरों और उनकी ट्रेड यूनियनों सहित सभी संबंधित पक्षों की भी उपेक्षा कर सकते हैं।

केंद्र सरकार ने सोशल सिव्योरिटी कोड के 98 मदों में संसद द्वारा पारित किए गए कानूनों में बदलाव की कार्यकारी शक्ति अपने हाथों में ले ली है। इसके अलावा 30 मामलों में 'संबंधित सरकार' (एप्रोपिएट गवर्नमेंट) को भी अपनी तरफ से बदलाव करने का अधिकार दे दिया गया है। इसका मतलब है कि कुल मिलाकर 128 ऐसे मामले हैं जिन पर अफसरों द्वारा कार्यकारी फैसलों/आदेशों के माध्यम से केंद्र सरकार/संबंधित सरकार संसद के अधिकारों की उपेक्षा करके मनमाने ढंग से फैसले ले सकती है।

उदाहरण के लिए, कोड की धारा 5(1) की उपधारा (ए), (बी), (सी) में कहा गया है कि केंद्र सरकार अधिसूचना के माध्यम से सारी पीएफ योजनाओं को निर्धारित कर सकती है, और धारा 5(1)(बी) के माध्यम से "क्लॉज (ए), (बी) तथा (सी) में उल्लिखित किसी भी योजना में संशोधन कर सकती है, आगामी समय के लिए या रेट्रोस्पेक्टिवली यानी पीछे के समय के लिए भी। इसके बाद, धारा 6(ए) के अंतर्गत पीएफ हेतु अंशदान निर्धारित करते हुए कोड में सरकार को ये अधिकार दिया गया है कि वह "तनखाह के .... या केंद्र सरकार द्वारा निर्धारित प्रतिशत" को निर्धारित कर सकती है। ईएसआई अंशदान के मामले में कोड की धारा 31(2) के अनुसार "अंशदानों का भुगतान (मालिकों का अंशदान और कर्मचारियों का अंशदान), केंद्र सरकार द्वारा निर्धारित दरों पर किया जाएगा।" अंशदान तय करने के मुद्दे से लेकर सामाजिक सुरक्षा योजनाओं के निर्धारण और विभिन्न प्रतिष्ठानों को कोड की कवरेज से बाहर रखने तक केंद्र सरकार को विस्तृत कार्यकारी अधिकार दे दिए गए हैं। यदि कोड बिल में भावी बदलावों की ऐसी विस्तृत शक्तियों से संबंधित तमाम प्रावधानों को नहीं हटाया जाता है तो पूरी कानूनी प्रक्रिया का लोकतांत्रिक आधार ही नष्ट हो जाएगा। लिहाजा ऐसे सभी प्रावधानों को फौरन खत्म किया जाए।

## सोशल सिक्योरिटी कोड, 2019 पर न्यू ट्रेड यूनियन इनिशिएटिव (एनटीयुआई) का बयान

भारत सरकार के श्रम एवं रोजगार मंत्रालय को लिखे गये पत्र का अंशविशेष

श्रम एवं रोजगार मंत्रालय अपनी वेबसाईट पर प्रत्येक वार्षिक रिपोर्ट में और अपनी कई घोषणाओं में इस बात पर जोर देता रहा है कि सामाजिक सुरक्षा कानून को "अपनी ताकत और भावना भारत के संविधान में निहित राज्य नीति के निर्देशक सिद्धांतों से प्राप्त होती है।" वर्तमान सरकार ने भी बार-बार ये कहा है कि वह "सबकी सामाजिक सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए प्रतिबद्ध है।" दुर्भाग्यवश, सामाजिक सुरक्षा एवं कल्याण संबंधी सोशल सिक्योरिटी कोड का ड्रॉफ्ट (आगे से 'कोड') संविधान के अंतर्गत अपेक्षित दायित्वों को पूरा करने से बहुत दूर दिखाई देता है क्योंकि इसमें सरकार सामाजिक सुरक्षा को एक मौलिक अधिकार का दर्जा देने में विफल हुई हैं। कोड में कहीं भी ये नहीं बताया गया है कि सामाजिक सुरक्षा क्या है और इससे मजदूरों को कौन-कौन से लाभ मिलेंगे।

इन हालात को देखते हुए हम सरकार से आह्वान करते हैं कि आप हमारे विचारों और सुझावों पर गौर करें, हालांकि ये पब्लिक नोटिस में निर्धारित फॉर्मेट में नहीं लिखे गए हैं। इसका कारण ये है कि हम कोड के खास प्रावधानों पर बात नहीं कर रहे हैं बल्कि हम इस प्रस्ताव की भावना पर बात करना चाहते हैं जो कि संविधान के प्रावधानों और मौजूदा सरकार की घोषणाओं, दोनों को पूरा नहीं करता।

### दूसरे राष्ट्रीय श्रम आयोग (एसएनसीएल) की सिफारिशों के सन्दर्भ में

सरकार का कहना है कि उसके प्रस्ताव दूसरे राष्ट्रीय श्रम आयोग (एसएनसीएल) की सिफारिशों के अनुरूप हैं। यह एसएनसीएल की सिफारिशों की बहुत ही चुनिंदा और संकुचित व्याख्या है। एसएनसीएल में बिल्कुल साफ तौर पर कहा गया है कि सामाजिक सुरक्षा को एक मौलिक अधिकार के रूप में मान्यता दी जानी चाहिए। आयोग ने असंगठित क्षेत्र मजदूरों के लिए खास सामाजिक सुरक्षा प्रावधानों की भी सिफारिश की थी जिनका कोड में कहीं जिक्र नहीं किया जा रहा है।

सरकार उन दूसरी सिफारिशों को संबोधित करने के लिए भी उत्तरदायी हैं जो उसके सामने विचाराधीन हैं। मगर, सरकार ने राष्ट्रीय असंगठित क्षेत्र उद्यम आयोग (एनसीईयूएस) द्वारा की गई सिफारिशों को सिरे से नकार दिया है जिनमें सिर्फ मजदूरों के लिए ही नहीं बल्कि सभी के लिए सामाजिक सुरक्षा को नागरिकों के एक सार्वभौमिक अधिकार के रूप में मान्यता देने की बात कही गई थी। एनसीईयूएस ने एक न्यूनतम सामाजिक सुरक्षा लाभ की भी सिफारिश की थी, जो लाभार्थियों के अंशदान पर आधारित नहीं होगा। मगर खेद की बात है कि कोड ने इस बात को परिभाषित ही नहीं किया कि इससे कामकाजी लोगों को सामाजिक सुरक्षा का क्या अधिकार मिलेगा। फलस्वरूप, मसविदे के अलग-अलग प्रावधानों पर कोई टिप्पणी करना मुश्किल हो गया है।

## कानून का सरलीकरण

मौजूदा सरकार का कहना है कि अगर कई नियमों/कानूनों को 'एक कानून' में समाहित कर दिया जाए तो वह सरल हो जाएगा। यह दावा सिरे से निराधार है। दुनिया भर के लोकतांत्रिक देशों में स्वास्थ्य, प्रसूति लाभ, सेवा निवृत्ति और बेरोजगारी भत्ते सहित सामाजिक सुरक्षा के दूसरे अधिकारों के बारे में अलग-अलग कानून बनाए गए हैं और लागू किए जा रहे हैं। यह ऐतिहासिक विभाजन इसलिए हुआ है क्योंकि कामकाजी जीवन के दौरान और उसके उपरांत सेवानिवृत्ति के काल में अधिकारों का स्वरूप एक जैसा नहीं रहता, और न ही गर्भावस्था के दौरान और आर्थिक संकटों के समय मजदूरों के लिए उन अधिकारों का अर्थ एक जैसा रहता है। लिहाजा, इन सारे मुद्दों की जटिलता को संबोधित करने के लिए और खास स्थितियों में मजदूरों की जरूरतों को पूरा करने की क्षमता विकसित करने के लिए ही विभिन्न देशों ने इन कानूनों को अलग-अलग रखने का रास्ता अपनाया है। ऐसे ज्यादातर देशों में इन अलग-अलग कानूनों में बहुत सारे संशोधन भी हुए हैं फिर भी उनको अलग रखने पर एतराज नहीं उठाया गया।

सामाजिक सुरक्षा की परिभाषा और मजदूरों को मिलने वाले लाभों के ब्यौरे के बिना अधिकारों का स्थानांतरण कोड के अंतर्गत दिए गए सामाजिक सुरक्षा प्रावधानों को अपारदर्शी कहना गलत नहीं होगा। इस कानून में कार्यपालिका को बेहिसाब शक्तियां दी गई हैं जिनमें ऐसे सामाजिक सुरक्षा अधिकारों से संबंधित शक्तियां भी शामिल हैं जो पहले से कानून की सुरक्षा से युक्त है। समूचे कोड में (1) ये नहीं बताया गया है कि सामाजिक सुरक्षा अधिकारों के दायरे को तय करने के लिए विधायिका की किन-किन शक्तियों को कार्यपालिका को सौंप दिया जाएगा। कोड (2) विधायिका के यह तय करने के अधिकार को भी समाप्त कर देता है कि सामाजिक सुरक्षा कानून के तहत आने वाले मजदूरों की पात्रता निर्धारित करने के लिए उनकी तनख्वाह की ऊपरी सीमा क्या होगी। कोड (3) में विभिन्न प्रकार की सामाजिक सुरक्षा हासिल करने के लिए पात्रता शर्तें तय करने की विधायिका की शक्तियों को भी समाप्त करने की बात कही है। इसके अलावा (4) कानून के माध्यम से फिलहाल बनाई जा रही संस्थाओं, आयोगों और बोर्डों से निर्गम के बारे में फ़ैसला लेने का अधिकार भी कार्यपालिका को सौंप दिया गया है। अगर इन चारों प्रस्तावित बदलावों को साथ रखकर देखें तो सामाजिक सुरक्षा की कवरेज और परिभाषा तय करने की विधायिका की शक्ति लगभग पूरी तरह खत्म हो जाती है। सबसे बढ़कर, ये बदलाव मजदूरों से विधायी सुरक्षा का वह अधिकार भी छीन लेते हैं जो उन्हें फिलहाल मिला हुआ है।

कोड भविष्य निधि के मौजूदा अधिकार और प्रादेशिक बोर्डों सहित विभिन्न उद्योगों से संबंधित कल्याण बोर्डों के तहत मिलने वाले सामाजिक सुरक्षा लाभों को कमजोर करने, हटाने या निरस्त करने की कोशिश करता है। कोड में कोई सापेक्ष या ज्यादा मजबूत अधिकार देने की बात तो नहीं की गई है, मगर मौजूदा अधिकारों के बारे में फ़ैसले लेने का पूरा अधिकार कार्यपालिका को जरूर सौंप दिया गया है। कार्यपालिका को सामाजिक सुरक्षा का दायरा तय करने का भी अधिकार दिया गया है। यह प्रस्ताव विधायी सुरक्षा के बिना कार्यपालिका को बेहिसाब अधिकार और निर्णयकारी शक्तियां सौंपता दिखाई देता है।

## कोड द्वारा इस्तेमाल की गई परिभाषा

कोड में परस्पर-विरोधी और एक-दूसरे को काटने वाली परिभाषाओं का इस्तेमाल भी किया गया है। इसके चलते बहुत सारे मजदूरों को उनका सामाजिक सुरक्षा अधिकार ही नहीं मिल पाएगा। यहां अप्रेंटिस, केजुअल मजदूर, ठेका मजदूर, कर्मचारी, निश्चित अवधि, घरखाता मजदूर, अनौपचारिक क्षेत्र मजदूर, आउटवर्कर, मजदूर-सह-मालिक, अंशकालिक मजदूर, मौसमी मजदूर, स्वरोजगारी मजदूर और असंगठित मजदूर जैसी बहुत तरह के मजदूरों की परिभाषाएं मिलती हैं। नियोक्ता और प्रतिष्ठान के लिए भी कई तरह की परिभाषाओं का सहारा लिया गया है। यथारू व्यवसाय, ठेकेदार, नियोक्ता, इकाई, फ़ैक्टरी, परिवार, लैंडलॉर्ड, प्लेसमेंट एजेंसी, उत्पादक, स्वरोजगारी इकाई, दुकान, उप-ठेकेदार, उपक्रम एवं वेंचर आदि। इस बात पर हमें गौर करना चाहिए कि इन विविध तथा परस्पर एक-दूसरे को काटने वाली परिभाषाओं का जिक्र करते हुए, मौजूदा कानूनों में पहले से ही विद्यमान परिभाषाओं का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। इसका मतलब ये है कि न केवल इससे परिभाषाओं पर बल्कि अलग-अलग कानूनी अधिकार-क्षेत्रों पर भी समानांतर मुकदमे शुरू हो जाएंगे। एक स्पष्ट और पारदर्शी सामाजिक सुरक्षा कानून मांग करता है कि वह 'स्वरोजगारी मजदूर', 'नियोक्ता' और 'प्रतिष्ठान' सहित 'मजदूर' की एक समग्र परिभाषा तय करे। जब तक ऐसा नहीं होगा, तब तक अनियमित रोजगारों में काम करने वाले मजदूरों को उनकी सामाजिक सुरक्षा से वंचित किया जाता रहेगा।

## पूरी तरह अंशदान पर आधारित सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था

चूंकि कोड के साथ वित्तीय मेमोरेंडम नत्थी नहीं किया गया है इसलिए यह स्पष्ट है कि कोड यह मानकर चल रहा है कि सभी सामाजिक सुरक्षा लाभ अंशदान आधारित होंगे। इसमें मालिकों के अंशदान की ऊपरी सीमा भी तय की गई है जो 17.5 प्रतिशत से अधिक नहीं होगी। इसके अलावा ऐसे प्रतिष्ठानों के लिए 2 प्रतिशत अतिरिक्त अंशदान का प्रावधान किया गया है जिन्हें ग्रेच्युटी का भी भुगतान करना है। गौर करने की बात है कि एक ऐसा प्रस्तावित कानून जो सामाजिक सुरक्षा अधिकारों से संबंधित लगभग सारी शक्तियां कार्यपालिका को सौंप देना चाहता है, उसी कानून के माध्यम से मालिकों को इस बात का भरोसा भी दिलाया जा रहा है कि सामाजिक सुरक्षा में उनका अंशदान एक हद से ज्यादा नहीं होगा।

कोड के तहत प्रशासकीय शुल्कों के साथ-साथ मालिकों और कर्मचारियों का कुल अंशदान भविष्यनिधि तथा कर्मचारी राज्य बीमा, दोनों के मौजूदा अंशदान से भी 0.6 प्रतिशत कम बैठता है। चूंकि कोड में ये नहीं बताया गया है कि मजदूरों को सामाजिक सुरक्षा के कौन से अधिकार मिलेंगे इसलिए उसमें ये भी नहीं बताया गया है कि निधि में इस कटौती की भरपाई कैसे की जाएगी। इसके अलावा, क्योंकि कामकाजी आबादी के एक विशाल तबके को सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था के दायरे में लाने की बात कही जा रही है जबकि सरकारी खजाने से सामाजिक सुरक्षा निधि में कोई अंशदान नहीं दिया जा रहा है तो यह मान लेना स्वाभाविक ही होगा कि सरकार मजदूरों के अलग-अलग तबकों के बीच उसी राशि के बंटवारे में हेरफेर करने के अलावा और कुछ नहीं करेगी। इसका मतलब ये है



कि जिन मजदूरों को आज सामाजिक सुरक्षा का अधिकार मिल रहा है उनके अधिकारों में कटौती होती जाएगी।

प्रशासकीय शुल्कों सहित स्वरोजगारी मजदूरों का अंशदान भी उनकी मजदूरी के 21 प्रतिशत पर तय किया गया है। जो लाभार्थी मालिक-सह-मजदूर हैं, उनका अंशदान 12.5 प्रतिशत तय किया गया है जिसमें 'नियोक्ता अंशदान' को जोड़कर कुल अंशदान उसकी तनख्वाह का 31 प्रतिशत हो जाएगा। परिभाषाओं संबंधी सारे भ्रमों को छोड़ दें तो भी स्वरोजगारी मजदूरों की तरफ से ये अंशदान कल्पना से परे चला जाता है। यह स्थिति तब है जबकि दावा किया जा रहा है कि हमारे देश में 'स्वरोजगार' ही रोजगार का सबसे बड़ा स्रोत है। हमारे यहां करोड़ों मजदूर स्वरोजगारी मजदूर हैं मगर वे अपनी इच्छा से ऐसा नहीं कर रहे हैं बल्कि इसलिए ऐसा कर रहे हैं क्योंकि उनके पास तनख्वाहभोगी नौकरी का विकल्प नहीं है। सरकारी आंकड़ों में स्पष्ट रूप से ये बताया गया है कि स्वरोजगारी मजदूरों में से सबसे बड़ी संख्या ऐसे लोगों की है जो सिर्फ भरण-पोषण के लायक कमा पाते हैं और उनमें से ज्यादातर लोग स्थायी रूप से कर्जे और लाचारी का जीवन जी रहे हैं। वास्तव में, कोड का यह हिस्सा इस बारे में कोई संदेह नहीं छोड़ता कि सरकार समूचे मजदूर वर्ग से सामाजिक सुरक्षा के एवज में अंशदान वसूल करने के लिए कमर कस चुकी है।

### **पंजीकरण, शिनाख्त और रिटर्न जमा कराना**

सामाजिक सुरक्षा हासिल करने के लिए मजदूरों द्वारा अपने पंजीकरण की प्रक्रिया अस्पष्ट है और उसमें ऐसे अलिखित नियमों के लिए गुंजाइश छोड़ दी गई है जिन्हें कार्यपालिका यानी आला अफसर अपनी मर्जी से तय कर सकते हैं। मालिकों की शिनाख्त का तरीका भी स्पष्ट रूप से तय नहीं किया गया है।

स्वरोजगारी और मालिक-सह-मजदूरों को भी अपने अंशदान का रिटर्न जमा कराना होगा। इसका मतलब ये है कि स्वरोजगार सहित अनियमित रोजगारों में लगे 40 करोड़ मजदूरों में से बहुत छोटी संख्या को ही कोई लाभ मिल पाएगा।

### **महिला मजदूरों के अधिकार**

कोड महिला मजदूरों के अधिकारों पर भी चोट पहुंचाता है। प्रसूति लाभ पाने के लिए दो-संतानो वाली नियम बांधते हुए कोड यह मानकर चल रहा है कि जनसंख्या नीति के बारे में पूरे देश में एक आम सहमति बन ही चुकी है। यह दो-संतान जनसंख्या नीति थोपने का एक बहुत ही अलोकतांत्रिक तरीका है। ये एक जानी-पहचानी बात है कि हमारे देश में ज्यादातर स्थितियों में महिलाएं बच्चे पैदा करने या बच्चों की संख्या के बारे में अपने परिवारों में भी और समाज में भी कोई फैसला नहीं ले पाती हैं।

### **संघवाद और सत्ता का केंद्रीकरण**

कोड के अंतर्गत सामाजिक सुरक्षा संबंधी मामलों पर फैसले लेने की सारी शक्तियां केंद्र सरकार को सौंप दी गई हैं और राज्य सरकारों को सिर्फ क्रियान्वयन संबंधी शक्तियां दी गई हैं। शक्तियों का यह एकतरफा विभाजन हमारे देश के संविधान में दी गई संघीय व्यवस्था का उल्लंघन है। यह व्यवस्था संविधान की उस मूलभूत संरचना को भी ठेस पहुंचाती है

जिसमें ये कल्पना की गई है कि मजदूरों से संबंधित मामले, और उसके फलस्वरूप उनकी सामाजिक सुरक्षा से संबंधित मामले केंद्र और राज्य सरकारों के बीच आपसी समझदारी के आधार पर तय किए जाएंगे।

कोड राज्य सरकारों की शक्तियों को बेहद सीमित तो करता ही है साथ ही इस बारे में भी बात नहीं करता कि कई राज्यों में मजदूरों को जो सामाजिक सुरक्षा लाभ पहले से दिए जा रहे हैं उन्हें इस नए कानून के तहत कैसे समाहित किया जाएगा।

## **सामाजिक सुरक्षा निधियों का प्रबंधन और निजीकरण**

कोड में मजदूरों की कमाई पर आधारित विशाल सामाजिक सुरक्षा निधियों के प्रबंधन और क्रियान्वयन की स्पष्ट प्रणाली नहीं बताई गई है और दूसरी तरफ कार्यपालिका को निजी एजेंसियों की नियुक्ति के विस्तृत अधिकार भी दे दिए गए हैं। सरकार के पास जमा की गई मजदूरों की कमाई को आप बाजार की शक्तियों के हवाले नहीं कर सकते। सरकार की इस महत्वपूर्ण जिम्मेदारी को निजी क्षेत्र के हाथों में नहीं सौंपा जा सकता। सामाजिक सुरक्षा अधिकारों का क्रियान्वयन राज्य व्यवस्था का अपना दायित्व है और इसे मुनाफे के लिए काम करने वाले निजी क्षेत्र के हवाले नहीं किया जा सकता।

## **नियुक्ति के द्वारा लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व**

कोड में त्रिपक्षीय व्यवस्था को भी कमजोर किया गया है। इसमें प्रावधान किया गया है कि 'कर्मचारियों का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों' को केंद्र सरकार 'मनोनीत' करेगी। इसका मतलब है कि यह कानून मजदूरों के प्रतिनिधि के रूप में ट्रेड यूनियनों की भूमिका और मौजूदगी को नकारता है। कायदे से मजदूरों को उनकी ट्रेड यूनियनों के माध्यम से प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए और ट्रेड यूनियनों को उनकी सदस्य संख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व का अधिकार मिलना चाहिए।

इसी तरह, संसद के प्रतिनिधियों का नामांकन भी मनमाने ढंग से तय किया गया है। यह अधिकार पूरी तरह सरकारी अफसरों को सौंप दिया गया है। यही बात राज्य सरकारों के प्रतिनिधित्व के बारे में भी सच है। हमारे यहां संसदीय प्रतिनिधित्व तय करने के लिए विपक्ष के नेता को आमंत्रित करने की एक स्थापित परंपरा रही है। राज्य सरकारों के प्रतिनिधित्व की भी एक स्थापित व्यवस्था मौजूद है जिसके तहत राज्य सरकारें रोटेशन पद्धति के आधार पर अपने बीच से प्रतिनिधियों को चुनकर भेजती हैं। फिलहाल सभी संघीय संस्थाओं के लिए यही तरीका अपनाया जाता है।

## **सरकार से हमारी मांग**

हमारा मानना है कि कोड की मौजूदा रूपरेखा "सबके लिए सामाजिक सुरक्षा" सुनिश्चित करने की सरकार की घोषित प्रतिबद्धता को पूरा नहीं करती। ऐसे हालात में हम सरकार से आह्वान करते हैं कि वह इस मसविदे को रद्द करे और बहस के लिए सामाजिक सुरक्षा पर एक श्वेतपत्र जारी करे जिसमें कामकाजी आबादी के सभी तबकों की चिंताओं और जरूरतों को संबोधित किया गया हो। इस दस्तावेज में एसएनसीएल और एनसीईयूस, दोनों की सिफारिशों को शामिल किया जाना चाहिए। खासतौर से, एक लोकतांत्रिक देश में

सरकार को ही यह बताना चाहिए कि वह संसद द्वारा नियुक्त किए गए आयोगों को क्यों खारिज करना चाहती है। इस दस्तावेज में आर्थिक आवंटन का भी स्पष्ट उल्लेख किया जाना चाहिए और कानून के माध्यम से सरकार के अंशदान को अक्षुण्ण रखना चाहिए।

हम सरकार से मांग करते हैं कि वह सामाजिक सुरक्षा को एक मौलिक अधिकार का दर्जा दे और इस दिशा में कानून बनाने के लिए आगे बढ़े। हम सरकार से मांग करते हैं कि वह किसी भी तरह का श्रम करने वाले सभी मजदूरों के लिए न्यूनतम सामाजिक सुरक्षा लाभों की परिभाषा तय करे और ये सामाजिक सुरक्षा लाभ वेतन आयोग द्वारा निर्धारित न्यूनतम मजदूरी दर तक अंशदान आधारित न हों और उनमें (क) सभी के लिए न्यूनतम मजदूरी की कम से कम 50 प्रतिशत तक पेंशन, (ख) विकलांगता लाभों सहित समग्र पारिवारिक स्वास्थ्य लाभ तथा (ग) न्यूनतम वेतन की दर से 6 महीने का मातृत्व अवकाश और इस दौरान पूरी तनखाह का प्रावधान शामिल किया जाए।

हमें विश्वास है कि सरकार हमारे इन विचारों पर गौर करेगी, सामाजिक सुरक्षा अधिकार पर एक श्वेत पत्र जारी करेगी और अधिकतम व्यापक चर्चा के लिए उसे सार्वजनिक दायरे में रखेगी।

# सामाजिक सुरक्षा कोड, 2019 के बारे में दिल्ली असंगठित निर्माण मजदूर यूनियन का बयान

श्रम भारतीय संविधान की समवर्ती सूची में है। लगभग 44 केंद्रीय श्रम कानून हैं और 150 से अधिक राज्य श्रम कानून हैं। श्रम पर द्वितीय राष्ट्रीय आयोग की सिफारिशों के आधार पर भारत सरकार ने देश के श्रम कानूनों को आसान बनाने के लिए कदम उठाए थे। इस संबंध में साल 2014 में केंद्रीय श्रम कानूनों को 4 संहिता में विलय करने का निर्णय लिया गया – मजदूरी श्रम संहिता, सामाजिक सुरक्षा और कल्याण श्रम संहिता और व्यावसायिक सुरक्षा, स्वास्थ्य और काम करने की स्थिति पर श्रम संहिता।

सरकार द्वारा श्रम कानूनों के प्रस्तावित संहिताकरण का कई ट्रेड यूनियनों और श्रमिक समूहों ने मजबूती से प्रतिरोध किया है क्योंकि उन्हें लगता है कि प्रस्तावित कदम श्रमिक वर्ग के लिए हानिकारक है। मई 2019 में आम चुनावों के बाद, सरकार ने अपने अधूरे श्रम अजेंडे को फिर से प्राथमिकता दी है। निम्नलिखित अनुभागों में प्रस्तावित संहिताओं की प्रमुख बातें, चिंताओं और वर्तमान स्थिति के संबंध में मोटे तौर पर उल्लेख किया गया है।

## सामाजिक सुरक्षा और कल्याण श्रम संहिता

इस संहिता का उद्देश्य 15 श्रम कानूनों का विलय करना है – कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, कर्मचारी भविष्य निधि और विविध प्रावधान अधिनियम, कर्मचारी मुआवजा अधिनियम, मातृत्व लाभ अधिनियम, ग्रेच्युटी अधिनियम का भुगतान, असंगठित श्रमिक सामाजिक सुरक्षा अधिनियम, भवन और अन्य निर्माण श्रमिक कल्याण उपकर अधिनियम, बीड़ी श्रमिक कल्याण उपकर अधिनियम, बीड़ी श्रमिक कल्याण निधि अधिनियम, लोह अयस्क खान, मैंगनीज अयस्क खान और क्रोम अयस्क खान श्रम कल्याण उपकर अधिनियम, मीका खान श्रम कल्याण उपकर अधिनियम, चूना पत्थर और डोलोमाइट माइंस लेबर वेलफेयर फंड अधिनियम, सिने वर्कर्स वेलफेयर सेस एक्ट और सिने वर्कर्स वेलफेयर फंड एक्ट।

## प्रमुख बातें

इस संहिता का उद्देश्य सामाजिक सुरक्षा का सार्वभौमिकरण करना है और जैसे कर्मचारी की परिभाषा में अंशकालिक कार्यकर्ता, आकस्मिक कार्यकर्ता, निश्चित अवधि कार्यकर्ता, कमीशन रेटेड कार्यकर्ता, अनौपचारिक कार्यकर्ता, घर-आधारित कार्यकर्ता, घरेलू कार्यकर्ता और सभी प्रकार के रोजगार शामिल हैं। संहिता का लक्ष्य लगभग 50 करोड़ श्रमिकों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना है।

- सामाजिक सुरक्षा विनियमन और प्रबंधन का एक विकेंद्रीकृत ढांचा जिसमें केंद्र सरकार के समन्वय के साथ राज्य सरकारों और ग्राम पंचायतों जैसे स्थानीय निकाय शामिल हैं। कर्मचारियों के साथ-साथ लाखों करोड़ रुपये के फंड को राज्य बोर्डों के बीच स्थानांतरित और विभाजित किया जाएगा।
- यह संहिता वाणिज्यिक प्रतिष्ठानों, घरेलू श्रमिकों को रोजगार देने वाले घर के साथ-

साथ कॉन्ट्रैक्ट श्रमिकों सहित सभी प्रकार के नियोक्ताओं के पंजीकरण के लिए निर्धारित करता है। एक 'स्वयं खाता-उद्यम' को नियोक्ता और श्रमिक दोनों के रूप में स्वचालित रूप से पंजीकृत किया जाएगा।

- नए श्रम संहिता में सहज अंतर-मंत्रालय समन्वय सुनिश्चित करने और केंद्र और राज्यों और अन्य हितधारकों के बीच संबंध विकसित करने के लिए प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय सामाजिक सुरक्षा परिषद का गठन करने का भी प्रस्ताव है। इसके अलावा, संहिता प्रत्येक राज्य में एक केंद्रीय सामाजिक सुरक्षा बोर्ड के साथ – साथ सामाजिक सुरक्षा के राज्य बोर्डों की स्थापना भी करना है।
- प्रस्तावित संहिता में प्रवासी श्रमिकों की दुर्दशा को ध्यान में रखते हुए, एक पोर्टेबल सामाजिक सुरक्षा खाते के लिए एक प्रावधान प्रदान किया गया है। इस तरह के खाते को विशेष रूप से "विकास" (विश्वकर्मा कर्म सुरक्षा खाता) कहा जाएगा। संहिता पोर्टेबल खाते को अनिवार्य रूप से आधार के साथ जोड़ा जाना है।
- योजना के लाभार्थियों को चार समूहों में विभाजित किया जाएगा। पहले समूह में गरीबी रेखा से नीचे के लोग होंगे, जो अपनी सामाजिक सुरक्षा में योगदान नहीं दे सकते। सरकार इस समूह की लागत को कर – आधारित योजनाओं के तहत वहन करेगी। दूसरे समूह में असंगठित क्षेत्र के श्रमिक शामिल होंगे जो कुछ योगदान देने में सक्षम हो सकते हैं लेकिन सरकार से सहायता की आवश्यकता है। तीसरे समूह में आत्मनिर्भर लोग होंगे जो अपनी सामाजिक सुरक्षा को अपने दम पर या अपने नियोक्ताओं की मदद से कर सकते हैं। आर्थिक रूप से आरामदायक लोग, जो जोखिम और आपात स्थिति के लिए खुद का समर्थन कर सकते हैं, चौथे समूह में शामिल होंगे।
- नए संहिता के प्रावधानों के अनुसार, कुल देय योगदान के चार प्रतिशत तक प्रशासनिक शुल्क निर्धारित लगाया जायेगा और एक राज्य प्रशासनिक कोष बनाया जायेगा।
- नियत तारीख से 12 प्रतिशत ब्याज के साथ सामाजिक सुरक्षा नेट के तहत कर्मचारी के पंजीकरण में चूक या विफलता के मामले में अपना योगदान देने के लिए संहिता नियोक्ता पर एक दायित्व डालता है।
- संहिता सामाजिक सुरक्षा को प्रत्येक कार्यकर्ता का अधिकार बनाने के लिए विस्तृत शिकायत निवारण तंत्र निर्धारित करता है। सुरक्षा मित्र से की गई शिकायत पर भी अगर लाभार्थी उनके कारवाई या गैर-कारवाई से संतुष्ट नहीं होता है, तो प्रथम स्तर की अपील विभागीय अपीलीय अधिकारी को दायर की जा सकती है।

## चिंता के मुद्दे

- अन्य प्रमुख आपत्तियों के बीच ट्रेड यूनियनों ने सरकार से ईएसआई, ईपीएफ और अन्य केंद्रीय कल्याण योजनाओं का विलय और विघटन नहीं करने का आग्रह किया है, जो वर्तमान में अच्छी तरह से काम कर रही हैं। इसके बजाय, यह सिफारिश कर रहे हैं कि असंगठित क्षेत्र के लिए सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने के लिए सरकार अपनी ओर

से सब्सिडी दे।

- ट्रेड यूनियन सामाजिक सुरक्षा निधि के निजीकरण का विरोध कर रही है ताकि अर्थव्यवस्था को एमएनसी बीमा और पीएफ कंपनियों से बचाया जा सके और यह पूँजी शेयर बाजार में ना लगा सके।
- श्रमिक अन्य श्रमिकों को क्रॉस-सब्सिडाइज करेंगे क्योंकि सरकार सामाजिक सुरक्षा कोष में योगदान नहीं करेगी।
- सामाजिक सुरक्षा संहिता में दो प्रमुख समस्या है – पंजीकरण और मौद्रिक योगदान जो उनसे उनके सामाजिक सुरक्षा लाभों के लिए अपेक्षित होंगे।
- दो या अधिक संस्थाओं के साथ काम करने वाले व्यक्ति को एक नियोक्ता चुनना होगा और उनके माध्यम से खुद को पंजीकृत करना होगा। स्व-नियोजित लोगों के मामले को छोड़कर, श्रमिकों को पंजीकरण करने के लिए नियोक्ता-कर्मचारी संबंध स्थापित करने की आवश्यकता है।
- निजी संस्थाओं द्वारा संचालित “सुविधा केंद्रों” द्वारा विभिन्न योजनाओं के तहत श्रमिकों को पंजीकृत करने की भूमिका को संभालने की संभावना है। सरकार अनिवार्य रूप से निजी संस्थाओं/कंपनियों के लिए सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए तैयारी कर रही है।
- निजी संस्थाओं/कंपनियों को आधार डेटा तक पहुंच मिलेगी, क्योंकि लाभ प्राप्त करने के लिए आधार लिंगेज अनिवार्य है।
- मजदूरों को अपने मासिक वेतन का 12.5 प्रतिशत और 20 प्रतिशत के बीच योगदान करना होगा, अगर वे निम्न/न्यूनतम मजदूरी आय वर्ग से संबंधित नहीं है। सवाल यह है कि रिक्शा चालक, फेरीवाले जैसे स्व-नियोजित लोग अपनी आय का 20 प्रतिशत सामाजिक सुरक्षा के लिए कैसे देंगे? न्यूनतम मजदूरी से कम कमाने वालों को सामाजिक सुरक्षा में योगदान देने से छूट दी गई है। लेकिन लाभ उठाने के लिए श्रमिकों को समय-समय पर अपनी आय और रोजगार के विस्तृत विवरण प्रस्तुत करने होते हैं। लेकिन न्यूनतम वेतन से नीचे वाले श्रमिकों के मामले में जो स्वयं नियोजित नहीं हैं, कोन सा नियोक्ता यह वेतन पर्ची प्रदान करेगा कि वे अपने कर्मचारी को न्यूनतम वेतन का भुगतान नहीं कर रहे हैं? ये अत्यधिक बहिष्करणीय मानदंड हैं, क्योंकि सामाजिक सुरक्षा के लिए श्रमिक की पात्रता साबित करने का दायित्व कर्मचारियों पर होगा।
- यह एक बहुत ही नौकरशाही संरचना बनाने की सोच है।
- सबसे चिंताजनक पहलुओं में एक यह है कि संहिता यह निर्दिष्ट नहीं करती है कि इन 15 विधानों के तहत सभी लाभ अभी भी इस नए संहिता के तहत उपलब्ध होंगे या नहीं।
- धन की निकासी सम्बन्धी शंकाएं।

- ईएसआई योजना प्राथमिक, माध्यमिक और तृतीयक स्वास्थ्य देखभाल के लिए सेवा प्रदान करती है, जिसमें पूरे देश में अपने अस्पतालों और डिस्पेंसरी नेटवर्क के माध्यम से सुपर-स्पेशिएलिटी उपचार तक शामिल है। इसके अलावा अन्य अस्पतालों के साथ टाई-अप व्यवस्था भी है। ईएसआई पंजीकृत श्रमिकों को सात प्रकार के नकद लाभ भी प्रदान करता है। सामाजिक सुरक्षा संहिता में यह साफ नहीं है कि क्या ईपीएफ, ईएसआई और सीएमपीएफ के तहत समान लाभ उनके विलय के बाद भी जारी रहेगा।
- जहां तक राष्ट्रीय परिषद में प्रतिनिधित्व का सवाल है, संहिता कर्मचारी संगठनों के केवल दो प्रतिनिधियों को अनुमति देता है, वह भी केंद्र सरकार द्वारा मनोनीत। वर्तमान में, छह केंद्रीय ट्रेड यूनियनों को ईपीएफ संगठन या ईएसआई निगम के केंद्रीय न्यासी मंडल में श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करने की अनुमति है।



## सोशल सिक्योरिटी कोड, 2019 पर महिला किसान अधिकार मंच (मकाम) की प्रतिक्रिया

महिलाएं कठोर श्रम करती हैं और दिन-रात काम में लगी रहती हैं। वे घर के भीतर भी काम करती हैं और बाहर भी काम करती हैं। उनका काम उत्पादक होता है और राष्ट्रीय जीडीपी में महत्वपूर्ण योगदान देता है। इसके बावजूद उनके कामों को बहुधा "उत्पादक श्रम" का दर्जा भी नहीं दिया जाता है। मगर ये श्रम परिवार के भरण-पोषण और बेहतर जिंदगी की उम्मीदों के लिए बहुत महत्वपूर्ण होता है। औरतें उजरती और गैर-उजरती, दोनों तरह का काम करती हैं। वे खेती, मेन्युफैक्चरिंग, निर्माण, सेवा, अर्थव्यवस्था के सारे क्षेत्रों में उजरती यानी तनखाह पर किए जाने वाले काम करती हैं। मजदूरों की श्रेणी में गिनी जाने वाली ज्यादातर महिलाएं ग्रामीण कृषि क्षेत्र में मजदूरी कर रही हैं।

मजदूरों की सारी श्रेणियों में महिलाएं बड़ी संख्या में दिखाई देती हैं। चाहे पक्के मजदूर हों, दिहाड़ी मजदूर हों, स्वरोजगारी मजदूर हों, गैर-उजरती हेल्पर हों, हर श्रेणी में महिलाओं की तादाद बहुत ज्यादा है। ऊपर से एक ही महिला अलग-अलग अवसरों पर दिहाड़ी खेत मजदूर, पशुपालक, 'स्वरोजगारयुक्त' मजदूर, परिवार के खेतों में काम करने वाली स्वरोजगारी गैर-उजरती मजदूर, नियमित घरेलू कामगार, घरखाता मेन्युफैक्चरिंग ठेका मजदूर, निर्माण मजदूर आदि बहुत सारी भूमिकाएं भी निभाती रहती हैं। बहुत सारी ग्रामीण महिलाएं हर रोज कई तरह के उत्पादक कार्य करती हैं। वे ईंधन के लिए लकड़ी जुटाती हैं, मवेशियों की देखभाल करती हैं, पारिवारिक उद्यमों में हाथ बंटाती हैं, घर के खेतों में काम करती हैं या तनखाह के लिए दूसरों के खेतों में मजदूरी करती हैं और कटाई के बाद घर में अनाज को संभालने का काम करती हैं। दुर्भाग्यवश, व्यवहार के धरातल पर महिलाओं के काम के इस सतत मगर लचीले स्वरूप से उनको फायदे की बजाय नुकसान होता है। इस विविधता का परिणाम ये होता है कि उनके काम को "ओझल", "अस्थायी" और "अनिश्चित" कहकर हाशिए पर धकेल दिया जाता है। उन्हें मजदूर के रूप में अधिकार नहीं दिए जाते।

कई महिला संगठन महिलाओं को मजदूर के रूप में अधिकार दिलाने के लिए संघर्ष छेड़े हुए हैं। मकाम भी नागरिक और मजदूर के तौर पर महिलाओं को अधिकार दिलाने के लिए ग्रामीण महिलाओं के बीच काम कर रहा है।

सोशल सिक्योरिटी कोड के मसौदे पर मकाम का पोजीशन संगठन के तीन केंद्रीय सिद्धांतों पर आधारित है। इनमें से पहला सिद्धांत "श्रम" की जेंडर आधारित, गैर-मौद्रिक और पारिस्थितिकीय समझदारी पर आधारित है जिसका जोर इस बात पर है कि "सभी ग्रामीण महिलाएं मजदूर हैं।" दूसरा सिद्धांत 'राष्ट्रीय कृषक नीति 2007' के आधार पर तैयार की गई किसानों की एक समावेशी परिभाषा पर आधारित है जिसमें महिला किसानों को भी 'किसान' के रूप में मान्यता दी गई है। इन महिला किसानों में जमीन की मालकिन महिलाएं और दूसरों के खेतों पर काम करने वाली, दोनों प्रकार की महिलाएं शामिल हैं। दूसरों के खेतों पर काम करने वाली महिलाओं में पट्टेदार किसान महिलाएं, पशुपालन करने

वाली महिलाएं, मछुवारिन और जंगलों पर आश्रित महिलाएं भी शामिल हैं। तीसरा सिद्धांत ये है कि सामाजिक सुरक्षा सभी मनुष्यों का मानवाधिकार है और लिहाजा सभी को इसके दायरे में लाया जाना चाहिए। यह अधिकार मजदूरों सहित सभी महिला किसानों को एक व्यक्तिगत अधिकार के रूप में हासिल होना चाहिए।

**सोशल सिक््योरिटी कोड 2019 का ड्राफ्ट (आगे से 'डीसीएसएस 2019') इन तीनों कसौटियों पर महिलाओं के हितों को नुकसान पहुंचाता है :**

1. डीसीएसएस 2019 से बहिष्करण स्वीकार नहीं किया जा सकता – श्रम और श्रमिकों की परिभाषा के लिहाज से डीसीएसएस 2019 भेदभाव और बहिष्करणों पर आधारित है।

क. इसमें मजदूर को परिभाषित करने के लिए उसकी कमाई या तनखाह को कसौटी बनाया गया है। इस कसौटी के आधार पर मजदूरों की विशाल आबादी में से "कर्मचारी" के रूप में बहुत छोटे से तबके को मजदूरों के रूप में मान्यता दी गई है। इसके चलते न केवल एसएनए और एनएसएसओ की परिभाषा के अंतर्गत नहीं आने वाले गैर-उजरती मजदूरों को सामाजिक सुरक्षा के अधिकार से वंचित कर दिया गया है बल्कि उन गैर-उजरती मजदूरों को भी बाहर रख दिया गया है जो श्रमिकों की एसएनए और एनएसएसओ की परिभाषा के भीतर आते हैं। ड्राफ्ट कोड की इस परिभाषा से ग्रामीण महिलाओं के लिए बहुत हानिकारक नतीजे पैदा होंगे और वे सामाजिक सुरक्षा लाभों के लिए दावा नहीं कर पाएंगी।

- गैर-उजरती सहायक-ऐसेमजदूर जो पारिवारिक खेतों और/या पारिवारिक व्यवसायों में काम करते हैं – ऐसे मजदूर भी "कर्मचारी" की परिभाषा पर खरे नहीं उतरते और लिहाजा उन्हें भी सामाजिक सुरक्षा लाभों के लिए पंजीकरण का अधिकार नहीं मिलेगा।
- खाने की चीजें बनाने वाली महिलाओं, घास, खाद्य पदार्थ एवं ईंधन इकट्ठा करने वाली महिलाओं को भी बाहर रखा गया है।
- कपड़ों की सिलाई, बावर्चिन, कटाई के बाद प्रोसेसिंग, घरेलू उपभोग के लिए बाजार वस्तुओं के मूल्य संवर्धन आदि कामों के जरिए घर में गैर-उजरती योगदान देने वाली महिलाओं को भी इसका लाभ नहीं मिलेगा। हाल के अध्ययनों से पता चलता है कि ताजा अतीत में डब्ल्यूएफपीआर में जो गिरावट आई है वह उजरती आय की संभावनाओं के अभाव और सीमित आमदनी की वजह से घर के लिए भोजन और अन्य उपभोग वस्तुएं तैयार करने में महिलाओं द्वारा दिए जाने वाले इस गैर-उजरती श्रम की वजह से आई है।

ख. डीसीएसएस 2019 में स्वरोजगारी महिलाओं को भी मजदूर की परिभाषा से बाहर रखा गया है क्योंकि ऐसी बहुत सारी महिलाएं स्वरोजगार से न्यूनतम आय अर्जित नहीं कर पाती जिसके आधार पर उन्हें 'मजदूर' की श्रेणी में रखा जाए। चूंकि स्वरोजगार में लगी ग्रामीण महिलाएं इस तरह की मजदूरों में सबसे निचले पायदान पर आती हैं, वे बहुत ही मामूली आय कमा पाती हैं इसलिए घरखाता कामों और स्थानीय समुदाय व मोहल्ले के अन्य व्यवसायों में काम करने वाली बहुत सारी महिलाएं भी मजदूर की परिभाषा पर खरी नहीं उतर पाएंगी

और फलस्वरूप उन्हें भी सामाजिक सुरक्षा के लाभ नहीं मिल पाएंगे।

ग. डीसीएसएस 2019 में ग्रामीण महिला मजदूरों को "मजदूर" की श्रेणी से बाहर रखने वाला एक और प्रावधान ये है कि मजदूर केवल उसी को माना जाएगा जिसे किसी मालिक या ठेकेदार से तनखाह मिलती है।

- हमारे देश में अनौपचारिक अर्थव्यवस्था में मालिक-कर्मचारी का संबंध प्रायः बहुत धुंधला होता है और 92 प्रतिशत महिला मजदूर अनौपचारिक अर्थव्यवस्था में ही काम करती हैं। लिहाजा सामाजिक सुरक्षा लाभ प्रदान करने के लिए नियोक्ता-कर्मचारी के इस संबंध पर जो जोर दिया जा रहा है वह अनौपचारिक क्षेत्र की महिलाओं के खिलाफ जाता है और उन्हें मजदूर के तौर पर सामाजिक सुरक्षा के जो लाभ मिलने चाहिए, वह अधिकार उनसे छीन लेता है।
- ग्रामीण महिलाएं खेती में और खेतों के बाहर भी अस्थायी तौर पर काम करती हैं। यानी उनका काम घटता-बढ़ता रहता है, उन्हें अलग-अलग तरह के काम करने पड़ते हैं और समय-समय पर बहुत सारे मालिकों के साथ काम करना पड़ता है। उदाहरण के लिए, महिला मजदूरों में सबसे बड़ी संख्या महिला खेत मजदूरों की है (2010-11 में 65.1 प्रतिशत), मगर उन्हें कई-कई मालिकों के तहत काम करना पड़ता है। वे समय-समय पर निर्माण कार्यों, घरखाता मैनुफेक्चरिंग और नरेगा जैसे गैर-कृषि कार्यों में भी मजदूरी करती रहती हैं।
- इसके अलावा, ग्रामीण महिलाएं दर्जी, अध्यापिका, बावर्ची, ब्यूटीशियन, अचार-मुरब्बे बनाना, कढ़ाई, दस्तकारी, घरेलू साज-सज्जा, फेरी आदि काम भी करती हैं जिनमें कोई मालिक-कर्मचारी संबंध होता ही नहीं है। ना ही ऐसे कामों में उन्हें स्वरोजगार के तौर पर नियमित आमदनी मिल पाती है। ऐसे में मौजूदा मसविदे के हिसाब से इन महिला मजदूरों को भी कोई सामाजिक सुरक्षा लाभ नहीं मिल पाएंगे।

2. प्राथमिक जिम्मेदारी सरकार की होनी चाहिए – डीसीएसएस 2019 में सामाजिक सुरक्षा लाभ प्रदान करने की आर्थिक जिम्मेदारी सरकार या राज्य के ऊपर नहीं डाली गई है। इसमें सरकार को इस बात के लिए बाध्य नहीं किया गया है कि वह सामाजिक सुरक्षा लाभों के लिए किसी तरह का अंशदान दे। दूसरी तरफ, सामाजिक सुरक्षा लाभों के लिए मालिकों की तरफ से अंशदान की अनिवार्यता भी स्पष्ट रूप से नहीं बताई गई है। मगर हमारा मानना है मालिकों की तरफ से सामाजिक सुरक्षा उपकरण का भुगतान सुनिश्चित करना सरकार की जिम्मेदारी होनी चाहिए। मौजूदा कोड में अनौपचारिक अर्थव्यवस्था में महिला किसानों के सामने मालिक-कर्मचारी संबंधों की अस्पष्टता को रेखांकित नहीं किया गया है और न ही मालिकों से उनका अंशदान वसूल करने में पेश आने वाली मुश्किलों पर गौर किया गया है।

3. डीसीएसएस में मजदूरों को सामाजिक सुरक्षा लाभ प्रदान करने का प्रावधान कर्मचारियों के अंशदान के साथ बांध दिया गया है – मगर सरकार इस बात पर ध्यान नहीं दे पाई है कि अनौपचारिक मजदूरों, खासतौर से महिला मजदूरों की 'अस्थायी रोजगार और अस्थिर आमदनी अथवा गैर-उजरती मजदूरी' के हालात में वे अपना अंशदान कहां से जमा करा

पाएंगी। इस बात पर भी ध्यान नहीं दिया गया है कि अनौपचारिक क्षेत्र में प्रत्येक कर्मचारी और मजदूर के एक से अधिक मालिक होते हैं और वे लगातार बदलते रहते हैं। कोड इस महत्वपूर्ण बिंदु को नजरअंदाज कर देता है कि महिला मजदूर पर्याप्त आय अर्जित नहीं कर पातीं और लिहाजा मुश्किल से ही अपने परिवार का पेट भर पाती हैं इसलिए उन्हें सामाजिक सुरक्षा की सबसे ज्यादा जरूरत है। यह सरकार की संवैधानिक जिम्मेदारी है कि वह अपनी महिला नागरिक मजदूरों के अधिकारों की सुरक्षा करे। सरकार अपने खजाने में बचत या "भारत को पूंजी निवेश के लिए अनुकूल बनाने" के नाम पर अपनी जिम्मेदारी से पीछे नहीं हट सकती और इन महिला मजदूरों के अधिकारों को नकार नहीं सकती। ग्रामीण महिलाओं के प्रति सरकार का अपनी जिम्मेदारियों से भागना अक्षम्य है।

**4. सामाजिक सुरक्षा के लिए अधिकार आधारित रवैया अपनाया जाए –** डीसीएसएस 2019 में सामाजिक सुरक्षा लाभों के बारे में जो रवैया अपनाया गया है वह कई लिहाज से समस्याप्रद है

- पहली समस्या ये है कि इसमें सामाजिक सुरक्षा लाभों को अधिकार के रूप में नहीं बल्कि एक योजना के आधार पर लागू करने की बात की जा रही है।
- असंगठित मजदूरों के लिए कोई समेकित और/या समग्र योजना पेश नहीं की गई है। केंद्र सरकार ने अपनी जिम्मेदारी को सामाजिक सुरक्षा के केवल तीन पहलुओं तक सीमित कर लिया है – जीवन और विकलांगता कवर, स्वास्थ्य एवं मातृत्व लाभ और वृद्धावस्था सहायता। इस प्रकार, सरकार ने आईएलओ सिफारिश संख्या 202 (2012) में गिनाये गए सामाजिक सुरक्षा के कई पहलुओं को सिरे से नकार दिया है जबकि भारत सरकार भी इस समझौते पर हस्ताक्षर कर चुकी है। आईएलओ सिफारिश संख्या 202 में सामाजिक सुरक्षा के नौ मद गिनाए गए हैं जो इस प्रकार हैं: चिकित्सकीय देखभाल, बीमारी लाभ, बेरोजगारी लाभ, वृद्धावस्था लाभ, पेशेगत चोट संबंधी लाभ, पारिवारिक लाभ, प्रसूति लाभ, अक्षमता लाभ, और सरवाइवर/उत्तरजीविता लाभ। हमारा मानना है कि इन नौ मदों के साथ-साथ शारीरिक सुरक्षा को भी सामाजिक सुरक्षा अधिकारों के दायरे में लाया जाना चाहिए।
- महिला खेत मजदूर कई तरह की बीमारियों और शारीरिक परेशानियों से भी गुजरती है। खेती में इस्तेमाल होने वाले कृत्रिम कीटनाशकों के छिड़काव, रोपाई और खर-पतवार निकालने जैसी गतिविधियों की वजह से उन्हें कई बार दुर्घटनाओं, बीमारियों या चोट का सामना करना पड़ता है। कहने का मतलब ये है कि "शारीरिक सुरक्षा" के सवाल को संबोधित करना भी जरूरी है और इसके लिए बीमारी लाभ और चोट संबंधी लाभों के दायरे को फैलाया जाना चाहिए ताकि खेती में काम करने की वजह से हुई तात्कालिक या दीर्घकालिक बीमारियों को भी सामाजिक सुरक्षा लाभों के दायरे में लाया जा सके। सामाजिक सुरक्षा की मौजूदा समझदारी के दायरे में अभी यह बात शामिल नहीं है। सामाजिक सुरक्षा में न केवल चोट संबंधी लाभों को शामिल किया जाना चाहिए बल्कि महिला खेत मजदूरों को बंध्यता, माहवारी संबंधी समस्याओं, स्त्रीरोग संबंधी समस्याओं

आदि के लिए भी स्वास्थ्य लाभ और मुआवजा मिलना चाहिए।

- डीसीएसएस 2019 में अधिसूचित योजनाओं में जो लाभ गिनाये गए हैं वे छोटे-छोटे हैं और समरूप नहीं हैं। उनके लिए तरह-तरह की कसौटियों के आधार पर अलग-अलग जगह आवेदन देना होगा। जननी सुरक्षा योजना जैसी कई योजनाओं में महिला किसानों और मजदूरों को असंगठित मजदूरों के रूप में पात्रता मिलने के बावजूद इनके दायरे से बाहर रखा गया है। यह बात प्रत्येक व्यक्ति को सार्वभौमिक अधिकार के रूप में सर्वग्राही सामाजिक सुरक्षा कवरेज प्रदान करने के बारे में मकाम चार्टर में उल्लिखित मांग के खिलाफ है।

5. स्वास्थ्य, प्रसूति लाभ और बालवाड़ी को अधिकार का दर्जा दिया जाए और ये अधिकार सभी मजदूरों को दिए जाएं – डीसीएसएस 2019 में असंगठित महिला मजदूरों के लिए स्वास्थ्य एवं प्रसूति लाभों का केवल अधिसूचित योजना – जननी सुरक्षा योजना – में ही उल्लेख किया गया है। हमारा मानना है कि प्रसूति लाभ (संशोधन) कानून 2016 में असंगठित मजदूरों को भी शामिल किया जाना चाहिए। प्रसूति लाभ के प्रावधानों में बालवाड़ी का भी प्रावधान शामिल किया जाना चाहिए। इसके आधार पर प्रसूति लाभ एवं बालवाड़ी अधिनियम के रूप में नया कानून बनाया जाए जिसके लिए केंद्र सरकार निश्चित अनुदान जारी करे और ये सारे अनुदान इन प्रावधानों को गांवों के स्तर पर लागू करने के लिए पंचायती राज संस्थानों को सौंपे जाएं (नोट: न तो एनएसएस और न ही प्रसूति लाभ (संशोधन) कानून के तहत चलने वाली योजनाओं को यहां अधिसूचित योजनाओं या अधिनियमों में शामिल किया गया है)।

6. डीसीएसएस 2019 में असंगठित मजदूरों के लिए एकीकृत राष्ट्रीय सामाजिक सुरक्षा बोर्ड के गठन का प्रस्ताव रखा गया है। राज्य स्तर पर राज्य सामाजिक सुरक्षा बोर्ड के गठन का भी प्रस्ताव रखा गया है। इन बोर्डों की सदस्यता और उनके चयन की प्रक्रिया में मजदूरों, खासतौर से महिला मजदूरों के अधिकारों की रक्षा का प्रावधान नहीं किया गया है। इसमें त्रिपक्षीय सहभागिता के सिद्धांत का भी सम्मान नहीं किया गया है और लिहाजा मालिकों और कर्मचारियों/मजदूरों के बीच असमानता की संरचनात्मक व्यवस्था को पुख्ता करते हुए यह व्यवस्था मजदूरों के अधिकारों को और चोट पहुंचाएगी।

- 34 सदस्यों में मजदूरों का प्रतिनिधित्व करने वाले सदस्यों की संख्या सिर्फ 7 होगी और ये सदस्य भी यूनियनों या मजदूरों के किसी संगठन के प्रतिनिधि हों, ऐसा अनिवार्य नहीं होगा। मजदूरों या मालिकों में से क्षेत्रवार प्रतिनिधित्व के लिए अनुपात का सिद्धांत भी नहीं रखा गया है। इसके चलते महिला मजदूरों और मध्य महिला किसानों के अधिकारों को इस राष्ट्रीय बोर्ड में शायद किसी तरह का प्रतिनिधित्व न मिल पाए। सरकार को गौर करना चाहिए कि सारे खेत मजदूरों में महिला खेत मजदूरों की संख्या 65 प्रतिशत से ज्यादा बैठती है इसलिए बोर्ड में उन्हें सही अनुपात में प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए।
- इस बोर्ड में जो सात सदस्य नागर समाज से चुने जाएंगे, उनके लिए भी श्रम या सामाजिक सुरक्षा के मुद्दों से जुड़े होना जरूरी नहीं होगा। इस बात का जिक्र तो किया

गया है कि बोर्ड में महिलाओं और वंचित समूहों का कुछ प्रतिनिधित्व होना चाहिए मगर बोर्ड में इन सामाजिक समूहों से आने वाले मजदूरों के प्रतिनिधियों के लिए किसी आरक्षण का कोई प्रावधान नहीं किया गया है। राष्ट्रीय एवं प्रादेशिक बोर्डों में ग्रामीण इलाकों के महिला किसान संगठनों से प्रतिनिधि चयन या चुनाव की कोई व्यवस्था तय नहीं की गई है।

7. डीसीएसएस 2019 में सुझाव दिया गया है कि योग्य असंगठित क्षेत्र मजदूरों के स्वपंजीकरण के लिए वर्कर फेसिलिटेशन सेंटर खोले जाएंगे और केंद्र सरकार ने इन सेंटरों की स्थापना और संचालन की जिम्मेदारी राज्य सरकारों को सौंपने की बात कही है। केंद्र सरकार ने न केवल इस जिम्मेदारी से पल्ला झाड़ लिया है बल्कि शासन के किसी भी स्तर पर एक भी संस्थान को इसकी जिम्मेदारी नहीं दी है कि वह असंगठित क्षेत्र मजदूरों को इस प्रकार की सूचनाएं दे। केंद्र सरकार को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि वन निगम, जो कि लोगों को वन उपज के लिए भुगतान करता है, ग्रामीण विकास और पंचायती राज मंत्रालय, जिसके पास स्वयं सहायता समूहों और विभिन्न योजनाओं के लाभान्वितों की सूचना होती है, और नाबार्ड व सिडबी जैसे संस्थान जो कि मजदूरों को ऋण एवं अन्य सहायता मुहैया कराते हैं, वे अपने डेटाबेस में दर्ज सभी मजदूरों को खुद पंजीकरण दें।

8. स्व-पंजीकरण का अब तक का इतिहास बताता है कि ऐसी स्थिति में बहुत सारे योग्य लाभार्थी भी योजना से बाहर छूट जाते हैं। महिलाओं के मामले में यह समस्या सबसे विकराल दिखायी देती है। लिहाजा, ये जरूरी हो जाता है कि कोड में असंगठित मजदूरों, खासतौर से महिला मजदूरों तक पहुंचने के लिए एक व्यापक अभियान चलाया जाए जिससे लोगों में एक जागरूकता पैदा हो और मजदूर अपना पंजीकरण करा सकें। गौरतलब है कि नरेगा के बारे में सरकारी प्रचार बेहद सफल रहा है और इसके लिए नरेगा प्रचार अभियान को एक मॉडल के तौर पर देखा जा सकता है।

9. महिला किसानों और मजदूरों की रक्षा, सुरक्षा और शारीरिक कुशलक्षेम

- कार्यस्थलों और सार्वजनिक स्थानों पर महिला मजदूरों के खिलाफ अकसर और बड़े पैमाने पर हिंसा होती है। गहरे भेदभावों को बढ़ावा देने वाले जेंडर आधारित तौर-तरीके हमारे सरकारी संस्थानों में भी पैठ बना चुके हैं। खेत मजदूरों में से बहुत बड़ी संख्या ऐसे मजदूरों की होती है जो हाशियाई आदिवासी और दलित परिवारों से आते हैं। ऐसे में कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न की रोकथाम के लिए स्थानीय स्तर पर शिकायत और जांच समितियों के गठन का कानूनी प्रावधान न होना उनके साथ होने वाली हिंसा को रोकने के प्रति शासकीय उदासीनता का उदाहरण है।
- गन्ना कटाई जैसे कई क्षेत्रों में महिला मजदूर तरह-तरह की शारीरिक चोटों का सामना करती हैं। इस तरह की बहुत सारी मजदूरों की कम उम्र में ही नसबंदी तक करा दी जाती है ताकि उनसे लगातार काम कराया जा सके।
- यह कोड महिला मजदूरों, खासतौर से महिला किसानों को प्रभावित करने वाले किसी भी तरह के विशेष उपायों पर पूरी तरह खामोश दिखाई देता है। कोड में इन सारे

उपायों पर समग्र रूप से बात की जानी चाहिए। इसी तरह एकल महिला किसान और खुदकुशी कर चुके किसानों के परिवारों की महिलाएं भी सबसे नाजुक स्थिति में होती हैं और उनके लिए भी अतिरिक्त विशेष प्रावधान किए जाने चाहिए। काम मांग करता है कि इस कोड को पारित करने की दिशा में कोई भी कदम उठाने से पहले सरकार को महिला किसानों और मजदूरों से लाजिमी तौर पर बात करनी चाहिए जो कि महिला मजदूरों का सबसे बड़ा समूह है।



ISBN 81-88160-29-6

सेंटर फॉर एजुकेशन एंड कम्युनिकेशन (सीईसी)  
173-ए, खिड़की गांव, मालवीय नगर, नयी दिल्ली-110017  
फोन- + 91 11 29541858 + 91 11 29541841  
ई मेल: [cec@cec-india.org](mailto:cec@cec-india.org)  
वेबसाइट: [www.cec-india.org](http://www.cec-india.org)

